अंक 1, अप्रैल-जून 2013, 100 रुपये

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध और विमर्श का मंच

"सबसे निकृष्ट अशिक्षित व्यक्ति वह होता है जो राजनीतिक रूप से अशिक्षित होता है। वह सुनता नहीं, बोलता नहीं, राजनीतिक सरगर्मियों में हिस्सा नहीं लेता। वह नहीं जानता कि ज़िन्दगी की क़ीमत, सब्ज़ियों, मछली, आटा, जूते और दवाओं के दाम तथा मक़ान का किराया–यह सब कुछ राजनीतिक फैसलों पर निर्भर करता है। राजनीतिक अशिक्षित व्यक्ति इतना घामड़ होता है कि इस बात पर घमण्ड करता है और छाती फुलाकर कहता है कि वह राजनीति से नफ़रत करता है। वह कूढ़मगज़ नहीं जानता कि उसकी राजनीतिक अज्ञानता एक वेश्या, एक परित्यक्त बच्चे और चोरों में सबसे बुरे चोर – एक बुरे राजनीतिज्ञ को जन्म देती है जो भ्रष्ट तथा राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का टुकड़खोर चाकर होता है।"

– बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

(जर्मन चिन्तक, कवि, नाटककार)

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

1

अप्रैल–जून, 2013

1

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

मार्च–जून 2013

सम्पादक

कात्यायनी / सत्यम

कला : **रामबाबू**

सम्पादकीय सम्पर्क :
69 ए-1, बाबा का पुरवा
पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226020
फ़ोन : 9936650658 / 8853093555

ईमेल : dishasandhaan@gmail.com

कम्पोज़िंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुद्रण : प्रकाश पैकेजर्स, गोलागंज, लखनऊ

प्रति अंक : 100 रुपये

वार्षिक सदस्यताः 400 रुपये (डाकखर्च सहित)

आजीवन सदस्यता : 5000 रुपये

आवर्तिता : त्रैमासिक

कृपया अपना शुल्क **'दिशा सन्धान'** (Disha Sandhan) के नाम से मनीऑर्डर/ड्राफ़्ट/चेक से भिजवायें। बाहरी चेक में कृपया 50 रुपये बैंक शुल्क अतिरिक्त जोड़कर भेजें। मनीऑर्डर के साथ अपना पूरा पता लिखना न भूलें। आप नीचे दिये गये बैंक खाते में भी राशि जमा कर सकते हैं। राशि जमा करने के बाद हमें उसका ब्योरा और अपना पूरा पता ज़रूर बता दें।
चालू खाता सं. 0762002109003644
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ,
आईएफ़एससी कोडः PUNB0076200

●

संपादन-संचालन पूर्णतः अवैतनिक और अव्यावसायिक

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित तथा प्रकाश पैकेजर्स, गोलागंज, लखनऊ द्वारा मुद्रित

इस अंक में

सम्पादकीय की एवज़ में

'दिशा सन्धान' क्यों ? **4**

विशेष लेख

सोवियत समाजवाद के अनुभवः इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ — अभिनव सिन्हा **7**

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशक : एक सिंहावलोकन — *दीपायन बोस* **153**

अर्थजगत

भारत में नवउदारवाद के दो दशक — *सुखविन्दर* **115**

पुस्तक समीक्षा

'ख़तरनाक ढंग से सपने देखने' और निष्क्रिय, नुकसानदेह और नामुराद सैद्धान्तिकीकरण का वर्ष — *अभिनव सिन्हा* **215**

समकालीन

आधुनिक यूनानी त्रासदी के त्रासद नायक के विरोधाभास — *सत्यम* **229**

दिल्ली सामूहिक बलात्कार काण्ड, जस्टिस वर्मा समिति की रिपोर्ट और सरकार का अपराध कानून (संशोधन) अध्यादेश, 2013 — *कात्यायनी* **240**

अ़फज़ल गुरू को फाँसीः बुर्जुआ "राष्ट्र" के सामूहिक अन्तःकरण की तुष्टि के लिए न्याय को तिलांजलि — *शिवानी* **248**

खाद्य सुरक्षा के नाम पर जनता के लिए खाद्य असुरक्षा पैदा करने की तैयारी — *तपीश मैन्दोला* **253**

सम्पादकीय
की एवज़ में

'दिशा सन्धान' क्यों?

हम 'दिशा सन्धान' के पहले अंक के साथ आपके बीच हैं। जैसा कि हमने पत्रिका से पहले जारी किये गये परिपत्र में बताया था, 'दिशा सन्धान' कई मायनों में उसी परियोजना की निरन्तरता में है, जो हमने करीब दो दशक पहले 'दायित्वबोध' के साथ शुरू की थी। कुछ वर्ष पहले कुछ बाध्यताओं के कारण 'दायित्वबोध' का प्रकाशन रुक गया था। उसके बाद से ही हम गम्भीर सैद्धान्तिक मुद्दों पर केन्द्रित एक नयी पत्रिका के प्रकाशन की आवश्यकता महसूस कर रहे थे और कुछ देर से सही लेकिन हम इस नयी पत्रिका के पहले अंक के साथ प्रस्तुत हैं।

निरन्तरता के बावजूद कुछ अर्थों में 'दिशा सन्धान' का स्वरूप और उद्देश्य थोड़े ज़्यादा व्यापक, ज़्यादा गम्भीर और ज़्यादा बहुआयामी हैं। इसका एक प्रमुख कारण पिछले दशक के दौरान दुनिया में हो रहे बदलाव हैं। 1990 में सोवियत संघ में नकली लाल झण्डे के गिरने के साथ शुरू हुआ पूँजीवादी विजयवाद समाप्त हो चुका है। विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का संकट नयी सहस्राब्दि के शुरू होने से पहले ही गम्भीर रूप लेना शुरू कर चुका था और 2007 में अमेरिका में शुरू हुए सबप्राइम संकट के साथ इसने 1930 के दशक की महामन्दी के बाद सबसे बड़ी मन्दी का रूप ग्रहण कर लिया है। आज अधिकांश प्रेक्षक इस बात पर एकमत हैं कि 'दूसरी महामन्दी' कई मायनों में पहली महामन्दी से ज़्यादा संरचनागत है और इसके बाद किसी तेज़ी (बूम) का दौर नहीं आने वाला है। ज़्यादा से ज़्यादा कुछ समय के लिए मन्दी के प्रभावों को कुछ कम किया जा सकता है, जो कि अगले चक्र में और ज़्यादा भयंकर होकर उभरते हैं। हमेशा की तरह पूँजीपति वर्ग अपने मुनाफ़े की हवस से पैदा होने वाली मन्दी का बोझ आम मेहनतकश जनता के कन्धों पर डाल रहा

है। आम मेहनतकश जनता भी इस ज़्यादती के ख़िलाफ़ दुनिया भर में सड़कों पर उतर रही है। जनान्दोलनों में छाया हुआ सन्नाटा भी टूट रहा है। अरब विश्व से लेकर, यूनान, स्पेन, इटली, अमेरिका और बंगलादेश तक में जनता सड़कों पर स्वत:स्फूर्त रूप से उतर रही है। आज की स्थिति का एक पहलू विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का गहराता संकट और जनता के स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलनों का फूटना है।

लेकिन एक दूसरा पहलू भी है, जो कि मौजूदा स्थिति को विशिष्ट बनाता है। जनता दुनिया भर में स्वयंस्फूर्त रूप से सड़कों पर उतर रही है क्योंकि उसके सब्र का प्याला छलक रहा है, लेकिन यह भी सच है कि इन स्वत:स्फूर्त जनउभारों को एक सही क्रान्तिकारी दिशा देने वाली हिरावल ताक़त आज किसी देश में मौजूद नहीं है। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन दुनिया भर में बिखरा हुआ है। पूँजीवाद अपने ढाँचागत संकटों के बावजूद मार्क्सवाद पर अपने वैचारिक-सांस्कृतिक हमले जारी रखे हुए है। दुनिया और देश के पैमाने पर अधिकांश कम्युनिस्ट ताक़तों के बीच या तो कठमुल्लावाद की प्रवृत्ति गहरायी से जड़ जमाये हुए है, या फिर धुरीविहीन "मुक्त-चिन्तन" और सारसंग्रहवाद की रुझान हावी है। कुछ लोग पुरानी क्रान्तियों से आलोचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हुए नयी सदी के क्रान्तिकारी प्रयोग के विभिन्न आयामों को समझने की बजाय, उनका अन्धानुकरण करने पर आमादा हैं, तो कुछ अन्य लोग पुरानी क्रान्तियों के आलोचनात्मक विवेचन के बिना ही उन्हें ख़ारिज कर देने, और शून्य से नयी शुरुआत करने के मंसूबे बाँधे हुए हैं। इन दोनों रुझानों में साझा बात यह है कि दोनों ही बीसवीं सदी के महान समाजवादी प्रयोगों से किसी भी किस्म का आलोचनात्मक रिश्ता कायम नहीं करना चाहतीं। ऐसे में, कम्युनिस्ट आन्दोलन दुनिया भर में विचारधारात्मक, राजनीतिक और कार्यक्रम-सम्बन्धी मसलों पर बौद्धिक तौर पर विभ्रम का शिकार है। यही कारण है कि अधिकांश हालिया जनान्दोलनों में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों का प्रभाव पर्याप्त नहीं रहा। उनकी बजाय अराजकतावाद, संघाधिपत्यवाद और ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादी धाराओं का प्रभाव इन आन्दोलनों पर ज़्यादा था। यही इन आन्दोलनों की असफलता का कारण भी बना। मिस्र में जनता के शानदार आन्दोलन के बाद इस्लामी कट्टरपन्थी ताक़तों का सत्ता में आना, 'ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट' आन्दोलन का विसर्जित हो जाना इसी को सिद्ध करता है। हर संकट हमेशा की तरह क्रान्तिकारी और प्रतिक्रियावादी सम्भावनाओं को जन्म देता है और अगर क्रान्तिकारी हिरावल क्रान्तिकारी सम्भावना को यथार्थ में बदलने के लिए मौजूद नहीं है, तो प्रतिक्रियावादी, फासीवादी ताक़तें प्रतिक्रियावादी सम्भावना को हक़ीकत में तब्दील कर देती हैं।

आज कम्युनिस्ट आन्दोलन में जो वैचारिक विभ्रम की स्थिति बनी हुई है, उसके केन्द्र में मार्क्सवाद के कोर सिद्धान्त हैं जैसे वर्ग, पार्टी, राज्यसत्ता, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व की अवधारणाएँ। सोवियत समाजवादी प्रयोग और चीन में समाजवादी प्रयोगों के पतन के बाद जो संशयवाद कम्युनिस्ट आन्दोलन में फैला, उसका असर आज भी मौजूद हैं। इन समाजवादी प्रयोगों की कोई सुसंगत आलोचनात्मक समझदारी न होने के कारण ही अन्धानुकरणवाद और ख़ारिज कर देने के दो अतिवादी छोर कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद हैं। जो संशयवाद की लहर में बह गये हैं वे पार्टी और वर्ग अधिनायकत्व की ही अवधारणा पर प्रश्न खड़े करने लगे हैं, और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के सिद्धान्तों को ही नये शब्दों में पेश कर रहे हैं, तो कुछ ऐसे भी हैं जो संशयवाद की लहर पर अतिरेकी प्रतिक्रिया देते हुए या नये का सन्धान करने की ज़हमत से बचने के लिए सोवियत समाजवाद और चीन के समाजवादी प्रयोगों के

किसी भी आलोचनात्मक विवेचन के ख़िलाफ़ हैं। इस स्थिति के कारण ही आज कम्युनिस्ट आन्दोलन में एक वैचारिक विभ्रम और बिखराव की स्थिति बनी हुई है। इस स्थिति को दूर करने के लिए ज़रूरी है कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों का गम्भीर आलोचनात्मक विवेचन किया जाय, नयी क्रान्तियों में नये का सन्धान किया जाय और इस बात की भी निशानदेही की जाय कि बीसवीं सदी की महान और मौलिक क्रान्तियों से आज भी क्या सीखा जा सकता है; ज़रूरी है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त के कोर तत्वों की हिफ़ाज़त की जाय और इस बात को मज़बूती के साथ स्थापित किया जाय कि नये के सन्धान का अर्थ नयी सदी की क्रान्तियों की रणनीति और आम रणकौशल में नये का सन्धान है, न कि मार्क्सवादी सिद्धान्त के मूलभूत और बुनियादी तत्वों को तिलांजलि दे देना; विश्व का कम्युनिस्ट आन्दोलन पहले भी ऐसे "मुक्त-चिन्तन" की पर्याप्त कीमत अदा कर चुका है और अब इस बाबत एक विचारधारात्मक संजीदगी की ज़रूरत है। इसके लिए इन सभी मुद्दों को सभी पूर्वाग्रहों को छोड़कर, खुले दिमाग़ के साथ बहस-मुबाहसे की ज़रूरत है और 'दिशा सन्धान' का एक लक्ष्य होगा कि वह ऐसी गम्भीर सैद्धान्तिक बहसों का मंच बने और कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद वैचारिक विभ्रम और अस्पष्टता को दूर करने में योगदान करे।

इसके अतिरिक्त, मार्क्सवाद पर विचारधारात्मक हमलों का सिलसिला थमा नहीं है। यह सच है कि पूँजीवाद स्वयं अपने ढाँचागत अन्तकारी संकट से बुरी तरह से ग्रस्त है; यह भी सच है कि नब्बे के दशक के पूर्वार्द्ध का पूँजीवादी विजयवादी उन्माद शान्त हो चुका है; लेकिन यदि पूँजीवाद आज संकट का शिकार है तो कम्युनिस्ट आन्दोलन भी आज बिखराव और वैचारिक विभ्रम का शिकार है। ऐसे में, पूँजीवाद के प्रचार तन्त्र ने हिरावल को संगठित होने से रोकने के लिए अपने विचारधारात्मक और सैद्धान्तिक हमले जारी रखे हैं। अपने सांस्कृतिक माध्यमों और भाड़े के बुद्धिजीवियों का वह इसमें कुशलतापूर्ण इस्तेमाल कर रहा है। ऐसे में, आज का एक अहम कार्यभार यह भी बन जाता है कि ऐसे विचारधारात्मक हमलों के बरक्स न सिर्फ मार्क्सवाद की दृढ़ता से हिफ़ाज़त की जाय, बल्कि इन हमलों का मुँहतोड़ जवाब भी दिया जाय और दिखलाया जाय कि एक बार फिर से, इन नये हमलों में कुछ भी नया नहीं है और दरअसल पुराने बुर्जुआ सिद्धान्तों को ही नयी चाशनी में परोस दिया गया है। यह भी 'दिशा सन्धान' के लक्ष्यों में से एक होगा।

ज़िन्दा लोग ज़िन्दा सवालों पर सोचते हैं। लिहाज़ा, हमारा एक मकसद होगा पूँजीवादी समाज और व्यवस्था से जुड़ी रोज़मर्रा की घटनाओं, विशेष घटनाओं और प्रतीक घटनाओं के गम्भीर वैचारिक विश्लेषण के ज़रिये आज की मानवद्रोही व्यवस्था और समाज की सच्चाई को बेपर्द करना। 'दिशा सन्धान' में हम नियमित तौर पर समसामयिक घटनाओं पर संजीदा विश्लेषात्मक टिप्पणियाँ देंगे।

हम उम्मीद करते हैं कि हम जो लक्ष्य अपने लिए तय कर रहे हैं, उस पर अनुशासन और नियमितता के साथ और अपने द्वारा तय मानकों और पैमानों के साथ वफ़ादार बने रहते हुए अमल करने में सफल होंगे और हमें यह भी उम्मीद है कि हमारे इस प्रयास में सभी सरोकार रखने वाले पाठक, जनता का पक्ष चुनने वाले बुद्धिजीवी और राजनीतिक कार्यकर्ता भी हमारा साथ देंगे। इन उम्मीदों के साथ ही हम 'दिशा सन्धान' का प्रवेशांक आपके हाथों में थमा रहे हैं।

(20 मई 2013)

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ

● अभिनव सिन्हा

(पहली किस्त)

I. प्रस्तावना

सोवियत समाजवादी प्रयोगों की नये सिरे से व्याख्या क्यों? बहुत से समकालीन विचारक, जैसे कि नववामपन्थी व उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तक, सोवियत समाजवाद को इतिहास को हमेशा के लिए बन्द हो चुका अध्याय मानते हैं; कुछ अन्य सोवियत समाजवाद को एक दुर्गति/विपदा में समाप्त हुए प्रयोग के रूप में ख़ारिज कर देते हैं और 21वीं सदी में नये किस्म के समाजवाद/कम्युनिज़्म की बात कर रहे हैं। उनका मानना है कि सोवियत संघ के समाजवाद का ज़िक्र भर करने से नयी सदी की कम्युनिस्ट परियोजनाएँ दूषित हो जायेंगी! ऐसे सट्टेबाज़, नववामपन्थी और उत्तर-मार्क्सवादी विचारकों व दार्शनिकों को छोड़ भी दिया जाय, तो मज़दूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर ही ऐसी प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं, जो सोवियत समाजवाद के आलोचनात्मक विवेचन की ज़रूरत को नहीं मानती हैं, या फिर इसे एक हल हो चुका प्रश्न मानती हैं। जो सोवियत समाजवाद के प्रयोगों के विश्लेषण को एक हल हो चुका प्रश्न मानते हैं, उनमें दो किस्म के लोग हैं।

एक वे, जो कि मानते हैं सोवियत समाजवाद के दौरान जो ग़लतियाँ हुईं वे आकस्मिक किस्म की थीं, या इसलिए हुईं क्योंकि

समाजवादी प्रयोग का कोई उदाहरण पहले से उसके सामने मौजूद नहीं था। वे उन राजनीतिक-विचारधारात्मक त्रुटियों की ओर कोई ध्यान नहीं देते जो पार्टी में मौजूद थीं और जिनके ख़िलाफ़ लेनिन ने अपने समय में संघर्ष चलाया था, और स्तालिन ने भी आनुभविक और लाक्षणिक तौर पर उस संघर्ष को जारी रखा था। वे सभी ग़लतियों को वस्तुगतता के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं और इसलिए किसी गम्भीर आलोचनात्मक विश्लेषण की तरफ़ नहीं जाते। दूसरी ओर, कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर ही कुछ ऐसे लोग भी हैं जो बोल्शेविक पार्टी की आलोचना का काम हाथ में लेने का दावा करते हैं, लेकिन अफसोसनाक तरीके से वे ठीक उन्हीं चीज़ों के लिए बोल्शेविक पार्टी की आलोचना करते हैं, जिनके लिए एक सही सर्वहारा दृष्टिकोण से बोल्शेविक पार्टी की प्रशंसा की जानी चाहिए; कि एक आत्यन्तिक रूप से प्रतिकूल दौर में, भयंकर प्रतिकूल परिस्थितियों में बोल्शेविक पार्टी ने आन्तरिक संकटों और बाह्य दबावों व ख़तरों को झेलते हुए ऐसे शानदार ऐतिहासिक प्रयोग किये, जिनकी पूरे मानव इतिहास में मिसाल नहीं मिलती। इस दूसरे किस्म के लोगों में कुछ ऐसे हैं जो बोल्शेविक पार्टी पर प्रतिस्थापनवाद (सब्स्टिट्यूशनिज़्म) का आरोप लगाते हैं, कुछ अन्य उसके भीतर मौजूद नौकरशाहाना विकृतियों और बुर्जुआ विरूपताओं के कारण स्तालिन काल में ही उसके एक पतित पार्टी बन जाने की बात करते हैं। कुछ का मानना है कि लेनिन के काल में ही पार्टी एक नौकरशाहाना बुर्जुआ पार्टी में तब्दील हो गयी थी और स्वयं लेनिन इस विचलन के शिकार थे, तो कुछ का मानना है कि यह सब स्तालिन काल में हुआ।

इस दूसरी किस्म में काफ़ी वैविध्य है, जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे! लेकिन इन दोनों किस्मों में एक बात साझी है: **दोनों के लिए सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों का प्रश्न एक हल (सेटेल्ड) हो चुका प्रश्न है।** पहली किस्म के लोग इसे लगभग पूर्णता में अपनाते हुए हल मानते हैं तो दूसरी किस्म के लोग इसे लगभग पूर्णता में ख़ारिज करते हुए हल मानते हैं, हालाँकि इस किस्म में कई ऐसे भी हैं, जो दिखावटी तौर पर सोवियत समाजवादी प्रयोग की महानता के बारे में कुछ कथन अपने सारे गाली-गलौच के अन्त में चस्पाँ कर देते हैं। **ऐसे में, सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन की बात करने की क्या प्रासंगिकता है?** हम इस सवाल का जवाब देते हुए ही शुरुआत करेंगे, क्योंकि उद्देश्य के कथन और औचित्य-प्रतिपादन के बिना कोई क्रान्तिकारी-वैज्ञानिक विश्लेषण सही तरीके से शुरू नहीं हो सकता।

II. वर्तमान संक्रमणकाल के असमाधित प्रश्न और सोवियत समाजवादी प्रयोग और उसके इतिहास के आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन की जारी प्रासंगिकता

1) संक्रमण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि: निराशा के दौर का अन्त और आशा के उत्स

हम एक संक्रमणकाल में जी रहे हैं। 1989 में बर्लिन की दीवार के गिरने और 1990 में

सोवियत संघ के औपचारिक पतन के साथ पूँजीवादी विजयवाद का जो दौर शुरू हुआ था, वह बहुत पहले ही समाप्त हो चुका है। वास्तव में, यह विजयवाद एक दशक भी नहीं चल सका था। 1997 में एशियाई मौद्रिक संकट के साथ पूँजीवादी संकट का जो दौर शुरू हुआ वह आज तक थम नहीं सका है। लेकिन 1990 के ठीक बाद विचारधारा और राजनीति की दुनिया में पूँजीवादी विचारकों ने 'पूँजीवाद की अन्तिम विजय', 'उदार बुर्जुआ जनवाद की अन्तिम विजय' और, चूँकि उनके अनुसार अब मानव इतिहास को गुणात्मक रूप से किसी नये चरण में नहीं जाना था, इसलिए 'इतिहास के अन्त', 'विचारधारा के अन्त', 'कविता के अन्त' आदि की घोषणाएँ करनी शुरू कर दी थीं। **फ्रांसिस फुकुयामा** ने अपनी पुस्तक **'दि एण्ड ऑफ हिस्ट्री एण्ड दि लास्ट मैन'** में उदार बुर्जुआ जनवाद को इतिहास का अन्त और तार्किक चयन करने वाले उदार बुर्जुआ नागरिक/व्यक्ति को अन्तिम मनुष्य करार दिया था। दरअसल, पूँजीवादी विचारकों ने अन्त की विचारधारा के कुछ शुरुआती संस्करण 1960 के दशक से ही बनाने शुरू कर दिये थे जो डेनियल बेल, रोस्तोव और आरों के उत्तर-औद्योगिक समाज और ल्योतार के 'उत्तरआधुनिक स्थिति' के सिद्धान्त के रूप में सामने आने लगे थे, और यह कोई इत्तेफ़ाक नहीं था। 1956 में सोवियत संघ में बोल्शेविक पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में ख्रुश्चेव ने स्तालिन पर जमकर कीचड़ उछाला और संशोधनवाद का रास्ता अख़्तियार किया। 1950 के दशक के अन्त तक शान्तिपूर्ण संक्रमण, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और शान्तिपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के सिद्धान्त आने लगे थे और सोवियत संघ का समाजवाद के रास्ते से पूँजीवाद के रास्ते पर संक्रमण स्पष्ट रूप से दिखायी देने लगा था। दुनिया की कई कम्युनिस्ट पार्टियों और कम्युनिस्ट विचारकों को अभी यह यथार्थ शायद नहीं दिख रहा था और वे 'वास्तव में अस्तित्वमान समाजवाद' आदि जैसे सिद्धान्त दे रहे थे, लेकिन पूँजीवादी थिंक टैंकों की समझ में यह बात आ रही थी कि यह समाजवादी प्रयोगों की पराजय है। और यही वक्त था जब एक ओर तो कई निराश बुद्धिजीवियों ने अपनी हताशा और संशयवाद में उत्तरआधुनिक सिद्धान्तों की रचना की और साथ ही दूसरी ओर कई सचेतन तौर पर शासक वर्ग की चाकरी में लगे भाड़े के पूँजीवादी बुद्धिजीवियों ने भी ऐसे सिद्धान्तों की रचना की। 1960 के दशक में आये ये सिद्धान्त ही उत्तरआधुनिकतावादी विचारसरणियों की शुरुआत थे। यहाँ हम 1968 के जनउभार की इन तमाम परिवर्तनों में भूमिका और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के इन उत्तरआधुनिकतावादियों द्वारा हस्तगतीकरण (एप्रोप्रियेशन) पर विस्तार में नहीं जा सकते। लेकिन यह स्पष्ट है कि उत्तरआधुनिकतावादी विचारसरणियों के ये तमाम शुरुआती संस्करण 1990 के बाद और ज़्यादा खुले और नंगे रूप में दुनिया के सामने रखने जाने लगे। तमाम किस्म की उत्तरआधुनिक विचार-सरणियों का बाज़ार अचानक गर्म हो गया। इसकी तुलना अखबार के दफ़्तर में पहले से मौजूद प्रसिद्ध लोगों के मृत्युलेखों से की जा सकती है। जैसे ही ये प्रसिद्ध लोग मरते हैं, वैसे ही उनके मृत्यु की तात्कालिक स्थितियों से जुड़ी सूचनाओं को ऊपर जोड़कर अखबार इन मृत्युलेखों को छाप देते हैं! उसी प्रकार समाजवाद और मार्क्सवाद की मृत्यु से जुड़े मृत्युलेख बुर्जुआज़ी के विचारधारात्मक वर्चस्व की मशीनरी ने शीत युद्ध के गति पकड़ने (यानी 1960 के दशक) के साथ ही लिखने शुरू कर दिये थे! 1956 में सोवियत संघ में संशोधनवाद की विजय के बाद उसके पूँजीवादी रास्ते को अख़्तियार करने, सोवियत संघ के राज्य पूँजीवाद के दायरे में पूँजी संचय के संकट के जन्म लेने, गोर्बाचोव के "सुधारों" के शुरू होने के साथ इन मृत्युलेखों में नये-नये विवरण जुड़ते गये और

1990 में औपचारिक तौर पर सोवियत संघ में "लाल झण्डे" के गिरने के साथ, साम्राज्यवादी सूचना तंत्र ने इन मृत्युलेखों की ब्रॉडकास्टिंग शुरू कर दी! लेकिन इतिहास स्वयं ही दिखला देता है कि ये मृत्युलेख नकली लाल झण्डे, नकली समाजवाद और संशोधनवाद के मृत्युलेख थे! जो पूँजीवादी विजयवाद सोवियत संघ के विघटन के साथ शुरू हुआ, वह ऐतिहासिक-राजनीतिक तौर पर अनुपयुक्त (मिस्प्लेस्ड) था। लेकिन फिर भी इस पूँजीवादी विजयवाद ने कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से और अकादमिक जगत पर गहरा असर डाला।

राजनीति से लेकर अकादमिक जगत तक में इस तरह की 'उत्तर-' विचारसरणियों की फेरियाँ सज गयीं, जो वही दावा ज़्यादा "दार्शनिक" और "विचारधारात्मक" तौर पर सुसूचित व सुसज्जित रूप में कर रही थीं, जो कि रैण्ड कारपोरेशन के भाड़े के बुद्धिजीवी फुकुयामा ने भोंड़े शब्दों में किया था। इन 'उत्तर-' विचारसरणियों का यह दावा था कि क्रान्ति, परिवर्तन, वर्ग आदि की बात करना महाख्यानों के राज्य में विचरण करना है और महाख्यानों का दौर बीत चुका है; अब छोटे-छोटे आख्यानों का दौर है, खण्डों के जश्न मनाये जाने का दौर है, अलग-अलग अस्मिताओं को परकीकृत कर, उन्हें अनालोचनात्मक तौर पर महिमा-मण्डित करने का दौर है। **मिशेल फूको** जैसे लोग कहने लगे कि सत्ता का सामूहिक प्रतिरोध व्यर्थ है। क्योंकि हर सामूहिकता (यहाँ विशेष तौर पर निशाना वर्ग पर था) सार्वभौमिकता पर निर्भर करती है, और हर प्रकार का सार्वभौम (यूनीवर्सल) वास्तव में दमनकारी होता है। यदि वर्ग चेतना और वर्ग एकजुटता के आधार पर पूँजीवाद का विरोध किया जाता है, उसके ख़िलाफ़ क्रान्ति की जाती है, तो अन्त में वह भी एक प्रकार की सत्ता को जन्म देगा और यह सत्ता भी दमनकारी होगी! (फूको यह नहीं बताता कि किसका दमन और किसके लिए दमन! क्योंकि निश्चित तौर पर समाजवादी राज्य भी एक राज्यसत्ता ही होगी और इस रूप में निश्चित तौर पर वह एक दमन का उपकरण होगी। लेकिन अगर इस सवाल को ही गोल कर दिया जाय कि किसके लिए दमन, किसका दमन और किसके द्वारा दमन तो किसी बात को कोई अर्थ नहीं रह जाता।) इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था और समाज के शोषण और उत्पीड़न के प्रतिरोध का रास्ता है कि *व्यक्ति* (इण्डिविजुअल) इसके द्वारा स्थापित हर सार्वभौम, मानक (नॉर्म), सामान्यता के ख़िलाफ़ व्यक्तिगत तौर पर विद्रोह करे! यह विद्रोह समलैंगिकता के रूप में हो सकता है, ट्रांसवेस्टाइट और ट्रांसजेण्डर बनकर हो सकता है, वगैरह। यही फूको की *क्वियर थियरी* का मर्म है। इस सारे विश्लेषण से सिर्फ़ यह ग़ायब था कि दमन कौन कर रहा है और कौन उसे झेल रहा है, सत्ता किसकी है और शासित कौन है, यानी कि वर्ग विश्लेषण। जाहिर है, कि यहाँ निशाना मार्क्सवाद था। इसी प्रकार की उत्तरआधुनिक विचारसरणियों (जिनके विकास में **देरीदा, स्पिवाक, एडवर्ड सईद** आदि जैसे लोगों का योगदान अहम था) का बाज़ार 1990 के दशक के पूर्वार्द्ध में ख़ास तौर पर गर्म हो गया।

भारत में इन बीमार पूँजीवादी विचार-सरणियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे **आशीष नन्दी** और सबऑल्टर्न स्टडीज़ के बुद्धिजीवी जैसे कि **पार्थ चटर्जी, दीपेश चक्रवर्ती** आदि जैसे लोग। हिन्दी जगत में बिना पढ़े और बिना समझे इन विचार-सरणियों की राह पकड़ने का काम सुधीश पचौरी जैसे लोग कर रहे थे, जो बस इतना जानते थे कि ये विचार-सरणियाँ इस समय चलन में हैं। आजकल हिन्दी जगत में यही काम कुछ बुद्धिजीवी कर रहे हैं जो कि सबऑल्टर्न स्टडीज़ के पदचिन्हों पर चलने का प्रयास कर रहे हैं और अस्मितावादी विमर्श में

मगन हैं। अब यह बात अलग है कि सबऑल्टर्न इतिहास लेखन को अब कई सबऑल्टर्न स्टडीज़ के ही सदस्य एक चुकी हुई और असफल परियोजना मानते हैं, जो शुरुआत में मार्क्सवादी इतिहासलेखन में कठमुल्लावाद और अपचयनवाद के 'करेक्टिव' के तौर पर शुरू होकर, एडवर्ड सईद के 'भाषाई मोड़' पर फिसलकर गिर गयी।

ख़ैर, 1990 के दशक के पूर्वार्द्ध में ये उत्तरआधुनिकतावादी बुद्धिजीवी यह दावा कर रहे थे कि वे पश्चिम की वैश्विक प्रभुत्व की परियोजना (नाम लेकर कहें तो प्रबोधन की परियोजना जिसे वे पश्चिम का ऐतिहासिक षड्यन्त्र कहते हैं) पर हमला कर रहे थे और ऐसा करते हुए वे 'प्राच्य मासूमियत' (आशीष नन्दी का *ओरियेण्टल इनोसेंस*, हालाँकि इस *ओरियेण्टल इनोसेंस* का ज़ायका उन्हें हाल ही में जयपुर साहित्यिक उत्सव में मिल गया है!) को बचाने, खण्डित अस्मिताओं (पार्थ चटर्जी) का जश्न मनाने के लिए दीवाने हुए जा रहे थे! इन लोगों का लक्ष्य भी समूची 'प्रबोधन की परियोजना', 'आधुनिकता की परियोजना' (क्या ऐसी कोई एकाश्मीय परियोजना है?) पर निशाना साधने के नाम पर वास्तव में मार्क्सवाद के विज्ञान पर निशाना साधना था, और 'प्राच्य मासूमियत' की रक्षा करने के पागलपन में एक दौर में ये लोग भारत में हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिक फासीवादियों तक के पक्ष में जा खड़े हुए थे!

यह समझना ज़रूरी है कि 'आधुनिकता' की किसी एकाश्मीय परियोजना की बात करना ही बेमानी है। मार्क्स और एंगेल्स ने प्रबोधन की पूरी परियोजना की द्वैधता को समझा था। इसे समझना न सिर्फ़ उत्तरआधुनिकतावादियों के उथले तर्कों के खण्डन के लिए ज़रूरी है, बल्कि इसलिए भी ज़रूरी है कि आजकल कई कथित मार्क्सवादी इन उत्तरआधुनिकतावादियों का खण्डन करते हुए दूसरे छोर पर जा खड़े हुए हैं, और सर्वहारा क्रान्ति से पहले ही 'आधुनिकता और प्रबोधन की परियोजना' को भारत में पूरा करने (या पूरा होने देने!) की बात कर रहे हैं। उनके अनुसार इस परियोजना के पूरा हुए बग़ैर भारत में सर्वहारा क्रान्ति के कार्यों को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। जब तक आधुनिकता की परियोजना को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता तब तक ऐसे देशों में जहाँ के जनसमुदाय 'सर्वसत्तावादी जनसमुदाय' (टोटैलिटैरियन कम्युनिटीज़) हैं, सर्वहारा क्रान्ति के एजेण्डे पर आगे नहीं बढ़ा जा सकता। वे तब तक के लिए क्रान्ति के कार्यभारों के लिए स्थगन प्रस्ताव पेश कर रहे हैं! लेकिन ऐसे लोग वास्तव में उत्तरआधुनिकतावादियों के 'ट्रैप' में गिर रहे हैं क्योंकि उन्होंने ही आधुनिकता और प्रबोधन की परियोजना के बारे में इस तरह की एकाश्मीयतापूर्ण और सजातीयतापूर्ण सोच पेश की थी (मिसाल के तौर पर, भारत में 1986 के बाद का सबऑल्टर्न स्टडीज़), बस फर्क यहाँ यह है कि उनके लिए यह परियोजना दमनकारी और शैतानी थी, और भारत की जनता के पिछड़ेपन से नाराज़ कुलीन वाम बुद्धिजीवियों के लिए यह परियोजना पूर्णतः मुक्तिदायिनी है।

इन उत्तरआधुनिकतावादियों द्वारा प्रबोधन और आधुनिकता की आड़ में मार्क्सवाद को निशाना बनाया जाना कोई संयोग नहीं था। पूरी दुनिया में उत्तरआधुनिक विचारधारा और राजनीति दक्षिणपन्थ के पक्ष में जाकर खड़ी हो रही थी। कहीं यह दक्षिणपन्थ नस्लवादी फासीवाद के तौर पर प्रकट हो रहा था, कहीं प्रवासी मज़दूरों के ख़िलाफ़ अन्धराष्ट्रवादी उन्माद के रूप में प्रकट हो रहा था, कहीं जातीयतावादी (एथनिक) फासीवाद के रूप में प्रकट हो रहा था तो कहीं धार्मिक कट्टरपन्थी फासीवाद के रूप में प्रकट हो रहा था। **सुमित सरकार** ने अपनी प्रशंसनीय पुस्तकों **'बियॉण्ड नेशनलिस्ट फ्रेम्स'** और **'राइटिंग सोशल**

हिस्ट्री' में स्पष्ट रूप से दिखलाया है कि सबऑल्टर्न स्टडीज़ का पूरा प्रोजेक्ट किस तरह से भारत में दक्षिणपन्थी, धार्मिक कट्टरपन्थी, पितृसत्तावादी, सवर्णवादी और हिन्दुत्ववादी फासीवादी ताक़तों के साथ जाकर खड़ा हो गया है, चाहे मार्क्सवादी इतिहासलेखन की आलोचना करते हुए उसकी शब्दावली कितनी ही आमूलवादी क्यों न रही हो, और मार्क्सवाद से भी 'ज्यादा रैडिकल' किसी विश्लेषण-पद्धति के लिए उसकी चीख़-चिल्लाहट कितनी ही कानफाड़ू क्यों न रही हो! अन्य असहमतियों को छोड़ भी दें, तो मार्क्सवादी चिन्तक **फ्रेडरिक जेम्सन** ने उत्तरआधुनिकतावाद को ठीक ही नाम दिया है - **वृद्ध, बीमार, मरणासन्न, और मानवद्रोही पूँजीवाद का सांस्कृतिक तर्क।**

राजनीतिक तौर पर उत्तरआधुनिकतावादी दर्शन की अभिव्यक्ति स्वयंसेवी संगठनों की राजनीति के तौर पर सामने आयी। यहाँ पर भी एक **नकली द्वैधता** मौजूद थी। जहाँ नवउदारवादी पूँजीवादी चिन्तक, अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ और 'विश्व आर्थिक मंच' जैसे उनके संगठन सोवियत संघ के पतन के बाद 'कोई विकल्प नहीं है' (टीना-देयर इज़ नो ऑल्टरनेटिव) का नारा नंगे तौर पर दे रहे थे, वहीं पूँजीवादी वर्चस्व को जनता के बीच में स्थापित करने के लिए उन्होंने जो स्वयंसेवी संगठन मैदान में उतारे थे, वे 'बहुत-से विकल्प हैं' (टामा-देयर आर मैनी ऑल्टरनेटिव्स) का नारा दे रहे थे। विश्व आर्थिक मंच के समानान्तर उन्होंने विश्व सामाजिक मंच (वर्ल्ड सोशल फोरम) बनाया जो कि पूँजीवाद का नकली विरोध करते हुए अपरिहार्य रूप से पूँजीवाद की रक्षा का काम करने वाली सभी शक्तियों का जमावड़ा बन गया–एन.जी.ओ., सुधारवादी, सामाजिक जनवादी और संशोधनवादी पार्टियाँ आदि। वास्तव में, 'टीना' और 'टामा' एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; कहा जा सकता है कि वे **छद्म विकल्पों का समुच्चय** हैं। ये दो अलग बातें हैं ही नहीं बल्कि एक ही बात है। **'बहुत-से विकल्प हैं' जैसी बातें खण्डों का जश्न मनाने वाली उत्तरआधुनिकतावादी राजनीति ही कर सकती है, क्योंकि इतिहास और विज्ञान दोनों में हमेशा केवल एक ही सही विकल्प होता है। इस बात को ख़ारिज करने की, कि एक ही सही विकल्प है, दो रणनीतियाँ हो सकती हैं–एक यह कि सीधे यह कह दिया जाय कि कोई विकल्प नहीं है (टीना); और दूसरी रणनीति यह हो सकती है कि कहा जाय कि बहुत-से विकल्प हैं (टामा); लेकिन कभी कोई एक भी विकल्प न बताया जाय!** नवउदारवादी पूँजीवादी अर्थशास्त्री और चिन्तक पहली रणनीति अपनाते हैं और नवउदारवादी और साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण के फेंकी गयी हड्डियों पर पलने वाले एन.जी.ओ., स्वयंसेवी संगठन और सामाजिक-जनवादी पार्टियाँ दूसरी रणनीति अपनाने का काम करते हैं। पूँजीवादी वर्चस्व की कार्यप्रणाली इसी तरह से काम करती है। आजकल कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो कि **'एक समाजवादी विकल्प है' (टियासा–देयर इज़ ए सोशलिस्ट ऑल्टरनेटिव)** की बात कर रहे हैं। लेकिन 'टियासा' और 'टामा' में गुणात्मक तौर पर कोई फर्क नहीं है क्योंकि जिन लोगों ने यह शब्द उछाला है, यदि आप उनकी समाजवादी की परिभाषा और व्याख्या में जाते हैं, तो पाते हैं कि उसमें नाम के सिवा कुछ भी समाजवादी नहीं है! इस शब्द का इस्तेमाल कुछ लोगों ने इसलिए भी शुरू कर दिया है, क्योंकि पूरी दुनिया में मार्क्सवाद और मार्क्स की वापसी की बात की जा रही है; आम जनता के बीच से भी कई संगठन मार्क्सवाद का, पिछले समाजवादी प्रयोगों का और भविष्य की सम्भव परियोजनाओं का अध्ययन कर रहे हैं। इसलिए, 'टामा' की बात करने वाले कुछ लोग 'टियासा' के कैम्प में चले गये हैं! इसलिए

उनके नामधारी समाजवाद पर किसी लम्बी चर्चा की ज़रूरत नहीं है।

2) निराशा के दौर के अन्त और आशाओं के उत्स की ओर

इन सारी वर्चस्वकारी प्रणालियों और कार्यपद्धतियों के बावजूद पूँजीवाद के रक्षकों और शुभचिन्तकों के लिए चिन्ता की बात यह है कि **संकट के दौरों में पूँजीवादी वर्चस्व की प्रणालियाँ और मशीनरी ख़राब होने लगती हैं और ठीक से काम नहीं करतीं।** यही वह समय होता है जब वर्चस्व के विरुद्ध जनता की ताक़तों के प्रति-वर्चस्व (काउण्टर-हेजेमनी) के जन्म की सम्भावनाएँ पैदा हो जाती हैं। 1997 में जिस एशियाई मौद्रिक संकट की शुरुआत हुई उसे एक वैश्विक आर्थिक संकट बनने में ज़्यादा देर नहीं लगी। और उस समय से पूँजीवादी विश्व व्यवस्था संकट के एक ऐसे भँवर में फँसी हुई है, जिससे वह आज तक नहीं निकल पायी है। बीच-बीच में सट्टेबाज़ वित्त पूँजी के बुलबुले फुलाकर पूँजीवादी व्यवस्था ने तेज़ी के दौर के कुछ भ्रम पैदा किये। लेकिन चाहे वह डॉट कॉम बुलबुला रहा हो या आवास बाज़ार में पैदा किया गया बुलबुला, कोई भी ज़्यादा देर तक नहीं चल पाया और जल्द ही फट गया। एक मन्द मन्दी का शिकार तो पूँजीवाद 1973 में डॉलर-स्वर्ण मानक के टूटने के बाद से ही है। इस पूरे दौर में विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने विकास की जो दर औसतन हासिल की, वह पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों के मानकों के अनुसार ही एक मन्द मन्दी की श्रेणी में आती है और कई पूँजीवादी अर्थशास्त्री अब इस बात को स्वीकारते भी हैं। लेकिन 1997 में 'एशियाई बाघों' के धराशायी होने के बाद से यह मन्द मन्दी एक गम्भीर संकट का रूप ले चुकी है। इस संकट के कुछ मील के पत्थर डॉट कॉम बुलबुले का फूटने, ऋण संकट के पैदा होने, आवास बाज़ार में संकट के आने के रूप में पहचाने जा सकते हैं। लेकिन 2007 में अमेरिकी वित्तीय बाज़ार में शुरू हुए **सबप्राइम ऋण संकट** के बाद से इस संकट ने 1930 के दशक की महामन्दी के बाद सबसे बड़ी मन्दी का रूप ले लिया है। इसे दूसरी महामन्दी भी कहा जा रहा है। **लेकिन उस मन्दी से यह संकट इस मायने में अलग है, कि मौजूदा मन्दी के बाद कोई तेज़ी का दौर नहीं आने वाला है, जैसा कि 1930 के दशक की महामन्दी के बाद आया था।** यह संकट पहले से कहीं ज़्यादा ढाँचागत है।

यहाँ हम इस विषय पर लम्बी चर्चा नहीं कर सकते हैं, लेकिन इतना इंगित करना अनिवार्य होगा कि मौजूदा संकट **भूमण्डलीकरण का संकट** है। इसके बाद साम्राज्यवादी पूँजी के पास कहीं और जाने की जगह नहीं बची है। लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की चरम अवस्था कहा था। आज यह कहा जा सकता है कि **भूमण्डलीकरण साम्राज्यवाद की चरम अवस्था है।** इसके बाद पूँजी के पास कोई और जगह नहीं बची है और वह पूँजी संचय के लिए मंगल ग्रह पर नहीं जा सकती है! पूँजी विश्व के सभी देशों, सभी अवामों की नस-नस से मुनाफ़ा निचोड़ने के लिए पूरे विश्व में फैल चुकी है और अब वह अपनी उत्तरजीविता को कायम रखने के लिए दो ही रणनीतियों को अपना सकती है। एक यह कि अभी भी विश्व के जो कोने उसकी लूट से थोड़े बचे हुए हैं, या जहाँ लूट का दबाव अभी कम है और सन्तृप्ति बिन्दु तक नहीं पहुँचा है वहाँ और बड़े पैमाने पर प्रवेश किया जाय। और दूसरी रणनीति वही रणनीति है जिसे अपनाने के लिए पूँजीवाद मजबूर है: युद्धों के ज़रिये उत्पादक शक्तियों का विनाश करके अपनी मन्दी से थोड़े समय की राहत पाना। जिन क्षेत्रों में साम्राज्यवादी शिविरों

के बीच प्रतिस्पर्द्धा सबसे ज़्यादा है वहीं पर ऐसे युद्ध जनता पर ज़्यादा थोपे जायेंगे और आज के समय में वह क्षेत्र मध्य-पूर्व है। पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों पर, विशेषकर जीवाश्म ईंधन पर पूँजीवादी संचय की निर्भरता आज हमेशा से ज़्यादा है, और मध्यपूर्व इन संसाधनों का भण्डार है। नतीजतन, पिछले लगभग तीन दशकों से साम्राज्यवाद मध्यपूर्व पर अपने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष युद्ध थोप रहा है। लेकिन ये ही युद्ध आने वाले समय में क्रान्ति की परिस्थितियों को जन्म देंगे। अरब जनउभार वस्तुगत तौर पर इन्हीं क्रान्ति की परिस्थितियों के पकने का द्योतक था। यह एक दीगर बात है कि वस्तुगत तौर पर अगर क्रान्तिकारी परिस्थितियाँ बिल्कुल पक भी जायें तो बिना एक क्रान्तिकारी विचारधारा और क्रान्तिकारी पार्टी के समाज क्रान्ति की ओर आगे नहीं जा सकता है।

लेकिन एक बात तय है–आज का पूँजीवाद लेनिन के समय से कहीं ज़्यादा खोखला, कमज़ोर, बीमार, मरणासन्न और अनुत्पादक वित्तीय पूँजी की कहीं ज़्यादा गिरफ्त में है। यह केवल अपनी जड़ता की शक्ति से टिका हुआ है, और पिछले पाँच-छह वर्षों का जो वैश्विक घटनाक्रम रहा है, वह इसके असमाधेय हो चुके संकट को ही दिखला रहा है। साम्राज्यवाद मौजूदा असमाधेय संकट के दौर में पहले हमेशा से ज़्यादा मानवद्रोही और नरभक्षी हो चुका है। इसका संकट इसे अपनी ही कब्र खोदने के लिए मजबूर कर रहा है। वस्तुगत तौर पर दुनिया एक भयंकर उथल-पुथल की तरफ जा रही है। पूरी दुनिया में पिछले तीन-चार वर्षों के दौरान जो पूँजीवाद-विरोधी जनान्दोलन अलग-अलग हिस्सों में स्वत:स्फूर्त रूप से फूट पड़े हैं, वह वास्तव में साम्राज्यवाद के आर्थिक संकट की राजनीतिक अभिव्यक्तियाँ हैं। चाहे वह अरब का जनउभार हो, अमेरिका का 'वॉल स्ट्रीट कब्ज़ा करो' आन्दोलन हो, या यूरोप में विशेष तौर पर स्पेन, पुर्तगाल, यूनान और आइसलैण्ड में, चल रहे जनान्दोलन हों, ये सभी साम्राज्यवाद के गहराते संकट की राजनीतिक अभिव्यक्तियाँ हैं। संकट का केन्द्र अमेरिका से पूर्व की ओर स्थानान्तरित होता हुआ यूरोप तक पहुँचा चुका है और वहाँ **सार्वभौम ऋण संकट** का रूप ले चुका है, और इस बात के बहुतेरे संकेत मिल रहे हैं कि संकट का केन्द्र आने वाले वर्षों में एशिया और लातिन अमेरिका की अर्थव्यवस्थाओं तक पहुँचेगा। संकट के केन्द्र के 'कमज़ोर कड़ियों' तक पहुँचने पर स्थितियाँ गम्भीर होंगी। लेकिन आने वाले समय में इन देशों में जनउभारों को क्रान्ति की दिशा में मोड़ा जा सके इसके लिए वर्तमान पूँजीवाद-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलनों की सीमाओं और समस्याओं को समझना बेहद ज़रूरी है।

3) वर्तमान पूँजीवाद-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलनों की समस्याएँ

आशाओं के उत्स की बात करने का यह अर्थ नहीं है कि दुनिया में कोई बना-बनाया विकल्प मौजूद है और बस उसे लागू कर देना है। आशाओं के उत्स की बात करने का अर्थ महज़ इतना है कि पूँजीवादी-साम्राज्यवादी लूट और दमन के ख़िलाफ़ जनता के खेमे में जो सन्नाटा छाया हुआ था, वह हालिया स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों से टूट रहा है और पूँजीवादी विश्व व्यवस्था का आर्थिक संकट अब अपने आपको राजनीतिक और सामाजिक संकट के रूप में भी अभिव्यक्त करने लगा है। यह निश्चित तौर पर उम्मीद पैदा करने वाली

बात है। लेकिन यही चीज़ तमाम सवाल और समस्याएँ भी खड़ी करती है, जिनका हमें जवाब और हल ढूँढना होगा। **ये सवाल क्या हैं? ये समस्याएँ क्या हैं?**

जहाँ एक ओर पूँजीवाद असमाधेय मन्दी के भँवर में फँसा हुआ है, वहीं जनता की शक्तियों के सामने भी आज कोई सहज उपलब्ध वैज्ञानिक-व्यावहारिक और व्यवस्थागत विकल्प मौजूद नहीं है। एक विकल्पहीनता की स्थिति बनी हुई है। जो विकल्प का संकट अरब जनउभार, 'वॉल स्ट्रीट कब्ज़ा करो' आन्दोलन और यूरोप के आन्दोलनों के सामने मौजूद रहा वह संकट एशिया की ओर विश्व पूँजीवादी संकट के स्थानान्तरित होने और वहाँ पर मज़दूर आन्दोलनों की लहर शुरू होने पर भी उपस्थित होगा। अरब जनउभार का अन्त एक प्रकार के 'थर्मिडोर' (प्रतिक्रियावादी पुनर्स्थापना) में होने और 'वॉल स्ट्रीट कब्ज़ा करो' आन्दोलन के विसर्जित होने के पीछे जो सबसे बड़ा कारण था वह यह था कि **इन स्वत:स्फूर्त आन्दोलनों के पास कोई सकारात्मक प्रस्ताव नहीं था; कोई क्रान्तिकारी पार्टी मौजूद नहीं थी, जो कि एक व्यावहारिक-वैज्ञानिक क्रान्तिकारी विकल्प पेश करती। ये आन्दोलन महज़ पूँजीवाद-साम्राज्यवाद-विरोध तक सीमित थे, और इस हद तक इनका एजेण्डा नकारात्मक ही था।** ऐसे आन्दोलन ज़्यादा से ज़्यादा सत्ता परिवर्तन कर सकते हैं (जैसा कि ट्यूनीशिया और मिस्र में हुआ, और आज जारी कुछ आन्दोलनों के फलस्वरूप कुछ और देशों में हो सकता है) लेकिन चूँकि उनके पास कोई सकारात्मक विकल्प नहीं होता इसलिए वे एक राजनीतिक निर्वात की स्थिति पैदा करते हैं और उस निर्वात को वही ताक़त भरती है, जो कि विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक तौर पर सुसंगठित हो। नतीजतन, मिस्र में जनान्दोलन के फलस्वरूप जो सत्ता आयी वह इस्लामिक कट्टरपंथियों, मुख्य तौर पर सलाफिस्ट और मुस्लिम ब्रदरहुड के एक गठबन्धन, की थी। आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं आया। हालाँकि, मिस्र की मेहनतकश जनता इस बात को समझते हुए एक बार फिर सड़कों पर है। लेकिन चीज़ें तब तक आगे नहीं बढ़ सकतीं जब तक कि ऐसे जनान्दोलनों को एक क्रान्तिकारी विचारधारा और क्रान्तिकारी हिरावल पार्टी, जो कि उस विचारधारा का मूर्त रूप हो, का नेतृत्व मिले।

संक्षेप में कहा जाय तो साम्राज्यवाद का संकट दुनिया भर में स्वत:स्फूर्त जनान्दोलनों को जन्म दे रहा है, जो दिखला रहा है कि जनता के सब्र का प्याला अब छलक रहा है और वह पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ (चाहे आन्दोलनकारी जनता स्वयं उसे पूँजीवाद-साम्राज्यवाद का नाम दे या न दे!) सड़कों पर उतर रही है। यहाँ बरबस ही **माओ** की वह बात याद आती है जो उन्होंने मृत्यु से पहले सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर में कही थी। उन्होंने कहा था कि मौजूदा सांस्कृतिक क्रान्ति अपने आप में चीन में समाजवाद की अन्तिम विजय को सुनिश्चित नहीं कर सकती और इसके लिए कई सांस्कृतिक क्रान्तियों की ज़रूरत होगी। अभी भी चीन में और पूरी दुनिया में यह तय नहीं हुआ है कि संघर्ष के इस दौर में पूँजीवाद और समाजवाद में कौन विजयी होगा। लेकिन, आगे माओ कहते हैं, आने वाले 50 से 100 वर्षों का इतिहास दुनिया भर में अभूतपूर्व उथल-पुथल और परिवर्तन का दौर होगा, जो पूरी दुनिया को हिलाकर रख देगा और पूरे मानव इतिहास में इसका कोई सानी नहीं होगा। अभी हम उन 50 से 100 वर्षों की ज़द में ही जी रहे हैं। साम्राज्यवाद का संकट दुनिया भर में क्रान्तिकारी जनान्दोलनों के लिए एक वस्तुगत स्थिति पैदा कर रहा है। वस्तुगत कारक पकने की ओर अग्रसर हैं, लेकिन संकट यहाँ आत्मगत शक्तियों का है।

मौजूदा जनान्दोलन में विकल्पहीनता, क्रान्ति के एक सकारात्मक प्रस्ताव की कमी और मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी हिरावल पार्टी की अनुपस्थिति ने एक बार फिर से बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों के सकारात्मकों व नकारात्मकों के आलोचनात्मक विवेचन को प्रासंगिक बना दिया है। इन प्रयोगों को अनालोचनात्मक तरीके से देखने और उनके अन्धपूजन से, और साथ ही, उनके सही आलोचनात्मक विवेचन के बिना उन्हें ख़ारिज कर देने की अनैतिहासिक प्रवृत्ति, दोनों ही आज के समय में भावी क्रान्तिकारी परियोजना के लिए अनुत्पादक और इसलिए नुकसानदेह हैं। इन प्रयोगों के पहले जो आलोचनात्मक विवेचन किये गये हैं उनकी मज़बूतियों और कमज़ोरियों को भी समझने की ज़रूरत है। सोवियत समाजवाद की सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक तौर पर जारी समकालीनता (कण्टेम्पोरेनाइटी) को समझे बग़ैर नयी सदी की समाजवादी परियोजनाओं का निर्माण नहीं किया जा सकता है। यहाँ अतीतग्रस्त कठमुल्ला दृष्टिकोण और "मुक्त-चिन्तक" अस्वीकरणवादी (रिजेक्शनिस्ट) दृष्टिकोण, दोनों ही अवांछित हैं। यह पुनर्मूल्यांकन इसलिए भी ज़रूरी है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर और बाहर ऐसी प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं जो कि अतीत के समाजवादी प्रयोगों, और विशेषकर सोवियत समाजवाद के प्रयोग, के इतिहास का ग़ैर-सर्वहारा प्रस्तुतिकरण (विकृतिकरण) कर रही हैं, जिसका पस्तहिम्मती, कठमुल्लावाद, "मुक्त-चिन्तन"-वाद का शिकार कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों पर गहरा असर पड़ रहा है। इन प्रवृत्तियों के बारे में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

4) विकल्प का प्रश्न और समाजवादी प्रयोगों के आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता

आज दुनिया भर में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शक्तियाँ अधिकांश देशों में और अधिकांश मामलों में कमज़ोर, विभाजित, निराशा या झूठी आशा की शिकार हैं; कहीं पर वे अनैतिहासिक "मुक्त चिन्तन" तो कहीं इतिहासग्रस्त-अतीतग्रस्त कठमुल्लावाद और लकीर की फकीरी करने की प्रवृत्ति का शिकार हैं। हमारे देश में भी आज मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिविर विघटन की अवस्था में है। लेकिन कुछ कम्युनिस्ट ग्रुप और संगठन नये सिरे से तमाम गम्भीर और बुनियादी सवालों पर सोच रहे हैं, मज़दूर वर्ग के बीच काम करने, उसे संगठित करने के नये तौर-तरीकों को ईजाद करने का प्रयास कर रहे हैं, आज की दुनिया की ज़्यादा वैज्ञानिक और गतिमान मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्याख्या करने का प्रयास कर रहे हैं। वैसे तो आज कम्युनिस्ट आन्दोलन के पटल पर, दुनिया के पैमाने पर भी और हमारे देश के पैमाने पर भी, विचारधारा, कार्यक्रम और रणनीति व आम रणकौशल से जुड़े बहुत-से मुद्दे हैं। लेकिन इन सब में आज एक बेहद प्रमुख मुद्दा बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों के पुनर्मूल्यांकन का है। इनमें भी सोवियत समाजवादी प्रयोग का मुद्दा आज भारी विवाद का विषय बना हुआ है। इसके निश्चित कारण हैं।

एक कारण तो यह है कि सोवियत समाजवाद के पूरे दौर में (1917 से 1953 तक) जो प्रयोग हुए वे भारी और गम्भीर विचारधारात्मक बहसों के बीच में हुए जो कि बोल्शेविक पार्टी के भीतर लगातार जारी थे। इन बहसों ने मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु से जुड़े हुए अहम मुद्दों को उठाया। इसलिए सोवियत समाजवादी प्रयोग के इतिहास

का आलोचनात्मक अध्ययन वास्तव में वर्ग, राज्य, पार्टी, ट्रेड यूनियन और इन सबके आपसी सम्बन्धों आदि के प्रश्नों पर सही मार्क्सवादी अवस्थिति के निःसरण से जुड़ा हुआ है। इन मूल मुद्दों पर अलग-अलग अवस्थितियों के आधार पर और अलग-अलग समय में बोल्शेविक पार्टी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष हुआ। दरअसल, ये मुद्दे पूरे यूरोप के कम्युनिस्ट आन्दोलन और मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में पहले से ही मौजूद रहे थे। अक्टूबर क्रान्ति से पहले तमाम मुद्दों पर बहसें सैद्धान्तिक ही बनी रहीं थीं, क्योंकि बिना ऐतिहासिक अनुभवों की रोशनी के वे महज़ सैद्धान्तिक ही हो सकती थीं। अक्टूबर क्रान्ति के बाद सोवियत संघ में पहली बार एक सर्वहारा सत्ता के निर्माण ने इन बहसों को शुद्ध सिद्धान्त के राज्य से निकाल कर समकालीन इतिहास और राजनीति के राज्य में पहुँचा दिया और भावी सैद्धान्तिक विकास का भी रास्ता खोल दिया। ये सवाल अब सर्वहारा अधिनायकत्व के राज्य और उसे निर्देशित करने वाली पार्टी के सम्मुख उपस्थित जीवन्त प्रश्न बन गये थे। बोल्शेविक पार्टी ने किस प्रकार गम्भीर और तीखे विचारधारात्मक संघर्ष के जरिये इन प्रश्नों पर अपनी अवस्थिति को निःसृत किया, वह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के लिए सर्वकालिक ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक और राजनीतिक महत्व रखता है। इस पूरी प्रक्रिया को हम सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और उसमें हिरावल पार्टी की भूमिका के सिद्धान्त के सन्दर्भ में रूसी क्रान्ति के अनुभवों और शिक्षाओं की रोशनी में कदम-दर-कदम हुए विकास में देख सकते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं है कि ये सवाल आज भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के समक्ष अहम सवाल बने हुए हैं।

दूसरा कारण यह है कि आज जब दुनिया में स्वतःस्फूर्त पूँजीवादी जनान्दोलनों की ऐतिहासिक-राजनीतिक सीमा अपने आपको स्पष्ट रूप में प्रकट कर रही है और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के समक्ष एक वैज्ञानिक-व्यावहारिक विकल्प पेश करने का सवाल जीवन्त रूप में खड़ा है, तो निश्चित तौर पर बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों, और विशेष तौर पर सोवियत समाजवादी प्रयोग का एक आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन अपरिहार्य हो गया है। यह पुनर्मूल्यांकन केवल समाजवादी क्रान्ति के बाद समाजवाद के निर्माण की समस्याओं के हल के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि पहली मंज़िल से ही सर्वहारा वर्ग को संगठित करने, उसके संगठन के स्वरूप, उसमें पार्टी की भूमिका, ट्रेड यूनियन की भूमिका, वर्ग, पार्टी और ट्रेड यूनियन के बीच आपसी रिश्तों के सवालों के लिए अहमियत रखता है। मज़दूर वर्ग, उसकी विचारधारा, आन्दोलन और संगठन के बारे में सही दृष्टिकोण पहली मंज़िल से ही ज़रूरी है। यह दृष्टिकोण ही तय करेगा कि क्रान्ति के बाद किस किस्म की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का निर्माण किया जायेगा, या, कहना चाहिए कि एक सही दृष्टिकोण का होना ही यह तय करेगा कि सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी वर्ग संघर्ष को क्रान्ति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व तक ले भी जा पायेगी या नहीं। **इसलिए सोवियत समाजवाद का आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन महज़ एक सैद्धान्तिक-वैचारिक कवायद नहीं है। सोवियत समाजवाद का इतिहास जो प्रश्न खड़े करता है, वह क्रान्तिकारी मार्क्सवाद की अन्तर्वस्तु के प्रश्न हैं, और उनकी एक सही समझ सिर्फ समाजवादी निर्माण के लिए नहीं बल्कि समाजवादी क्रान्ति के लिए मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को एक सही नेतृत्व दे पाने के सवाल से भी जुड़ा हुआ है।** और हमें ऐसा लगता है कि अव्वलन तो यह सवाल पहले भी हल नहीं था, और हाल में कुछ राजनीतिक नौदौलतियों द्वारा सोवियत समाजवाद के प्रयोगों के इतिहास के विकृतिकरण और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी विनियोग ने (जिनके बारे में हम

आगे चर्चा करेंगे) इस सवाल को और भी ज़्यादा उलझा दिया है। इसलिए नये सिरे से, मार्क्सवादी-लेनिनवादी दृष्टिकोण से इस सवाल पर सैद्धान्तिक स्पष्टता और सफ़ाई की ज़रूरत को हम शिद्दत से महसूस करते हैं।

सोवियत समाजवादी प्रयोग के पुनर्मूल्यांकन के पीछे **तीसरा कारण** इसी से जुड़ा हुआ है। वह कारण यह है कि पिछले करीब दो दशकों में सोवियत समाजवादी प्रयोग के इतिहास के पुनर्लेखन के कुछ महत्वपूर्ण मार्क्सवादी प्रयास कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर और प्रमुख तौर पर बाहर हुए हैं। जो मार्क्सवादी प्रयास कम्युनिस्ट आन्दोलन के बाहर हुए हैं उनका भी कम्युनिस्ट आन्दोलन के कुछ हिस्सों पर गहरा प्रभाव है। हमें ऐसा लगता है कि सोवियत समाजवाद के इतिहास लेखन के इन *संशोधनवादी* (यहाँ हम 'संशोधनवादी' शब्द का प्रयोग 'सामाजिक-जनवादी' के रूप में नहीं कर रहे हैं, बल्कि इतिहासलेखन के संशोधनवादी प्रयास के रूप में कर रहे हैं, जैसे कि इतिहासलेखन में 'रिवीज़निस्ट हिस्टोरियोग्राफ़ी' शब्द का प्रयोग किया जाता है) प्रयासों की आलोचनात्मक विवेचना की आज बेहद ज़रूरत है; इसलिए नहीं कि वे नया कुछ कह रहे हैं। बल्कि इसलिए कि उनका कम्युनिस्ट आन्दोलन के कुछ हिस्सों पर गहरा प्रभाव है, युवा बुद्धिजीवियों और क्रान्ति के प्रति अनुकूल रवैया रखने वाले छात्रों के बीच उन्हें पढ़ा जा रहा है और कम्युनिस्ट आन्दोलन, बुद्धिजीवियों और ऐसे छात्रों के बीच वैचारिक-बौद्धिक कमज़ोरी, इतिहास की कम जानकारी, प्राथमिक स्रोतों तक न जाने की आदत के कारण इतिहासलेखन के इन संशोधनवादी प्रयासों का काफ़ी असर भी हो रहा है। इस असर का एक कारण यह भी है कि क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं और बुद्धिजीवियों को अपने निम्न पूँजीवादी वर्ग पूर्वाग्रहों के कारण सोवियत समाजवादी प्रयोग की ये नयी-नवेली आलोचनाएँ आकर्षक लग रही हैं। जहाँ तक इन नयी आलोचनाओं की अन्तर्वस्तु का प्रश्न है, जैसा कि हमने पहले ज़िक्र किया और हम आगे सिद्ध करेंगे, उनमें कुछ भी नया नहीं है। इनमें से ज़्यादातर अलग-अलग समय पर कम्युनिस्ट आन्दोलन में पैदा हुए "वामपन्थी" रुझानों, अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी भटकावों, दक्षिणपन्थी अवसरवाद, गैर-पार्टी क्रान्तिवाद, **पान्नेकोएक** और **पॉल मात्तिक** के काउंसिल कम्युनिज़्म, 1960 के दशक में मज़दूर आन्दोलन में पैदा हुई विजातीय प्रवृत्तियों, जैसे कि **मारियो ट्रॉण्टी** के मज़दूरवाद (ऑपराइज़्मो), **अर्नेस्टो लाक्लाऊ** और **चैण्टेल माऊफ** के नववामपन्थ, **एलेन बेज्यू, स्लावोय ज़िज़ेक, एण्टोनियो नेग्री** व **माइकल हार्ट**, आदि जैसे सट्टेबाज़ उत्तर-मार्क्सवादी वामपन्थी चिन्तकों के "चिन्तनों" और यहाँ तक कि इतिहास की कचरा-पेटी में जा चुकी उत्तरआधुनिक विचारसरणियों के अनर्गल प्रलापों के वैविध्यपूर्ण मिश्रण हैं। जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं, ऐसी व्याख्याएँ करने वालों में केवल मार्क्सविद् अकादमिक लोग शामिल नहीं हैं, बल्कि कई मार्क्सवादी-लेनिनवादी होने का दावा करने वाले कम्युनिस्ट संगठन भी शामिल हैं।

इन सभी द्वारा सोवियत समाजवाद के संशोधनवादी लेखन के जो हालिया प्रयास किये गये हैं, उनमें हम हरेक के बारे में अलग-अलग यहाँ नहीं लिख सकते हैं, और न ही ऐसा करने की कोई ज़रूरत है। इसका कारण यह है कि इन सभी की व्याख्याओं में कुछ बुनियादी तत्व हैं जो कि साझा हैं। वे इस प्रकार हैं– **(1) मार्क्सवादी पहुँच (अप्रोच) और पद्धति (मेथड) में गम्भीर विच्युतियाँ और विचलन, और कई मामलों में उनसे प्रस्थान; (2) इतिहास लेखन के स्रोतों के इस्तेमाल के प्रति गैरद्वन्द्वात्मक और "निष्पक्ष" (यानी कि ग़ैर-पक्षधर, या वास्तव में बुर्जुआज़ी की ओर पक्षधर) रवैया; (3) बुर्जुआ और**

पेटी-बुर्जुआ विचारधारात्मक-राजनीतिक पूर्वाग्रहों की मौजूदगी जो कि *एप्रायोरी* तौर पर समाजवाद-विरोधी निष्कर्षों पर पहुँचाते हैं; और (4) कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद अराजकतावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और "वाम" विचलन का प्रभाव।

जैसा कि हमने पहले कहा, हम ऐसी व्याख्याओं के एक-एक उदाहरण को यहाँ नहीं लेंगे। लेकिन हम एक प्रातिनिधिक उदाहरण को लेते हुए और मार्क्सवादी पहुँच और पद्धति के कुछ बुनियादी सवालों को उठाते हुए अपनी बात की शुरुआत करेंगे। अन्य व्याख्याओं के बारे में हम आगे सोवियत समाजवादी प्रयोग के इतिहास का आलोचनात्मक विवेचन करते हुए बीच-बीच में अपनी आलोचना रखेंगे। यह प्रातिनिधिक उदाहरण एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठन की पत्रिका **'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन'** के फरवरी, 2008 के अंक में आये **सुजीत दास** द्वारा लिखे गये लेख **'प्रैक्टिस ऑफ़ सोवियत सोशलिज़्म इन दि थर्टीज़: सक्सेसेज़ एण्ड फेल्योर्स'** का है। इस लेख में 1930 के दशक में सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। वैसे तो इस लेख में उस पूरे दौर में समाजवादी निर्माण से जुड़े तथ्यों को बुरी तरह से तोड़ा-मरोड़ा गया है और अपने राजनीतिक निष्कर्षों को सही ठहराने के लिए प्राधिकार रखने वाले स्रोतों को बेहद चुनिन्दा तरीके से उद्धृत किया गया है, लेकिन हम शुरुआत इस लेख द्वारा सोवियत समाजवाद के इतिहास के विकृतिकरण के खण्डन से नहीं करेंगे। सुजीत दास ने किस प्रकार से सोवियत समाजवाद के इतिहास को विकृत किया है, इस पर हम आगे आयेंगे जब हम सोवियत समाजवाद के इतिहास के अपने आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन के काम को सकारात्मक तौर पर हाथ में लेंगे। उससे पहले हम एक दूसरे कार्यभार को हाथ में लेना चाहेंगे।

हम शुरुआत समाजवादी निर्माण के दौर में सर्वहारा अधिनायकत्व, सर्वहारा राज्य के स्वरूप, इस दौर में पार्टी की भूमिका, पार्टी और ट्रेड यूनियन के वर्ग से रिश्ते, सर्वहारा राज्य के सर्वहारा वर्ग से रिश्ते और इस दौर में किसान प्रश्न के समाधान से जुड़े कुछ आम सैद्धान्तिक प्रश्नों से करेंगे। इस प्रक्रिया में पहले हम यह प्रदर्शित करेंगे कि सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' का इन सवालों पर दृष्टिकोण मार्क्स, लेनिन और माओ की पहुँच और पद्धति से कोसों दूर है। इनकी पहुँच और पद्धति वास्तव में बोल्शेविक पार्टी में अलग-अलग समय पर पैदा हुई "वामपन्थी" विपक्षी धाराओं (अपोज़ीशंस), अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी विचलनों, और काउंसिल कम्युनिज़्म के ज़्यादा करीब पड़ती है। **दरअसल, अगर 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की सोवियत समाजवाद, बल्कि पूरे समाजवादी निर्माण पर, समझ की बात करें तो वह पार्टी में लेनिन के दौर में पैदा हुई कुछ "वामपन्थी" और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद के विचलनों की शिकार विपक्षी धाराओं जैसे कि 'डेमोक्रैटिक सेण्ट्रलिज़्म' ग्रुप (जिसके सदस्य वी.वी. ओसिंस्की, टी.वी. सप्रोनोव, व वी. स्मिर्नोव जैसे लोग थे), और वर्कर्स अपोज़िशन (जिसका नेतृत्व अलेक्ज़ैण्डर श्ल्यापनिकोव व अलेक्ज़ैण्ड्रा कोलोन्ताई कर रही थीं), की अवस्थितियों का एक दयनीय रूप से दरिद्र और हास्यास्पद मिश्रण है।** कहने का मतलब है कि ग़ैर-सर्वहारा व टटपुँजिया प्रवृत्तियों का यह घोल-मट्ठा भी समझदारी से नहीं तैयार किया गया है! इस शोध-प्रबन्ध में हम 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के सुजीत दास की पूरी अवस्थिति में निहित पहुँच और पद्धति की एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी आलोचना से शुरुआत करेंगे, और इस प्रक्रिया में एक हद तक हमारी पहुँच और पद्धति के कुछ तत्व भी स्पष्ट हो जायेंगे। इस

दौरान हमारा लक्ष्य एक तरफ़ सोवियत समाजवादी प्रयोगों के इतिहास के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और "वामपन्थी" विनियोग (एप्रोप्रियेशन) के तमाम प्रयासों की मार्क्सवादी-लेनिनवादी आलोचना होगा, और इस प्रक्रिया में मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद की क्रान्तिकारी मूल अन्तर्वस्तु पर उनके हमलों का जवाब देना होगा; वहीं दूसरी ओर हमारा लक्ष्य एक आलोचनात्मक मार्क्सवादी दृष्टिकोण से सोवियत संघ के समाजवादी प्रयोगों का विवेचन भी होगा, जिस प्रक्रिया में हम **चार्ल्स बेतेलहाइम, एडवर्ड हैलेट कार, मॉरिस डॉब** आदि जैसे सोवियत संघ के कुछ प्रमुख और प्राधिकार-सम्पन्न इतिहासकारों के इतिहास-लेखन का भी आलोचनात्मक विश्लेषण करेंगे। कहने की ज़रूरत नहीं है कि सोवियत समाजवादी प्रयोगों के इतिहास को रखते हुए उसके कुछ प्रमुख समकालीन आलोचकों की व्याख्याओं पर भी अपना दृष्टिकोण रखेंगे, जैसे कि **कार्ल काऊत्स्की, लियोन ट्रॉट्स्की (व उनके अनुयायी), डच "वामपन्थी कम्युनिस्ट" धारा, कार्ल कोर्श, रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग** आदि।

III. 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के सुजीत दास द्वारा सोवियत समाजवाद की अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी व "वामपन्थी" व्याख्या: पहुँच और पद्धति से जुड़े कुछ बुनियादी सवाल

जैसा कि हमने पहले भी कहा है, 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के सुजीत दास द्वारा सोवियत समाजवाद की 1930 के दशक में सफलताओं और असफलताओं के बारे लिखे गये लेख में तथ्यों को विकृत करने, अपने पूर्वाग्रहों के साथ उद्धरणों को सन्दर्भ से काटकर पेश करने और उस दौर के इतिहास का विकृतिकरण करने के जो प्रयास किये गये हैं, उन्हें हम आगे सोवियत समाजवाद के इतिहास पर सकारात्मक तौर से अपना विश्लेषण रखते हुए अनावृत्त करेंगे। सबसे पहले पहुँच और पद्धति से जुड़े कुछ बेहद ज़रूरी सवालों पर हम यह प्रदर्शित करने का प्रयास करेंगे कि सुजीत दास की पूरी पहुँच और पद्धति में नारेबाज़ी और जुमलेबाज़ी को छोड़ दें, तो कुछ भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी नहीं है। इसके लिए हम उनके लेख के उन हिस्सों को यहाँ पहले उद्धृत करेंगे, जिसमें उन्होंने सोवियत संघ के इतिहास से मनमाने तरीके से, सन्दर्भों से काटकर कुछ प्रकरण, तथ्य और आँकड़े रखने के बाद, अपने राजनीतिक निर्णय, मूल्यांकन, निष्कर्ष और मौलिक विचार रखे हैं। एक मार्क्सवादी सबसे पहले पहुँच और पद्धति के प्रश्न को उठाता है और उसके बाद तथ्यात्मक त्रुटियों, भूलों आदि की तरफ़ आगे बढ़ता है। यहाँ हम तथ्यात्मक ग़लतियों का ज़िक्र सिर्फ़ उस हद तक करेंगे, जितना कि सुजीत दास की पहुँच और पद्धति को अनावृत्त करने के लिए ज़रूरी है, और तथ्यात्मक त्रुटियों और अज्ञानवश या इरादतन किये गये विकृतिकरण और सन्दर्भ से तथ्यों और उद्धरणों को काटकर पेश करने की घटनाओं पर आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

1.) पूर्वधारणाएँ, प्रस्थान-बिन्दु और उनके पीछे मौजूद इरादे

सुजीत दास अपने लेख की शुरुआत कुछ पूर्वधारणाओं के साथ करते हैं। मिसाल के तौर पर, उनका मानना है कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर आज के समय तक जो रुझान हावी रही है, वह है समाजवादी प्रयोगों के प्रति एक **"सवाल न उठाने वाली वफ़ादारी के जड़त्व"** (सुजीत दास, 'दि प्रैक्टिस ऑफ सोवियत सोशलिज़्म इन दि थर्टीज़: सक्सेसेज़ एण्ड फेल्योर्स', *'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन', फरवरी 2008*, पृ. 74) की; उनका मानना है कि इस रुझान को तोड़ने की ज़रूरत है क्योंकि यह रुझान मानती है कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों में जो कुछ भी हुआ वह **"दैवीय आकाशवाणी के समान सही"** (*वही*) है। लेकिन कम्युनिस्ट आन्दोलन का यह चित्रण तथ्यात्मक रूप से ग़लत है। आज के समय में तो कम्युनिस्ट आन्दोलन के बारे में, एक सीमित अर्थ में, इसके ठीक उल्टी बात कही जा सकती है। विशेष तौर पर पिछले दो दशकों के दौरान कम्युनिस्ट पार्टियों से लेकर मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों तक में ग़ैर-पक्षधर और अनैतिहासिक ढंग से बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों को नकारने की एक रुझान पैदा हुई है। इन प्रयोगों की जटिलताओं से आलोचनात्मक रिश्ता कायम करने के दुरूह कार्य को हाथ में लेने की बजाय, सिरे से उनका अतिसरलीकृत खण्डन कर देने का आसान रास्ता अपनाने का लालच कई मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टियों और ग्रुपों को अपनी गिरफ्त में ले चुका है। पश्चिम बंगाल में तो विशेषकर इस तरह के खण्डनवादी रुझान ज़्यादा हावी हैं।

फिर आख़िर सुजीत दास यह दावा क्यों कर रहे हैं? यह दावा 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के इस लेख और अन्य लेखों के स्वर में अन्तर्निहित एक प्रवृत्ति का अंग है, जो कि हरेक बात पर 'यूरेका-यूरेका' चिल्लाती है। यह एक राजनीतिक नौदौलतियेपन की प्रवृत्ति है जो कि अपने हर विश्लेषण और आलोचना को 'इतिहास में प्रथम' सिद्ध करने का प्रयास करती है। इससे कोई विशेष असुविधा नहीं होती, बशर्ते कि यह विश्लेषण और आलोचना व्यापक अध्ययन और शोध पर आधारित होते और अपनी विषय-वस्तु के बारे में कोई नयी या मौलिक अन्तर्दृष्टि प्रदान करते। लेकिन यहाँ मामला बिल्कुल उल्टा है! **मिसाल के तौर पर, सोवियत समाजवाद पर सुजीत दास के लेख के अध्ययन से एक बात साफ़ तौर पर जाहिर हो जाती है–यह लेख बेहद अव्यवस्थित अध्ययन (वह भी पुस्तकों के फ्लैपों, समीक्षाओं और प्रस्तावनाओं के अध्ययन, पूरी पुस्तक के नहीं), अराजकतापूर्ण शोध (अगर इस लेख को सन्देह का लाभ देते हुए 'पैराफ्रेज़िंग' न कहकर 'शोध' कहा जा सके!), और स्रोतों की ठीक से पड़ताल किये बिना (स्रोतों के आलोचनात्मक विवेचन का तो अभी हम ज़िक्र भी नहीं करेंगे) लिखा गया है।** यह बात हम आगे तथ्यों और उदाहरणों के साथ प्रदर्शित करेंगे। दूसरी बात, जो लेख को पढ़ते ही स्पष्ट हो जाती है, वह यह है कि सोवियत समाजवाद का अध्ययन शुरू करने से पहले से ही लेखक के कुछ स्पष्ट और निश्चित अराजकतावाद-संघाधिपत्यवादी पूर्वाग्रह हैं और इन पूर्वाग्रहों से प्रस्थान करते हुए उसने किसी भी रचना को (जिसे उसने उद्धृत किया है) पूरा नहीं पढ़ा है। अपने पूर्वाग्रहों के अनुसार लेखक ने अलग-अलग किताबों से सन्दर्भों से काटकर उद्धरण दे दिये हैं, जिनके आगे अगर लेखक ने खुद पढ़ा होता तो उन उद्धरणों को रखने की वह जुर्रत भी नहीं करता। यह बात भी हम आगे तथ्य और उदाहरण के साथ प्रदर्शित करेंगे।

सुजीत दास की एक अन्य विचित्र पूर्वधारणा यह है कि सोवियत समाजवाद का अध्ययन करने के लिए 1930 का दशक आदर्श कालखण्ड है। इसके कारणों के तौर पर वह कुछ विशिष्ट कारण बताते हैं। एक कारण यह है कि इस दौर में सर्वश्रेष्ठ समाजवादी रूपान्तरण हुए, जैसे कि सामूहिकीकरण, पंचवर्षीय योजनाएँ, आदि (जिन "सर्वश्रेष्ठ रूपान्तरणों" पर बाकी लेख में सुजीत दास ने जमकर कीचड़ उछाला है)। इसके पहले नयी आर्थिक नीतियों (यहाँ से नेप) के उथल-पुथल का दौर था, और इसके बाद द्वितीय विश्वयुद्ध का दौर शुरू हो जाता है। **इसलिए श्री दास के अनुसार, 1930 के दशक में न तो कोई आन्तरिक संकट था और न ही बाह्य दबाव।** यह पूर्वधारणा भी तथ्यत: ग़लत थी। जहाँ तक आन्तरिक संकट का सवाल है, इसी दौर में बोल्शेविक पार्टी को अपने सबसे कठिन दौर से गुज़रना पड़ा था। यही वह दौर था जिसमें 'महान शुद्धीकरण' अभियान चला था; इस दौर में पार्टी में दो-लाइन के संघर्ष ने सबसे भयंकर रूप ग्रहण किया था। प्रतिक्रान्तिकारी गुटों द्वारा तोड़-फोड़ की गतिविधि चरम पर थी; 1934 में स्तालिन के करीबी साथी किरोव की हत्या के बाद बोल्शेविक पार्टी ने प्रतिक्रान्तिकारियों के ख़िलाफ़ सख़्त रुख़ अपनाया था। इस पूरे दौर में पार्टी के भीतर चले दो-लाइन के संघर्ष और सोवियत समाज में जारी सघन वर्ग संघर्ष पर हम आगे विस्तृत चर्चा करेंगे।

जहाँ तक बाहरी दबाव का सवाल है, तो यह सोचना कि द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत के बाद सोवियत संघ ने युद्ध के मुद्दे पर विचार और उसकी तैयारियाँ शुरू कीं थीं, मूर्खतापूर्ण नादानी की श्रेणी में आयेगा। 1933 में सत्ता में आते ही हिटलर के नेतृत्व में नात्सी पार्टी ने सोवियत संघ-विरोधी प्रचार, जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी का दमन, कम्युनिज़्म को यहूदियों के साथ जोड़ने और 'यहूदी बोल्शेविज़्म' को अपना निशाना बनाने का काम शुरू कर दिया था। सोवियत संघ के व्यापार मिशनों पर नात्सी जर्मनी में 1933-34 में ही पुलिस हमले शुरू कर दिये गये थे, साथ ही, सोवियत संघ के नागरिकों पर भी ऐसे हमलों और गिरफ़्तारियों की घटनाओं की कमी नहीं थी। अपनी जीवनी *मेइन कैम्फ* में हिटलर ने *लेबेनस्रॉम* (जर्मन राष्ट्र के अस्तित्व के लिए स्थान) की बात करते हुए स्पष्ट कर दिया था कि पूर्व में सोवियत रूस इसमें सबसे बड़ी बाधा है। सोवियत संघ की विदेश नीति 1930 के दशक में शुरुआती दौर में जर्मन आक्रामकता को न भड़काने और जर्मनी से करीबी कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करके टकराव को अधिकतम सम्भव टालने की थी। 1934 आते-आते जर्मनी और सोवियत संघ के सम्बन्ध काफ़ी कटु हो चुके थे और इसका तात्कालिक कारण था द्वितीय पोलिश गणराज्य के साथ हिटलर द्वारा की गयी अनाक्रमण सन्धि। उस समय पोलैण्ड का शासक जोसेफ़ पिल्सुदेस्की था, जो कि सोवियत संघ के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख़ रखता था। पिल्सुदेस्की ने फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया द्वारा सोवियत संघ को नात्सी-विरोधी मोर्चे में शामिल करने का विरोध तक किया था। बाद में, जर्मनी के रुख़ में आये अचानक बदलाव के कारण जर्मनी का पोलैण्ड पर हमला हुआ और इसी के साथ ही 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत हुई। इस बदलाव के पीछे विशिष्ट ऐतिहासिक कारण थे, जिन पर हम यहाँ विस्तार में नहीं जा सकते हैं। **लेकिन एक बात स्पष्ट है 1935-36 तक सोवियत संघ और बोल्शेविक पार्टी के सामने यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि जर्मन हमला होना अवश्यम्भावी है।** यह बस समय की बात थी, कि वह कब होगा। 1935 के बाद भी सोवियत संघ आर्थिक और कूटनीतिक स्तर पर जर्मनी से टकराव को टालने के लिए काम करता रहा, क्योंकि सोवियत

सरकार इस बात को समझ रही थी कि अगर टकराव तत्काल होता है, तो जर्मनी की सैन्य शक्तिमत्ता का मुकाबला करना कहीं ज़्यादा मुश्किल होगा। औद्योगिकीकरण और एक शक्तिशाली सैन्य मशीनरी के निर्माण के लिए सोवियत संघ को वक़्त चाहिए था, और वह वक्त उसे **रिब्बनट्रॉप-मोलोतोव अनाक्रमण सन्धि** से मिला। यह विश्व इतिहास का एक दिलचस्प अध्याय था। **लेकिन सुजीत दास इन सारे तथ्यों को नज़रअन्दाज़ करते हुए 1930 के दशक को सोवियत समाजवादी निर्माण का सबसे सुगम और आदर्श दौर मानते हैं, जब बोल्शेविक पार्टी आन्तरिक और बाह्य दबावों से मुक्त थी!**

हम मानते हैं कि 1930 के दशक को चुनने के पीछे सुजीत दास के वास्तविक कारण कुछ और हैं। 1920 के दशक को चुनने का अर्थ होता उन प्रक्रियाओं और नीतियों का विश्लेषण जिनकी शुरुआत पूरी तरह तो नहीं लेकिन काफ़ी हद तक **लेनिन** के समय में हुई थी। सुजीत दास अपने लेख में जिन नतीजों तक पहुँचते हैं, उन नतीजों तक उनका पहुँचना पूर्वनिर्धारित था, जैसा कि हम आगे उनके स्रोतों को उद्धृत करने, तथ्यों का चुनाव करने और ऐतिहासिक रचनाओं के विनियोग (एप्रोप्रियेशन) की विचित्र प्रणाली पर चर्चा करते हुए प्रदर्शित करेंगे। लेकिन सोवियत समाजवाद की आलोचना में लेनिन निश्चित तौर पर एक मुश्किल निशाना होते। इस मामले में स्तालिन पर पार्टी की तानाशाही से लेकर नौकरशाही तक का दोषारोपण कर देना, मज़दूर वर्ग को उत्पादन के साधनों से और ज़्यादा अलगावग्रस्त कर देना, ट्रेड यूनियनों और सोवियतों को पंगु करके एक गिरोह के हाथ में सत्ता संकेन्द्रित कर देना, आदि जैसे आरोप लगाना ज़्यादा आसान है। **स्तालिन एक नरम निशाना (सॉफ्ट टारगेट) हैं।** और 1930 के दशक को सोवियत समाजवाद के प्रयोगों की आलोचना के लिए चुनना इसीलिए सुजीत दास के लिए ज़्यादा सुविधाजनक है। ऐसे में, मार्क्सवादी-लेनिनवादी खेमे में उनकी और उनके संगठन की स्वीकार्यता ज़्यादा बेहतर तरीके से बनी रहेगी।

लेकिन वास्तव में सुजीत दास जिन अवधारणाओं के लिए बोल्शेविक पार्टी की आलोचना कर रहे हैं, वह वास्तव में लेनिनवादी अवधारणाएँ हैं और उन्हें अपने निशाने के रूप में खुले तौर पर लेनिन को ही रखना चाहिए था। और वस्तुतः उनका मूल हमला है भी लेनिनवाद और बोल्शेविज़्म के बुनियादी उसूलों पर। और चूँकि ऐसा वह अपने आपको लेनिनवादी कहते हुए कर रहे हैं, इसलिए यह और भी ख़तरनाक है। हम आगे दिखलाएँगे कि समाजवाद की पहचान, पार्टी की भूमिका, ट्रेड यूनियन की भूमिका, राज्य और पार्टी के रिश्ते, पार्टी और वर्ग के रिश्ते, पार्टी और ट्रेड यूनियन के रिश्ते और पार्टी और सोवियत के रिश्तों के बारे में सुजीत दास वास्तव में स्तालिन के दौर में पार्टी द्वारा हुई "ग़लतियों" की आड़ में लेनिन पर हमला कर रहे हैं और इस प्रक्रिया में अपने वास्तविक रंग को प्रच्छन्न रखने का प्रयास कर रहे हैं। यह रंग वास्तव में कम्युनिज़्म का नहीं बल्कि अराजकतावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और विसर्जनवाद का है। और यही उनका असली इरादा है: स्तालिन के बहाने और लेनिनवाद की आड़ में वास्तव में सोवियत संघ के इतिहास का, पार्टी, वर्ग और राज्यसत्ता के बारे में लेनिनवादी उसूलों का अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, "वामपन्थी" 'एप्रोप्रियेशन' करना।

अब हम एक-एक करके वे बुनियादी अवधारणात्मक मुद्दे लेंगे जिन पर 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की अवस्थिति सुजीत दास के लेख में पेश की गयी है और उन अवस्थितियों पर क्लासिकीय मार्क्सवाद की बुनियादी शिक्षाओं के नज़रिये से विचार करेंगे।

2) समाजवाद की पहचान, उत्पादन के साधनों पर 'प्रत्यक्ष उत्पादकों' के नियन्त्रण और राज्यसत्ता व अलगाव का प्रश्न

सुजीत दास के तमाम विभ्रमों के स्रोतों में सबसे अहम विचारधारात्मक विभ्रम का स्रोत हमें समाजवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना की पहचान की कसौटी को लेकर उनकी सोच में मिलता है। और सुजीत दास इस विभ्रम को मार्क्सवाद के सिद्ध सिद्धान्त के तौर पर बार-बार दुहराते हैं, और इस हद तक दुहराते हैं कि हास्यास्पद दिखने लगते हैं। आइये देखें सुजीत दास इसके बारे में क्या कहते हैं:

"...बिल्कुल शुरुआत में ही हमें यह प्राथमिक समझदारी बनानी होगी कि समाजवाद की पहचान कैसे करें। हालाँकि, इसके बारे में कई दृष्टिकोण हैं, यद्यपि हर व्यक्ति इस बुनियादी बिन्दु पर सहमत है कि यह प्रत्यक्ष उत्पादक का उत्पादन के साधनों से सम्बन्ध की पुनर्स्थापना है, जो कि प्रत्यक्ष उत्पादक के उत्पादन के साधनों से उस अलगाव को कदम-दर-कदम उन्मूलित करके सम्भव होता है, जो कि पूँजीवाद ने पैदा किया है।"

ऐसी अभिव्यक्तियाँ सुजीत दास ने पूरे लेख में बार-बार पूरे आत्मविश्वास के साथ दी हैं! दरअसल, वह जब भी सोवियत समाजवाद पर कोई तोहमत लगाते हैं तो अन्त यही कहकर करते हैं कि *'और इसलिए प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों से अलगाव नहीं मिटा'*, या *'इसका कारण यह था कि प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों से अलगाव था'*, या *'इससे प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों से अलगाव बढ़ गया'*, वगैरह! वह इस बात को इतनी बार दुहराते हैं कि आप बुरी तरह से ऊब जाते हैं। इस ऊब का मुख्य कारण यह नहीं है कि एक बात को दुहराया जा रहा है बल्कि इसका मुख्य और मूल कारण यह है कि एक मूर्खतापूर्ण बात को बार-बार आत्मविश्वास के साथ दुहराया जा रहा है। यह बात बार-बार दुहराने में सुजीत दास ने अपनी दो भयंकर रूप से भ्रमित अवधारणाएँ खोलकर रख दी हैं, जिन्हें सम्भवत: वह मार्क्सवादी समझते हैं।

पहली बात, किसी भी सामाजिक-आर्थिक संरचना के चरित्र के निर्धारण की मूल कसौटी के बारे में मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विचारों से सुजीत दास पूर्णत: अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। **सबसे पहली और सबसे ज़रूरी कसौटी है राज्यसत्ता का चरित्र।** किसी भी सामाजिक-आर्थिक संरचना के वर्ग चरित्र का निर्धारण सर्वप्रथम राज्यसत्ता के चरित्र से ही किया जा सकता है। इस मुद्दे पर आगे बढ़ने से पहले यहाँ हम एक भ्रम का निवारण करते हुए आगे बढ़ना चाहते हैं, जिसका शिकार तमाम ट्रॉट्स्कीपन्थी संगठन और 'सोशलिस्ट यूनिटी सेण्टर ऑफ़ इण्डिया' और उससे समय-समय पर निकले संगठन हैं, जिनकी पूरी पद्धति पर अभी भी ट्रॉट्स्कीपन्थ का प्रभाव है। राज्यसत्ता के चरित्र और उत्पादन सम्बन्धों के चरित्र में परिमाणात्मक अन्तर हो सकता है, लेकिन वे एक-दूसरे के विपरीत नहीं हो सकते। **जो भी राज्यसत्ता समाज में जारी वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया में नैसर्गिक तौर पर अस्तित्व में आयी है, वह उस समाज के वर्ग चरित्र के निर्धारण का बुनियादी पैमाना होगी।** मिसाल के तौर पर, फरवरी क्रान्ति रूसी समाज में जारी वर्ग संघर्ष के नतीजे के तौर पर हुई थी और नतीजतन फरवरी क्रान्ति के बाद जो आरज़ी सरकार अस्तित्व में आयी, वह उस समय के रूसी समाज में वर्ग संघर्ष के स्तर को प्रतिबिम्बित करती थी। एस.यू.सी.आई., उससे निकले कई संगठनों

और खुले और प्रच्छन्न ट्रॉट्स्कीपन्थी संगठनों का यह मानना है कि भारत में 1947 में चूँकि बुर्जुआ वर्ग सत्ता में आया इसलिए क्रान्ति की मंज़िल तत्काल ही समाजवादी हो गयी थी। यह भी एक किस्म की यान्त्रिकता है और निगमनात्मक पद्धति है, जो राज्यसत्ता और समाज में जारी वर्ग संघर्ष के बीच के रिश्ते को बिल्कुल भूल जाती है। भारत में बुर्जुआ सत्ता वर्ग संघर्ष की नैसर्गिक प्रक्रिया के जरिये नहीं आयी थी। यह एक समझौते के तहत आयी थी, जिसमें देश छोड़ कर जा रहे उपनिवेशवादियों ने उस वर्ग के हाथ में सत्ता सौंपी जिससे बाद में भी वे अपने साम्राज्यवादी आर्थिक हितों को बढ़ावा देने के लिए ज़्यादा सरलता और सुगमता के साथ सौदेबाज़ी कर सकें। बुर्जुआ वर्ग अभी भारत में स्वयं ऐसी स्थिति में नहीं था कि अपने बूते वह सत्ता में आ पाता। वर्ग शक्ति सन्तुलन में उसका पलड़ा भारी हो चुका था, लेकिन सामन्ती शक्तियों की तुलना में उसकी शक्ति इतनी भी नहीं थी कि वह उनसे सीधे टकरा पाता। नतीजतन, इस नवसत्तासीन बुर्जुआ वर्ग ने भूमि सुधार के ज़रिये कृषि में पूँजीवादी विकास का क्रान्तिकारी रास्ता अख़्तियार नहीं किया, बल्कि एक क्रमिक प्रक्रिया में आधे-अधूरे तरीके से होने वाले भूमि सुधारों का रास्ता चुना जिसकी प्रक्रिया आने वाले करीब दो दशकों तक जारी रही। नतीजतन, 1947 में गाँवों में जो स्थिति थी, उसमें समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल के अनुसार वर्ग मोर्चा बनना सम्भव नहीं था। जब तक गाँवों में उत्पादन सम्बन्ध प्रमुख रूप से पूँजीवादी नहीं बन जाते, तब तक ऐसा सम्भव नहीं था। रूस की स्थिति फरवरी क्रान्ति के पहले से ही काफ़ी भिन्न थी। रूसी कृषि मुख्य और मूल तौर पर प्रशियाई पथ के भूमि सुधारों द्वारा पूँजीवादी बन चुकी थी, जबकि भारत में यह प्रक्रिया बुर्जुआ वर्ग के सत्तासीन होने के बाद शुरू हुई थी। रूस में किसान आबादी फरवरी 1917 के पहले के दौर में, अभी भी ज़मीन की भूख का शिकार थी क्योंकि प्रशियाई पथ से होने वाला भूमि सुधार अभी प्रक्रिया में ही था और उसमें युंकरों से ज़मीन छीन कर, उसका राष्ट्रीयकरण करके पुनर्वितरण करने का काम नहीं किया जा रहा था। ऐसे में, किसान आबादी आर्थिक तौर पर मुख्य रूप से पूँजीवादी सम्बन्धों में प्रवेश कर चुकी थी, लेकिन उसके भीतर पूँजीवादी राजनीतिक चेतना अभी पकी नहीं थी। प्रतितथ्यात्मक (काउण्टरफैक्चुअल) इतिहास की पद्धति का अनुसरण करते हुए यह पूछा जा सकता है कि अगर वे अपवादस्वरूप पैदा हुई ऐतिहासिक स्थितियाँ न पैदा होंती, जिनका लेनिन ने ज़िक्र किया था और जिनके कारण बोल्शेविक क्रान्ति 1917 में हुई, और अगर रूसी क्रान्ति तीन या चार दशक बाद होती, जिनके दौरान क्रमिक प्रक्रिया के तहत होने वाला प्रशियाई भूमि सुधार पूर्ण होता, परिपक्व होता और किसानों की आबादी का ध्रुवीकरण और सुदृढ़ होता और पकता तो क्या सोवियत समाजवादी क्रान्ति को किसानों के लिए भूमि के पुनर्वितरण की आज्ञप्ति लागू करनी पड़ती? शायद नहीं! **रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग** की किसान प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी की नीति की आलोचना और **कार्ल काऊत्स्की** के इस आरोप का, कि रूसी क्रान्ति केवल एक जनवादी क्रान्ति है, लेनिन ने यही जवाब दिया था। लेकिन हम इस मुद्दे पर आगे वापस लौटेंगे; फिलहाल सुजीत दास के लेख पर वापस चलते हैं।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद के महज़ बुनियादी उसूलों की भी समझ रखने वाला व्यक्ति यह जानता है कि किसी सामाजिक-आर्थिक संरचना की पहचान राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र से होती है। अगर सर्वहारा वर्ग की हिरावल कम्युनिस्ट पार्टी ने सर्वहारा अधिनायकत्व की सत्ता की स्थापना कर दी है, तो आपको यह मानना होगा कि वह सामाजिक संरचना

समाजवादी है। कोई भी अन्य कसौटी इसके बाद आती है। लेकिन सुजीत दास इस कसौटी का ज़िक्र तक नहीं करते हैं। यह कहना पर्याप्त नहीं है कि राज्यसत्ता का प्रश्न भी महत्वपूर्ण है, लेकिन मूल कसौटी उत्पादन के साधनों से उत्पादक वर्ग के अलगाव के ख़त्म होने का है। **राज्यसत्ता का प्रश्न केवल महत्वपूर्ण नहीं है, यह मूल और मुख्य है।** यह सबसे बड़ा विभ्रम है, जिसके सुजीत दास शिकार हैं। उनका मानना है कि अलगाव का ख़त्म होना समाजवाद की पहचान की मूल कसौटी है। वास्तव में, उन्होंने समाजवाद की पहचान और समाजवाद से कम्युनिज़्म की ओर संक्रमण की प्रक्रिया की पहचान के मानकों को आपस में मिला दिया है और यही उनके इस विभ्रम का सबसे बड़ा स्रोत है। आगे हम इस पर विस्तार से बात रखेंगे। लेकिन इसी मूल विभ्रम से सुजीत दास अपने दूसरे विभ्रम पर आ जाते हैं।

यह विभ्रम है अलगाव की परिघटना के बारे में सिरे से ग़लत समझदारी। अलगाव के पूरे सवाल को हल करने का सुजीत दास एक सीधा और सरल रास्ता बताते हैं जो कि समाजवादी सत्ता सोवियत संघ में कोई कानून या आज्ञप्ति पास करके हासिल कर सकती थी। यह सीधा-सरल रास्ता है कि प्रत्यक्ष उत्पादकों को सीधे उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण दे दिया जाय। यानी कि कारखानों का नियन्त्रण कारखाने के मज़दूरों को सौंप दिया जाय, सामूहिक फार्मों का नियन्त्रण उस पर काम करने वाले किसानों के समूहों को सौंप दिया जाय, और क्या पैदा करना है, कैसे पैदा करना है और उत्पादन के साधनों का उपयोग कैसे करना है, उत्पादन प्रक्रिया और श्रम प्रक्रिया का निर्धारण कैसे करना है, ये सब सीधे प्रत्यक्ष उत्पादक तय करेगा। **यानी, अलगाव को ख़त्म करने और उत्पादक के उत्पादन के साधनों के 'प्रत्यक्ष नियन्त्रण' के बीच में सुजीत दास ने 'इज़ इक्वल टू' का चिन्ह रख दिया है।** पहली बात तो यह है कि यह अलगाव की परिघटना की शर्मनाक रूप से अधकचरी और अधूरी समझदारी है। यह दिखलाती है कि सुजीत दास को न सिर्फ 1917 से 1929 तक के सोवियत समाजवाद और बोल्शेविक पार्टी में चली बहसों के बारे में ठीक से नहीं पता है, बल्कि उन्हें वास्तव में 1930 के दशक के सोवियत समाजवाद और बोल्शेविक पार्टी के भीतर मौजूद दो लाइनों के संघर्ष के बारे में भी बहुत ही सीमित जानकारी है, और ऐसा लगता है कि यह सीमित जानकारी भी उन्हें किताबों की 'प्रस्तावना' व फ्लैप पढ़कर और विषय सूची से "अपने काम की सूचना" निकालकर उन्हें प्राप्त हुई है। **यह जानकारी जिस अवस्थिति को जन्म देती है वह दरअसल बोल्शेविक पार्टी में अलग-अलग समय पर पैदा हुए "वामपन्थी" विपक्षों की अवस्थितियों और काउंसिल कम्युनिज़्म की अवस्थितियों का एक बेहद मज़ाकिया मिश्रण है।** अब अलगाव के सवाल पर मार्क्स और लेनिन के दृष्टिकोण की कसौटी पर इस अवस्थिति को रखते हैं।

मार्क्स **'1844 की आर्थिक व दार्शनिक पाण्डुलिपियाँ'** में लिखते हैं:

"स्वयं राजनीतिक अर्थशास्त्र के ही आधार पर, उसी की भाषा में, हमने दिखलाया है कि मज़दूर एक माल के स्तर पर पहुँच जाता है और वास्तव में मालों में भी सबसे अभागा माल बन जाता है; कि प्रतिस्पर्द्धा का अनिवार्य परिणाम है कुछ हाथों में पूँजी का संचय, और इस प्रकार सबसे भयंकर रूप में एकाधिकार की स्थापना; और कि अन्त में...पूरे समाज का दो वर्गों में बँट जाना–*सम्पति के स्वामी* और सम्पत्तिहीन *मज़दूर।*

"राजनीतिक अर्थशास्त्र निजी सम्पत्ति से ही शुरुआत करता है; यह उसकी व्याख्या नहीं करता...राजनीतिक अर्थशास्त्र श्रम और पूँजी के बीच विभाजन, और पूँजी और

भूमि के बीच विभाजन पर कोई रोशनी नहीं डालता...अब, इसीलिए, हमें निजी सम्पत्ति, लालच, श्रम, पूँजी और भूमि के विभाजन; विनिमय और प्रतिस्पर्द्धा के बीच, मूल्य और मनुष्य के अवमूल्यन के बीच, एकाधिकार और प्रतिस्पर्द्धा आदि के बीच आन्तरिक सम्बन्ध को समझना है–हमें *मुद्रा* की व्यवस्था के साथ जुड़े हुए सम्पूर्ण अलगाव को समझना है।...हम एक *वास्तविक* आर्थिक तथ्य से शुरुआत करते हैं।

"मज़दूर जितनी समृद्धि पैदा करता है, जितना उसका उत्पादन अपनी शक्ति और आकार को बढ़ाता है, वह उतना ही दरिद्र होता जाता है। वह जितने माल पैदा करता है, वह उतना ही सस्ता माल बनता जाता है। मनुष्यों की दुनिया का *अवमूल्यन* वस्तुओं की दुनिया के *बढ़ते मूल्य* के साथ प्रत्यक्ष समानुपात में होता है। श्रम न सिर्फ़ माल पैदा करता है, यह स्वयं को और मज़दूर को भी एक माल के रूप में पैदा करता है–और यह उसी दर से होता है जिस दर से वह आम तौर पर मालों का उत्पादन करता है।

"यह तथ्य महज़ इतना बताता है कि श्रम जिस वस्तु को पैदा करता है–श्रम का उत्पाद–वह उसके सामने *एक परायी* चीज़ के रूप में खड़ा हो जाता है, उत्पादक से *स्वतन्त्र एक शक्ति* के रूप में खड़ा हो जाता है। श्रम का उत्पाद वह श्रम है जो कि एक वस्तु में मूर्त रूप ग्रहण कर चुका है, जो भौतिक बन चुका है: यह श्रम का *वस्तुकरण* है। श्रम की अनुभूति इसका वस्तुकरण है। इन आर्थिक स्थितियों के तहत श्रम की यह अनुभूति मज़दूरों के लिए *अनुभूति के खो जाने* के रूप में प्रकट होती है; वस्तुकरण *वस्तु के खो जाने और उसकी गुलामी के रूप में; हस्तगतीकरण बेगानेपन के रूप में, अलगाव के रूप में*" (मार्क्स, *इकोनॉमिक एंड फिलोसॉफिकल मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844,* पाँचवाँ संशोधित अंग्रेज़ी संस्करण, 1977, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 66-68, अनुवाद हमारा)

मार्क्स की अलगाव की सोच यहाँ बिल्कुल स्पष्ट है। **मार्क्स के अनुसार जो चीज़ अलगाव की पूरी परिघटना के मूल में है वह है एक परायी शक्ति द्वारा श्रम के उत्पाद का हस्तगतीकरण (एप्रोप्रियेशन)।** निश्चित तौर पर, इसकी एक अभिव्यक्ति पूँजीवादी समाज में इस रूप में प्रकट होती है कि प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों पर कोई नियन्त्रण नहीं रह जाता है। लेकिन अलगाव की पूरी परिघटना को ही नियन्त्रण के सवाल पर अपचयित कर देना वास्तव में रोग के मूल को रोग के लक्षण के साथ गड्डमड्ड कर देना है। जाहिर है, कि निजी सम्पत्ति की सम्पूर्ण व्यवस्था में अलगाव अपने पूरे शत्रुतापूर्ण रुख़ के साथ मज़दूर के समूचे अस्तित्व पर हमला कर देता है। मज़दूर जितनी वस्तुएँ अपने श्रम के ज़रिये और प्रकृति का उपयोग करके पैदा करता है, उतना ही वह अपने श्रम के उत्पाद से भी दूर होता जाता है और उतना ही वह प्रकृति से भी बेगाना होता जाता है। **यहाँ पर इस पूरी परिघटना का मूल कारण क्या है? पूँजी के स्वामियों द्वारा, यानी पूँजीपतियों द्वारा श्रम के उत्पाद का हस्तगतीकरण; एक शत्रुतापूर्ण शक्ति द्वारा मेहनत के उत्पाद का हस्तगतीकरण; इस उत्पाद के अम्बार के बढ़ने के साथ मज़दूर के अलगाव और दरिद्रता का बढ़ते जाना।** यहाँ पर यह ज़िक्र करना भी ज़रूरी है कि जिस प्रकार उत्पाद (माल पूँजी) श्रम का वस्तुकृत रूप है, वैसे ही संचित मौद्रिक पूँजी स्वयं और कुछ नहीं बल्कि भण्डारित श्रम (स्टोर्ड लेबर) है। पूँजी संचय का सीधा रिश्ता इस बात से है कि मज़दूर जो माल पैदा करता है वह उसका नहीं होता। और यहाँ मार्क्स अलग-अलग मज़दूरों, या एक कारखाने के मज़दूरों, या एक उद्योग या सेक्टर के मज़दूरों की बात नहीं कर रहे हैं। वे समूचे मज़दूर वर्ग

की बात कर रहे हैं। पूरा मार्क्सवादी अर्थशास्त्र व्यक्ति-आधारित नहीं बल्कि समष्टि-आधारित विश्लेषण पर आधारित है। और इस समष्टि की इकाई मार्क्सवादी विश्लेषण में वर्ग है। **संक्षेप में कहें तो मार्क्स के लिए अलगाव की पूरी आर्थिक परिघटना का सबसे बुनियादी पहलू यह है कि पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग के श्रम के उत्पाद का हस्तगतीकरण करता है।** और इसमें श्रमशक्ति का स्वयं एक माल बन जाना सबसे मूल कारक है। यही पूँजीवादी आर्थिक शोषण की कुंजीभूत कड़ी है, जिसे समझे बग़ैर पूँजीवादी शोषण को समझा नहीं जा सकता है।

इसके बाद मार्क्स अलगाव के दूसरे पहलू पर आते हैं। आइये देखें वह इसे किस रूप में व्याख्यायित करते हैं।

"अभी तक हमने मज़दूर के बेगानेपन, उसके अलगाव के केवल एक पहलू पर विचार किया है, यानी, मज़दूर *के उसके श्रम के उत्पाद के साथ सम्बन्ध के पहलू पर।* लेकिन यह अलगाव केवल परिणाम में अभिव्यक्त नहीं होता बल्कि *उत्पादन की कार्रवाई* में, स्वयं *उत्पादक गतिविधि* में भी अभिव्यक्त होता है। मज़दूर अपनी गतिविधि के उत्पाद से एक अजनबी की तरह टकराये ऐसा कैसे सम्भव होगा, अगर वह उत्पादन की कार्रवाई के दौरान ही अपने आपको खुद से अलग नहीं कर रहा होगा? उत्पाद आखिर उसकी, उत्पादन की गतिविधि का ही तो निचोड़ है। अगर फिर श्रम का उत्पाद अलगाव है, तो उत्पादन को भी सक्रिय अलगाव, गतिविधि का अलगाव और अलगाव की गतिविधि होना चाहिए। श्रम की वस्तु के अलगाव में श्रम की गतिविधि में मौजूद बेगानेपन, अलगाव का ही सार प्रस्तुत होता है।

"फिर आखिर अलगाव कैसे पैदा होता है?

"पहली बात, यह तथ्य कि श्रम मज़दूर के लिए *बाह्य* है, यानी कि वह उससे आन्तरिक प्रकृति से नहीं जुड़ा है; कि वह अपने काम में इसीलिए, अपनी पुष्टि नहीं करता बल्कि अपना नकार करता है, सन्तुष्ट महसूस नहीं करता, बल्कि नाखुश रहता है, अपनी शारीरिक और मानसिक ऊर्जा का मुक्त विकास नहीं करता बल्कि अपने शरीर को मृत बनाता जाता है और अपने मस्तिष्क को बरबाद कर देता है। इसलिए मज़दूर अपने आपको तभी महसूस कर पाता है जब वह काम के बाहर होता है।...इसलिए उसका श्रम स्वैच्छिक नहीं बल्कि *ज़बरिया श्रम* है। इसलिए यह किसी आवश्यकता की पूर्ति नहीं है; यह उसके लिए बाह्य आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए एक *माध्यम* मात्र है। इसका अलगावपूर्ण चरित्र उसी समय जाहिर हो जाता है कि जब कोई शारीरिक या अन्य बाध्यता नहीं होती, तो श्रम से वह वैसे ही दूर भागता है जैसे कि प्लेग से।...श्रम की यह बाह्य प्रकृति इस तथ्य में दिखती है कि यह उसका श्रम नहीं है, बल्कि किसी और का है, कि वह उसका मालिक नहीं है, और श्रम करते समय इसीलिए वह स्वयं का मालिक नहीं होता, बल्कि उसका मालिक कोई और होता है।" (*वही*, पृ. 70-71)

मार्क्स इस बात को यहाँ आईने की तरह साफ़ कर देते हैं कि अलगाव की परिघटना का दूसरा पहलू स्वयं उत्पादन की गतिविधि में है। **इस उत्पादन की गतिविधि में वह किसी और के लिए श्रम कर रहा होता है, और जाहिर-सी बात है ऐसा श्रम वह स्वेच्छा से नहीं कर सकता है, बल्कि ज़बरिया तौर पर ही कर सकता है।** यह ज़बर्दस्ती प्रत्यक्ष हो सकती

है या भौतिक आवश्यकताओं द्वारा थोपी हुई हो सकती है। किसी भी सूरत में वह यह बात जानता है कि उसे इस श्रम का मोल नहीं मिलने वाला; उसे उसकी श्रम शक्ति, जो कि स्वयं माल है, उसकी कीमत मिलने वाली है। और बुनियादी मार्क्सवाद समझने वाला व्यक्ति जानता है किसी माल का मूल्य और दाम कैसे तय होते हैं। हम यहाँ इसके विस्तार में नहीं जाएँगे। मार्क्स आगे इस पूरी बात का सारांश रखते हुए कहते हैं:

"हमने व्यावहारिक मानवीय गतिविधि, यानी श्रम के अलगाव की कार्रवाई को इसके दो पहलुओं में समझा है। (1) मज़दूर का अपने *श्रम के उत्पाद* से एक परायी वस्तु के तौर पर रिश्ता जो कि उस पर शासन कर रही है।...(2) श्रम का *श्रम प्रक्रिया* के भीतर *उत्पादन की कार्रवाई* से एक परायी गतिविधि के तौर पर रिश्ता, जो कि उसके लिए नहीं है।" (*वही*, पृ. 71-72)

मार्क्स ने इसके बाद अलगाव की प्रक्रिया और पूँजीवादी निजी सम्पत्ति के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हुए बताया है कि बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों के लिए अलगाव निजी सम्पत्ति का नतीजा था; लेकिन वास्तव में इसका उल्टा होता है। निजी सम्पत्ति अलगाव का नतीजा होती है क्योंकि निजी सम्पत्ति और कुछ नहीं संचित पूँजी है और हम पहले ही देख आये हैं कि पूँजी और कुछ नहीं बल्कि परकीकृत भण्डारित श्रम (रीइफाइड स्टोर्ड लेबर) है। यहीं से हम अपनी मूल चर्चा पर वापस आ सकते हैं।

मार्क्स ने अलगाव की पूरी प्रक्रिया के जिन दो पहलुओं की बात की है, जो वास्तव में एक दूसरे से घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं, उसी के आधार पर अलगाव को दूर करने की पूरी कम्युनिस्ट परियोजना के दो पहलुओं की बात की जा सकती है। **इस प्रक्रिया की शुरुआत का पहला चरण सर्वहारा वर्ग द्वारा अपना अधिनायकत्व और अपना राज्य स्थापित करने और उसके साथ निजी सम्पत्ति के कानूनी तौर पर उन्मूलन के साथ ही शुरू हो सकता है।** अक्टूबर 1917 में जो हुआ वह इसी चरण की शुरुआत थी। और यह चरण सामूहिकीकरण की प्रक्रिया समाप्त होने के साथ पूरा हुआ जब उद्योग से लेकर कृषि के क्षेत्र तक निजी सम्पत्ति के तमाम रूपों का उन्मूलन हुआ। जाहिर है, निजी सम्पत्ति के कानूनी तौर पर उन्मूलन के साथ पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध पूर्णत: समाप्त नहीं हो जाते। लेकिन इस चरण को पूरा किये बग़ैर आगे बढ़ने की बात सोची भी नहीं जा सकती है। सभी कारखानों, खानों-खदानों, भूमि और बैंकों के सामूहिक सम्पत्ति बने बग़ैर उत्पादन प्रक्रिया और श्रम प्रक्रिया में निहित अलगाव के स्रोतों को ख़त्म नहीं किया जा सकता है। **कहा जा सकता है कि निजी सम्पत्ति का ख़ात्मा मज़दूर वर्ग के अलगाव को समाप्त करने की दिशा में एक महान ऐतिहासिक कदम होता है, और सोवियत संघ में स्तालिन के नेतृत्व में मज़दूर वर्ग ने इस काम को अंजाम दिया।**

इससे पहले कि हम अलगाव को ख़त्म करने की कम्युनिस्ट परियोजना के दूसरे चरण की बात करें एक बात को स्पष्ट कर देना ज़रूरी है। **समाजवाद के पूरे ऐतिहासिक संक्रमण काल के दौरान उत्पादन प्रक्रिया और श्रम प्रक्रिया में निहित अलगाव पूरी तरह ख़त्म नहीं हो सकता है।** क्योंकि समाजवादी संक्रमण के दौरान भी उत्पादों के हस्तगतीकरण का एक पहलू मौजूद होता है। अभी भी उजरती श्रम मौजूद होता है; अभी हर किसी को उसके श्रम के अनुसार वेतन मिलता है; अभी 'सभी से उनकी क्षमता के अनुसार, और सभी को उनकी आवश्यकता के अनुसार' का कम्युनिस्ट सिद्धान्त लागू नहीं होता है। ऐसा तभी हो सकता है

जब माओ के शब्दों में 'क्रान्ति पर पकड़ बनाये रखते हुए उत्पादन को बढ़ाते जाने' की प्रक्रिया को निरन्तर आगे बढ़ाया जाय और इस प्रक्रिया में अधिरचना के धरातल पर सतत् क्रान्ति करते हुए, एक ओर शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम, कृषि और उद्योग व शहर और गाँव का फ़र्क मिटाया जाय और वहीं दूसरी ओर उत्पादन को बढ़ाते हुए प्रचुरता की मंज़िल तक पहुँचाया जाय। केवल इसी प्रक्रिया के अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचने के साथ अलगाव का ख़ात्मा हो सकता है। सुजीत दास का यह कहना कि सोवियत समाजवाद के प्रयोगों के दौर में उत्पादक वर्ग का उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण नहीं था और इसलिए उसका अलगाव बना हुआ था, और इसीलिए सोवियत समाजवाद इस दौर में महज़ 'कागज़ी समाजवाद' था, यह दिखलाता है कि वह समाजवादी संक्रमण के दौर की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक गतिकी को नहीं समझते हैं। उन्हें लगता है कि अगर पार्टी ने 'प्रत्यक्ष उत्पादकों' का उत्पादन के साधनों पर तत्काल नियन्त्रण स्थापित कर दिया होता, तो अलगाव का ख़ात्मा हो गया होता। इससे पता चलता है कि न तो वह अलगाव की पूरी परिघटना को समझते हैं, और न ही समाजवादी संक्रमण को। हर चीज़ को अपचयित करके 'प्रत्यक्ष उत्पादकों' के नियन्त्रण पर ला दिया जाता है।

यहाँ एक और बात सुजीत दास नहीं समझते कि समाजवादी राज्यसत्ता के स्थापित होने और निजी सम्पत्ति के ख़ात्मे के चरण के समाप्त होने के बाद समाजवादी समाज में जिन रूपों में उत्पादन प्रक्रिया और श्रम प्रक्रिया में अलगाव मौजूद होता है, उसकी पूँजीवादी समाज में मौजूद मज़दूर वर्ग के अलगाव से कोई तुलना नहीं की जा सकती है, जैसा कि उन्होंने बार-बार करने का प्रयास किया है। ऐसा वह इसलिए कर रहे हैं क्योंकि उनके पूरे लेख में जो एक चीज़ ग़ायब है वह है वर्ग विश्लेषण। यह सच है जब तक मज़दूर वर्ग एक वर्ग के तौर पर उत्पादन-सम्बन्धी, श्रम प्रक्रिया सम्बन्धी और शासन-सम्बन्धी सभी निर्णय स्वयं लेना नहीं सीखता है, तब तक अलगाव का एक तत्व आर्थिक तौर मौजूद रहता है। इस पर हम आगे चर्चा करेंगे। लेकिन जब तक मज़दूर वर्ग का हिरावल उसे संस्थाबद्ध नेतृत्व देते हुए निर्णय लेना सिखाता है और स्वयं निर्णय लेता है, जब तक मज़दूर वर्ग के श्रम के उत्पादों का राजकीय एजेंसियों द्वारा परकीकरण होता है, तब तक यह सवाल पूछा जाना चाहिए कि **यहाँ हस्तगतीकरण करने वाली शक्ति कौन-सी है?** निश्चित तौर पर राज्यसत्ता और उसके निकाय। और **इस राज्यसत्ता का वर्ग चरित्र क्या है?** इसकी चारित्रिक आभिलाक्षणिकता है सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व। **सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का, लेनिन के शब्दों में, प्रमुख उपकरण क्या है?** सर्वहारा वर्ग की पार्टी। **पार्टी का सर्वहारा चरित्र किस बात से तय होता है?** उसके नेतृत्व, नीतियों और काडर शक्ति के (इसी क्रम से) चरित्र से। लेनिन के इस कथन पर ग़ौर करें: **"...कोई पार्टी वास्तव में मज़दूरों की राजनीतिक पार्टी है या नहीं, यह बात पूरी तरह मज़दूरों की सदस्यता होने पर निर्भर नहीं करती है, बल्कि उन लोगों पर भी निर्भर करती है जो उसका नेतृत्व करते हैं, इसकी कार्रवाइयों की अन्तर्वस्तु और इसके राजनीतिक रणकौशल पर भी निर्भर करती है।"** (लेनिन, **'कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की दूसरी कांग्रेस: ब्रिटिश लेबर पार्टी से सम्बन्ध पर भाषण'**, *संग्रहीत रचनाएँ,* खण्ड-31, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, 1966, पृ. 257-58) अब इन अन्तर्दृष्टियों की रोशनी में अगर हम पूछें कि 1917 से 1953 तक के सोवियत संघ में मौजूद राज्यसत्ता और पार्टी का चरित्र क्या था तो जवाब क्या होगा? इस पर सुजीत दास को

जब अलग से एक सामान्य बात कहनी होती है, तो वह मानते हैं कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी सत्ता में थे, पार्टी क्रान्तिकारी थी और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व था। लेकिन जब वे अपने विवरणों में जाते हैं, तो अन्त में अन्तरविरोधी नतीजे पर पहुँच जाते हैं और ऐसे अर्थहीन दावे करने लगते हैं कि 'वर्ग का अधिनायकत्व नहीं था, पार्टी का अधिनायकत्व था'; 'सर्वहारा अधिनायकत्व तो महज़ कागज़ों पर था'; 'मज़दूर वर्ग निष्क्रिय हो गया था, उसकी ट्रेड यूनियनें और सोवियतें पार्टी की नौकर बन गयी थीं', वगैरह। इन मुद्दों पर हम आगे आयेंगे क्योंकि सोवियतों की भूमिका, पार्टी की भूमिका, ट्रेड यूनियनों की भूमिका और सर्वहारा वर्ग की भूमिका के आपसी सम्बन्धों के बारे में सुजीत दास की पूरी सोच वही है जो 'वर्कर्स अपोज़िशन', 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' ग्रुप, काउंसिल कम्युनिस्टों और मारियो ट्रॉण्टी के 'मज़दूरवाद' आदि जैसी अराजकतावादी और संघाधिपत्यवादी रुझानों की थी। और उसका जवाब देने के लिए हमें लेनिन, स्तालिन और माओ को उद्धृत करने से ज़्यादा कुछ करने की ज़रूरत नहीं होगी; इस काम को हम आगे एजेण्डे पर लेंगे।

लेकिन अभी हम सुजीत दास के इस विरोधाभास को उनकी नादानी मान लेते हैं और उनके मूल्य-आधारित निर्णयों (वैल्यू जजमेण्ट) को उनका ईमानदार कथन मानते हैं। यह सन्देह का लाभ देने पर देखें तो ऊपरी तौर पर वे मानते हैं कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व था और पार्टी अभी भी क्रान्तिकारी थी। अब इस सर्वहारा राज्य और उसके निकाय द्वारा मज़दूर वर्ग के उत्पादों का हस्तगतीकरण हो रहा है, तो इस रूप में तो अभी भी अलगाव मौजूद है कि अभी उत्पादन और शासन-सम्बन्धी सभी निर्णय स्वयं कम्यूनों में संगठित समूचा मज़दूर वर्ग नहीं ले रहा है, लेकिन यह भी सच है कि **समाजवादी संक्रमण से गुज़र रहे एक समाज में मौजूद इस अलगाव और पूँजीवादी समाज में मज़दूर वर्ग जिस अलगाव का शिकार होता है, उसमें बहुत फर्क है। यह फर्क क्या है? यह फर्क यह है कि पूँजीवादी समाज में हस्तगतीकरण किया गया अधिशेष पूँजीपति वर्ग के हाथों में संचित होता हुआ मज़दूर वर्ग के लिए एक विशाल शत्रुतापूर्ण शक्ति बन जाता है, जो उसे बाद में सड़कों पर खदेड़ देता है और उसके जीवन की बुनियादी शर्तों से भी उसे महरूम कर देता है। लेकिन समाजवादी संक्रमण काल में ऐसा नहीं होता। समाजवादी संक्रमण काल में हस्तगतीकृत अधिशेष संचित होकर वापस मज़दूर वर्ग के ही जीवन के स्तरोन्नयन और बेहतरी के लिए वापस लौटता है। 1917 से 1956 के बीच में सोवियत संघ ने समूची मेहनतकश आबादी के जीवन को अभूतपूर्व रूप से स्तरीय और उत्कृष्ट बनाया था, जिसे कि ग़ैर-मार्क्सवादी ईमानदार प्रेक्षक भी मानने को मजबूर थे। निश्चित तौर पर, अभी इस पूरी प्रक्रिया को स्वयं मज़दूर वर्ग नहीं संचालित कर रहा है बल्कि उसके उन्नत तत्व उसकी हिरावल पार्टी के नेतृत्व में संचालित कर रहे हैं।** लेकिन मज़दूर वर्ग जानता है कि समाज के सभी संसाधन उसकी साझा सम्पत्ति हैं और वह एक वर्ग के तौर पर उनका मालिक है और यह भी कि अपनी हिरावल पार्टी के जरिये वह ही शासन कर रहा है। उसके अलगाव के सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक रूप काफ़ी हद तक दब जाते हैं। एक आर्थिक परिघटना के तौर पर भी अलगाव के ख़ात्मे का पहला चरण पूरा हो चुका होता है।

दूसरा चरण तब तक पूरा नहीं हो सकता है जब तक कि शासन-सम्बन्धी और उत्पादन-सम्बन्धी सभी कार्यों को मज़दूर वर्ग धीरे-धीरे स्वयं अपने हाथ में लेने की स्थिति में नहीं पहुँच जाता है। यह एक अहम सवाल है कि सोवियत संघ में बोल्शेविक पार्टी इस काम

को अंजाम दे पायी या नहीं। इस पूरे मुद्दे पर हम आगे चर्चा करेंगे, जब हम समाजवादी संक्रमण के दौरान पार्टी के कार्यभारों पर बात करेंगे। लेकिन एक बात तय है कि मज़दूर वर्ग सोवियत समाजवादी समाज में अलगाव से एक हद तक मुक्त हुआ था, न कि उसका अलगाव बढ़ा था। सर्वहारा अधिनायकत्व और सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना और निजी सम्पत्ति के समाज के हर क्षेत्र से ख़ात्मे के साथ अलगाव को दूर करने की ऐतिहासिक परियोजना का एक चरण पूरा हुआ था। इसके साथ मज़दूर वर्ग के भीतर सर्वहारा राज्यसत्ता, पार्टी और समाज पर अपने नियन्त्रण पर भरोसा पैदा हुआ था। इसके बिना न तो स्ताखानोवाइट आन्दोलन, शॉक वर्क टीम, पब्लिक टगबोट आन्दोलन, कम्युनिस्ट सुब्बोतनिक आदि जैसी शानदार सर्वहारा पहलें होतीं और न ही सोवियत संघ के सवा दो करोड़ मेहनतकश अपनी मज़दूर सत्ता की हिफ़ाज़त के लिए नात्सी जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध में क़ुर्बानी देते। लेकिन सुजीत दास को शक़ है कि यह सारे काम आन्तरिक विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रेरणा से कम और पार्टी की ज़ोर-ज़बर्दस्ती से ज़्यादा हुआ था! अब कोई पहले से तय करके बैठा हो कि उसे क्या साबित करना है, तो ऐतिहासिक तथ्य और सच्चाइयाँ भी उसके सामने से हताश होकर लौट जाती हैं!

यहाँ एक आर्थिक परिघटना के तौर पर अलगाव के समाजवादी संक्रमण में मौजूद रहने को गहराई से समझना ज़रूरी है। जैसा कि माओ ने बताया था, समाजवादी समाज में अभी तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ यानी मानसिक और शारीरिक श्रम, उद्योग और कृषि और गाँव और शहर में अन्तर मौजूद होता है। जब तक यह अन्तर मौजूद होता है तब तक पूँजीवादी श्रम विभाजन भी मौजूद होता है; कुशल और अकुशल के बीच का अन्तर मौजूद होता है; बुर्जुआ अधिकार भी तब तक मौजूद रहते हैं। जाहिर है कि जब तक श्रम विभाजन मौजूद रहेगा तब तक विनिमय सम्बन्ध और विनिमय मूल्य बने रहेंगे। माल का अस्तित्व बना रहेगा क्योंकि अभी भी वस्तुओं का उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य दोनों बने रहेंगे। लिहाज़ा, अभी भी माल उत्पादन बना रहेगा और उजरती श्रम का अस्तित्व भी बरकरार रहेगा क्योंकि लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त नहीं करेंगे बल्कि अपने श्रम के उत्पाद का मोल हासिल करेंगे। जब तक विनिमय सम्बन्ध बने रहेंगे तब तक श्रम के उत्पाद के हस्तगतीकरण का तत्व मौजूद रहेगा। और हम मार्क्स से इस बात को जानते हैं कि अलगाव की आर्थिक परिघटना का मूल और कुछ नहीं बल्कि श्रम के उत्पाद का हस्तगतीकरण है। यह पूरी स्थिति, जैसा कि हमने पहले बताया है, समूचे समाजवादी संक्रमण काल में मौजूद रहती है। यह एक घटता हुआ रुझान हो सकता है या एक बढ़ता हुआ रुझान। इस पर हम आगे चर्चा करेंगे कि सोवियत संघ के समाजवादी प्रयोगों में, विशेषकर स्तालिन के दौर में यह रुझान घट रहा था या बढ़ रहा था, और जो भी घटित हो रहा था उसका कारण क्या है।

लेकिन अभी हम सुजीत दास के लेख पर वापस चलेंगे। हम बता चुके हैं कि प्रचुरता की मंज़िल आये बग़ैर और तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं के अधिरचना के धरातल पर सतत् क्रान्ति, उत्पादन सम्बन्धों के सतत् क्रान्तिकारी रूपान्तरण के बग़ैर समाजवादी संक्रमण को कम्युनिस्ट समाज की मंज़िल तक नहीं पहुँचाया जा सकता है, और तब तक अलगाव को पूरी तरह से ख़त्म नहीं किया जा सकता है। लेकिन सुजीत दास अलगाव को ख़त्म करने का एक सीधा-सरल रास्ता सुझाते हैं। वह मानते हैं कि समाजवादी संक्रमण के दौरान यदि सोवियत संघ में मज़दूरों और किसानों को उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण दे दिया गया

होता तो यह अलगाव समाप्त हो गया होता! वह यह नहीं बताते कि ऐसा करने के लिए बोल्शेविक पार्टी और सोवियत राज्य को क्या करना चाहिए था; मसलन, क्या उन्हें कोई कानून पास करके सभी कारखाने उनमें काम करने वाले मज़दूरों के नियन्त्रण में सौंप देने चाहिए थे? क्या उन्हें कोई आज्ञप्ति जारी करके सभी सामूहिक व सहकारी फार्मों और यहाँ तक कि निजी फार्मों को उसमें काम करने वाले किसानों के नियन्त्रण में सौंप देना चाहिए था? उसी प्रकार बैंकों को बैंक के कर्मचारियों के नियन्त्रण में, खानों-खदानों को उनमें काम करने वाले मज़दूरों के हाथ में, रेलवे को रेल मज़दूरों के हाथ में.....वगैरह?

इसमें दो बातें हैं। एक तो सुजीत दास को पता नहीं है कि क्रान्ति के बाद तुरन्त यह प्रयोग हुआ था जिसके भयंकर नतीजे सामने आये थे। इन पर हम आगे बात रखेंगे। और दूसरी बात यह कि अगर अलगाव की पूरी परिघटना को प्रत्यक्ष उत्पादक के नियन्त्रण के बारे में कोई कानून पास करके, आज्ञप्ति या कार्यकारी आदेश जारी करके ख़त्म करना सम्भव होता तो समाजवादी संक्रमण की अवधि एक दिन की होती, जिसमें कि सर्वहारा राज्यसत्ता ये सारी आज्ञप्तियाँ बनाकर आत्म-विलोपन कर लेती और समाज कम्युनिज़्म की मंज़िल में प्रवेश कर जाता! अगर कम्युनिस्ट समाज (यानी कि अलगावरहित समाज) तक पहुँचने का रास्ता इतना सीधा और सुगम था और रूसी क्रान्तिकारियों को इतनी मामूली-सी बात और इतना आसान सा रास्ता समझ में नहीं आया तो दो ही सम्भावनाएँ हो सकती हैं: या तो बोल्शेविक पार्टी बेहद नौसिखुआ और नादान थी, या फिर सुजीत दास मूर्खतापूर्ण बात कर रहे हैं! इनमें से कौन-ी सम्भावना सही है, यह फैसला हम आप पर छोड़ते हैं!

अब हम एक बार अपनी अभी तक की बात को समेटना चाहेंगे। **पहली बात**, समाजवाद के पहचान की पहली कसौटी राज्यसत्ता का वर्ग चरित्र है। अगर अलगाव के ख़ात्मे को समाजवाद की पहचान का पैमाना बना दिया जाय तो सुजीत दास को मानना पड़ेगा कि दुनिया में कभी कहीं समाजवाद नहीं था! तब फिर सोवियत संघ को 1917 से 1929 और फिर 1929 से 1953 के बीच समाजवादी क्यों माना जाय? इसके अलावा, अगर इन सबके बाद भी राज्यसत्ता के सवाल को नज़रअन्दाज़ करते हुए आप सोवियत संघ को किसी तरह समाजवादी मानते भी हैं, तो आपको यह मानना पड़ेगा कि 1956 में सोवियत संघ में ख्रुश्चेव के सत्ता में आने के बाद भी एक अपूर्ण (इम्पर्फेक्ट) समाजवाद ही था। अगर राज्यसत्ता और पार्टी के वर्ग चरित्र के सवाल को गोल कर दिया जाय, तो सबकुल गोलमगोल हो जाता है! और यही हालत सुजीत दास की इस लेख में हो गयी है। अगर अलगाव का होना या न होना समाजवाद के होने या न होने का पैमाना है और स्तालिन काल में और विशेषकर 1930 के दशक में मज़दूर वर्ग अलगाव का शिकार था, तो फिर सोवियत संघ में कभी समाजवाद नहीं था। बल्कि कहना चाहिए कि दुनिया में कभी भी कहीं समाजवाद नहीं था। सुजीत दास को फिर यह भी कहना चाहिए कि 1953 के पहले के और 1953 के बाद के सोवियत संघ में कोई फर्क नहीं था। स्पष्ट है कि सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' मार्क्सवाद की बुनियादी शिक्षा को भूल गये हैं। किसी भी समाज और व्यवस्था के चरित्र का निर्धारण राजनीतिक तौर पर होता है और इसीलिए राज्यसत्ता का सवाल प्रमुख बन जाता है।

दूसरी अहम बात यह है कि सुजीत दास अलगाव की पूरी परिघटना को नहीं समझते हैं। वह अलगाव की पूरी परिघटना को प्रत्यक्ष उत्पादकों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण पर लाकर ख़त्म कर देते हैं। यह एक किस्म का अर्थवादी निर्धारणवाद ही है, कह सकते हैं कि एक किस्म

का "वामपन्थी" आर्थिक निर्धारणवाद। हम आगे देखेंगे कि लेनिन इस 'प्रत्यक्ष उत्पादकों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण' की अवधारणा को क्यों टटपुँजिया मानसिकता का प्रतीक मानते थे। लेकिन अभी यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि अलगाव की समस्या को प्रत्यक्ष उत्पादकों के नियन्त्रण से समानुपातिक वस्तु के रूप में जोड़ देना, मार्क्सवाद-लेनिनवाद का विकृतिकरण है। यह बताता है कि श्री दास ने मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों का अध्ययन किये बिना ही अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों, ट्रेडयूनियनवादियों और विसर्जनवादियों द्वारा लिखी गयी सोवियत संघ की आलोचनाएँ पढ़ ली हैं और उन्हें कुछ ज़्यादा ही गम्भीरता से ले लिया है!

यहीं से हम सुजीत दास के विश्लेषण प्रणाली के एक अन्य अहम नुक्ते पर आते हैं–वर्ग, पार्टी, राज्यसत्ता और ट्रेड यूनियन के आपसी रिश्तों का सवाल।

3) वर्ग, पार्टी, सर्वहारा अधिनायकत्व, राज्यसत्ता, फैक्टरी कमेटियाँ और ट्रेड यूनियनें

क) सोवियत संघ में ट्रेड यूनियन और फैक्टरी कमेटियों के प्रश्न पर बहसें, उस पर लेनिनवादी अवस्थिति और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' का अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद

पूरे सामूहिकीकरण की प्रक्रिया और उसमें पार्टी और राज्य की भूमिका के बारे में सुजीत दास की जो अवस्थिति है, उसमें सोवियत संघ का राज्य और बोल्शेविक पार्टी एक निरंकुश तानाशाह और अत्याचारी के रूप में प्रकट होते हैं। चूँकि ऐसा सिद्ध करने के अपने प्रयास में सुजीत दास द्वारा तथ्यों और उद्धरणों का मनमाने ढंग से और सन्दर्भ से काटकर चुनाव किया गया है और अपने पूर्वाग्रहों के अनुसार उन्होंने अपनी बात साबित करने की कोशिश की है, इसलिए इन तथ्यों, उद्धरणों आदि की सच्चाई की पड़ताल भी हम आगे करेंगे, जब सोवियत संघ के इतिहास का अपना सकारात्मक मूल्यांकन हम रखेंगे और उस दौर की बात करेंगे, जिसकी सुजीत दास कर रहे हैं। फिलहाल हम 'प्रत्यक्ष उत्पादकों' द्वारा उत्पादन के साधनों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण की उनकी अन्धपूजा, और इसके द्वारा वर्ग, पार्टी, राज्यसत्ता और ट्रेड यूनियनों के बारे में उनकी समझ के बारे में कुछ बातें कहना चाहेंगे जो मार्क्सवादी पहुँच और पद्धति के सन्दर्भ में महत्व रखती हैं।

देखिये कि सुजीत दास क्या कहते हैं:

"...अगर वर्ग संगठन, यानी, उत्पादक वर्ग/वर्गों का अपना संगठन हर दिन बढ़ता नहीं जा रहा है, तो प्रत्यक्ष उत्पादक का उत्पादन के सम्बन्धों से अलगाव घट नहीं सकता है। लेकिन अगर इस वर्ग की राजनीतिक शक्ति विकसित नहीं हो रही है, तो यह शक्ति किसी छोटी सी मण्डली के हाथों में केन्द्रित हो जायेगी – चाहे इसके विपरीत कुछ भी कहा जाय। फिर, प्रत्यक्ष उत्पादक के इस अलगाव को कैसे दूर किया जा सकता है? सोवियतें सोवियत संघ में वह संस्था हो सकती थीं जिनके जरिये प्रत्यक्ष उत्पादकों की राजनीतिक शक्ति मूर्त रूप ले सकती थी। लेकिन सामूहिकीकरण आन्दोलन के पूरे कालखण्ड के दौरान यह देखा गया कि किसानों की सोवियतों की भूमिका परिधिगत थी। वे संस्थाएँ क्रमिक प्रक्रिया में मज़बूत नहीं बल्कि, कमज़ोर बनती गयीं; राज्य और पार्टी सापेक्षिक तौर पर मज़बूत बनते गये।

सामूहिकीकरण आन्दोलन के पूरे कालखण्ड के दौरान, किसान समितियों को बस ऊपर से, यानी पार्टी से आने वाले निर्णयों पर सिर हिलाकर सहमति देने की भूमिका में धकेल दिया गया था।" (*'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन'*, फरवरी 2008, पृ. 82-83)

किसान सोवियतों और किसान समितियों (इसके बारे में सुजीत दास कोई बात नहीं कहते, हालाँकि क्रान्ति की पूरी प्रक्रिया के दौरान और उसके बाद भी इनकी भूमिका कई मायनों में किसान सोवियतों से ज़्यादा महत्वपूर्ण थी) की भूमिका के साथ वास्तव में क्या हुआ था और क्यों हुआ था इसके बारे में हम बाद में बात करेंगे। अभी हम इस पूरे बयान में निहित विचारधारात्मक और राजनीतिक अवस्थिति की पहचान करके उसका विश्लेषण करेंगे। लेकिन पहले ऐसे कुछ और पाण्डित्यपूर्ण उद्गारों को देखें! एक जगह पर सुजीत दास बताते हैं कि समाजवाद के विकास की एक अन्य महत्वपूर्ण शर्त है कि गाँवों और शहरों के बीच की दूरी घटे, लेकिन सोवियत संघ में सामूहिकीकरण के दौरान गाँव और ग्रामीण अर्थव्यवस्था लगातार बुरी हालत में पहुँचते गये; भूमि लगान बढ़ा दिया गया, मनमाने तरीके से अधिशेष का विनियोजन किया गया, और किसानों पर ज़बरिया श्रम थोप दिया गया और कई बार उन्हें ज़बरन खानों-खदानों और कारखानों में काम करने के लिए भेज दिया गया। इसके बाद दास कहते हैं: *"इन कदमों ने बिरले ही समाजवाद का विकास किया, उन्होंने उल्टे पूँजीवाद की स्थापना की।"* (*'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन'*, फरवरी 2008, पृ. 83) अभी हम यहाँ सुजीत दास द्वारा तथ्यों के साथ तोड़-मरोड़ और ज़ोर-ज़बर्दस्ती के पहलू को छोड़ भी दें (जिसे हम बाद में अनावृत्त करेंगे) तो भी उनकी यह टटपुँजिया लोकरंजक सोच खुलकर सामने आ जाती है कि समाजवादी संक्रमण के दौरान किसानों के एक हिस्से के साथ समाजवादी राज्य को ज़बर्दस्ती नहीं करनी पड़ेगी। कम-से-कम मार्क्स और लेनिन की यह सोच नहीं थी। लेनिन ने बार-बार, अलग-अलग समय में और कई जगहों पर यह स्पष्ट किया है कि **ग्रामीण क्षेत्र में समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों का आधार तैयार करने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी किसान आबादी के जिस हिस्से पर निर्भर रह सकती है वह है ग़रीब किसान (अर्द्धसर्वहारा) और ग्रामीण सर्वहारा आबादी; किसान आबादी का जो हिस्सा ढुलमुल-यकीन मित्र है, वह है मँझोले किसान; और ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ समाजवादी रूपान्तरण की यह पूरी प्रक्रिया चलायी जायेगी।** स्वयं देखें कि लेनिन क्या कहते हैं: **"बुर्जुआ वर्ग माल उत्पादन से पैदा होता है; जिस किसान के पास सैकड़ों पूड अनाज का अधिशेष है जिसकी उसे अपने और अपने परिवार के लिए ज़रूरत नहीं है और जिसे वह मज़दूरों के राज्य को भूखे मज़दूरों की सहायता के लिए ऋण के तौर पर नहीं देता, और माल उत्पादन की प्रभावी परिस्थितियों में उसके बूते पर मुनाफ़ा कमाता है–वह क्या है? क्या वह बुर्जुआ नहीं है? क्या बुर्जुआ वर्ग इसी तरीके से पैदा नहीं होता है?"** (लेनिन, सातवीं अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस)

लेनिन ने कई जगहों पर यह भी स्पष्ट किया था कि मँझोले किसान का चरित्र दोहरा है। एक तरफ़ वह अपने खून-पसीने के बूते उत्पादन करता है, वहीं दूसरी ओर वह कई बार छोटे पैमाने पर उजरती श्रम का शोषण करता है और अधिशेष विनियोजन करता है। उसके सपने कुलकों और धनी किसानों जैसा बन जाने के होते हैं। इसीलिए वह समाजवादी एजेण्डे के साथ सघन और सचेतन राजनीतिक प्रचार के साथ ही आयेगा और हमें इस मुगालते में भी नहीं रहना चाहिए कि पूरी की पूरी मँझोली किसानी समाजवाद के पक्ष में आ जायेगी, जैसा

कि **चार्ल्स बेतेलहाइम** ने अपनी पुस्तक **'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष'** के पहले खण्ड में यक़ीन दिलाने की कोशिश की है। लेनिन स्पष्ट थे कि मँझोले किसानों का एक हिस्सा कुलकों के पक्ष में जाकर खड़ा होगा और एक हिस्सा सक्रिय तौर पर कुलकों के पक्ष में न जाकर भी एक 'पैस्सिव' असहयोग की नीति पर काम करेगा। इन हिस्सों के साथ समाजवादी राज्य को समाजवादी निर्माण की प्रक्रिया में कभी न कभी ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी ही होगी, और इसमें सुजीत दास के अचम्भित, चकित और सन्न रह जाने का कोई कारण नहीं समझ में आता है कि सामूहिकीकरण के दौरान ज़ोर-ज़बर्दस्ती भी हुई थी (हालाँकि मुख्य पहलू ज़ोर-ज़बर्दस्ती का नहीं बल्कि राजनीतिक प्रेरण का था, जिसे सुजीत दास एक कृत्रिम कारक मानते हैं)! स्तालिन ने इसी सोच के तहत यह सवाल पूछा था कि जिन मज़दूरों ने हाड़ गलाकर किसानों को ट्रैक्टर और मशीनें दीं, क्या अब उन्हें किसानों के व्यक्तिगत हितों को देखने की टटपुँजिया आदत के कारण भूखा मरने के लिए छोड़ दिया जाय? लेनिन ने पहले ही इस विषय में अपनी सोच स्पष्ट कर दी थी। सातवीं अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में ही लेनिन ने कहा था कि जब देश के मेहनतकश भूख से तड़प रहे हों, तो धनी या खाते-पीते मँझोले किसानों की मुनाफ़ाखोरी और निजी पूँजी संचय की प्रवृत्ति से सर्वहारा राज्य सख़्ती से निपटेगा। लेनिन ने इसी कांग्रेस में किसानों द्वारा मुनाफ़ाखोरी और सट्टेबाज़ी के बारे में कहा था: **"हम इसके ख़िलाफ़ खून की आख़िरी बूँद तक लड़ेंगे। इस मामले में कोई छूट नहीं दी जा सकती है।"** लेनिन की इस सोच का क्या अर्थ है? लेनिन ने स्वयं ही स्पष्ट किया है कि इस सोच का यह अर्थ है कि मँझोले किसानों की आबादी के प्रति पार्टी पहले उदाहरण पेश करके नेतृत्व करने, उन्हें धैर्यपूर्वक सहमत करने और साथ लेने का अप्रोच अपनायेगी; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि पूरी की पूरी मँझोले किसानों की आबादी को सहमत करके समाजवादी एजेण्डे पर लाया जा सकता है; इसलिए लेनिन यह बताते हैं कि जो हिस्सा सहमत नहीं होता, उसके प्रति पहले उसे तटस्थ करने (न्यूट्रलाइज़ करने) की रणनीति को अपनाया जाना चाहिए जिसका अर्थ होगा कि अगर वे समाजवादी निर्माण के कार्य में साथ नहीं आते, तो वे उसे नुकसान भी न पहुँचाएँ और कुलकों का पक्ष न चुनें। और मँझोले किसानों की जो आबादी फिर भी कुलकों और धनी फार्मरों के राजनीतिक प्रभाव में प्रतिक्रान्ति के पक्ष में जाकर खड़ी होगी, समाजवादी राज्य निश्चित तौर पर उसके प्रति दमन की नीति अपनायेगा। लेनिन को इस सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं था कि राज्यसत्ता का क्षेत्र दमन का क्षेत्र है। हम इन मुद्दों पर लेनिन की पूरी सोच को कुछ आगे उद्धरणों समेत आपके सामने रखेंगे। लेकिन अभी सुजीत दास के "बौद्धिक" वटवृक्ष से "कम्युनिस्ट" बोधि-ज्ञान की थोड़ी और प्राप्ति कर ली जाय! सुजीत दास लिखते हैं:

"इस जटिल परिदृश्य को कैसे देखा जाय, इसकी व्याख्या कैसे की जाय, यह आज एक बेहद महत्वपूर्ण मुद्दा बन गया है। पश्चिमी विचारकों ने, जिन्होंने इस पूरे दौर को पार्टी के नेतृत्व में पूँजीवाद के आदिम संचय के दौर के तौर पर चित्रित किया है, वे श्रम बाज़ार और पूँजी बाज़ार की अनुपस्थिति को नहीं समझा पाते, जो कि पूँजीवाद के दो बुनियादी गुण हैं। दूसरी तरफ़, रूढ़िवादी मार्क्सवादी जो यह कहना पसन्द करते हैं कि यह पूरा दौर शुद्ध 'समाजवाद' का था, इस बात की व्याख्या नहीं कर पाते कि प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों से <u>अलगाव</u> क्रमिक प्रक्रिया में बढ़ क्यों रहा था। वास्तव में, यह पूरा दौर एक <u>'मिश्रित'</u> दौर था। इसे पूँजीवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो लोग सत्ता में थे, वे न तो पूँजीवादी थे

और न ही पूँजीवादी पथगामी। उनका राजनीतिक लक्ष्य था समाजवाद का निर्माण करना, सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना करना। हम इस दौर को उसी रूप में समाजवादी कह सकते हैं जिस तौर पर लेनिन ने 1918 या 1921 के सोवियत गणराज्य को समाजवादी कहा था।" (*वही*, पृ. 83-84)

देखिये कि इसमें सुजीत दास अपनी ही बात में कैसे उलझ गये हैं। साथ ही सुजीत दास ने यह भी बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि दक्षिणपन्थी अवसरवादी संशोधनवादियों, "वामपन्थी" कम्युनिस्टों और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों में एक चीज़ साझा होती है: अर्थवाद! **पहली बात**, सुजीत दास मार्क्स और लेनिन के इस विचार को नहीं समझते हैं कि पूँजीवाद की मौजूदगी श्रम बाज़ार और पूँजी बाज़ार की औपचारिक मौजूदगी के बग़ैर भी हो सकती है। लेनिन ने कहा था कि पूँजी एक सामाजिक सम्बन्ध है। यह सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन और उसके उत्पादों के हस्तगतीकरण की सामाजिक प्रक्रिया से तय होता है। इस पूरी प्रक्रिया का वर्ग चरित्र इस बात से तय होता है कि जो हस्तगतीकरण कर रहा है उसकी वर्ग पहचान क्या है। जहाँ तक श्रम बाज़ार और पूँजी बाज़ार का प्रश्न है, वह सोवियत संघ में 1956 के बाद भी तत्काल नहीं पैदा हो गया था और उसमें दशकों लगे थे। **तो क्या 1956 के बाद के सोवियत संघ को समाजवादी माना जाय?** इसके अलावा, पूँजीवाद बिना औपचारिक निजी सम्पत्ति, पूँजी बाज़ार और श्रम बाज़ार के अस्तित्वमान रह सकता है, इसकी ताईद तो एंगेल्स ने ही कर दी थी। इस मामले में सुजीत दास फिर से राजनीति को कमान में रखने की बजाय अर्थशास्त्र को कमान में रख रहे हैं, वह भी दयनीय रूप से दरिद्र रूप में। यहाँ यह भी पता चलता है कि सोवियत संघ में समाजवादी संक्रमण और पूँजीवादी पुनर्स्थापना को लेकर 1960, 1970 और 1980 के दशकों में मार्क्सवादियों के विभिन्न खेमों के बीच चली बहसों बारे में भी सुजीत दास को कोई जानकारी नहीं है। वास्तव में, सुजीत दास पूँजी और श्रम बाज़ार की मौजूदगी को पूँजीवाद की उपस्थिति या अनुपस्थिति का पैमाना मान रहे हैं, उसी प्रकार कीन्सीय मार्क्सवाद के हामी **पॉल स्वीज़ी** ने भी "बाज़ार" और "योजना" के 'बाइनरी' को पेश किया था और सोवियत संघ में 1956 हुई पूँजीवादी पुनर्स्थापना को लेकर विभ्रमित थे। पॉल स्वीज़ी ने यही ग़लती की थी; उन्होंने भी बाज़ार की मौजूदगी को पूँजीवाद का पैमाना माना था और नियोजन की मौजूदगी को समाजवाद का पैमाना माना था। **चार्ल्स बेतेलहाइम** ने इस बहस में अपेक्षाकृत सन्तुलित तर्क रखते हुए स्वीज़ी का खण्डन किया था। इस बहस में दिलचस्पी रखने वाले लोग **'ऑन दि ट्रांज़िशन टू सोशलिज़्म'** पुस्तक देख सकते हैं, जो कि 'मन्थली रिव्यू प्रेस' ने 1971 में प्रकाशित की थी। सुजीत दास का पूँजीवाद की पहचान के लिए श्रम और पूँजी बाज़ार की मौजूदगी का तर्क वस्तुत: अर्थवादी, कीन्सवादी तर्क है जिसका मार्क्सवाद-लेनिनवाद की अवस्थिति से बार-बार खण्डन किया जा चुका है। वास्तव में, **रेमण्ड लोटा, ऐल शिमैंस्की** आदि के बीच भी समाजवादी संक्रमण को लेकर एक बहस चली थी और उसमें भी यह मुद्दा उठा था और कमोबेश मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति से रेमण्ड लोटा ने अर्थवादी संशोधनवादी अवस्थिति का खण्डन किया था। इन सभी ग़ैर-मार्क्सवादी अवस्थितियों में जो बात सामान्य है वह है भोंड़े किस्म का अर्थवाद और राज्य के प्रश्न को न समझना। सुजीत दास इसी अवस्थिति को और भी ज़्यादा बचकाने और भोंड़े तौर पर आपके सामने रखते हैं।

सुजीत दास आगे बताते हैं कि इस दौर को समाजवादी सिर्फ़ इस रूप में कहा जा सकता

है कि जो लोग सत्ता में हैं उनका इरादा समाजवादी निर्माण करना और सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना करना है, जैसा कि लेनिन ने 1918 या 1921 के दौर के सोवियत गणराज्य के बारे में कहा था। मतलब कि सुजीत दास को मई-जून 1918 (यानी कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर के शुरू होने के पहले) तक और मार्च, 1921 के बाद अस्तित्वमान स्थिति (यानी "युद्ध कम्युनिज़्म" के समाप्त होने के बाद), यानी, सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत "राजकीय पूँजीवाद" के दौर और 1930 के दशक के सोवियत संघ के बीच कोई फर्क नहीं नज़र आता! यह विचित्र बात है क्योंकि सामूहिकीकरण के बाद कृषि के क्षेत्र में समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना के साथ ही नेप के दौर से एक गुणात्मक परिवर्तन आ चुका था। अब स्थिति यह नहीं थी कि राज्यसत्ता का चरित्र सर्वहारा अधिनायकत्व का है और कृषि क्षेत्र में, जो कि पूरी अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा क्षेत्र था, निजी पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्ध बने हुए हैं। सामूहिकीकरण के आन्दोलन के बाद पहली बार सोवियत संघ में सम्पत्ति सम्बन्धों के धरातल पर पूँजीवाद का ख़ात्मा हो चुका था। यहाँ दुहराने की ज़रूरत नहीं है कि सम्पत्ति सम्बन्ध ही सम्पूर्ण उत्पादन सम्बन्ध नहीं होते। लेकिन निश्चित तौर पर उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण की शुरुआत सम्पत्ति सम्बन्धों से ही होती है। 1918 से 1921 के बीच सर्वहारा अधिनायकत्व के स्थापित होने और कुछ चुनिन्दा बड़े उद्योगों के राजकीयकरण के अलावा सम्पत्ति सम्बन्धों के रूपान्तरण का काम भी नहीं हुआ था। यह काम स्तालिन के नेतृत्व में 1930 के दशक में ही पूरा हुआ। लेकिन सुजीत दास को इन दोनों दौरों के बीच कोई फर्क नहीं नज़र आता है। समूची अर्थव्यवस्था में सामूहिक सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना जैसे महान ऐतिहासिक परिवर्तन को नज़रअन्दाज़ वही कर सकता है, जो पहले से तय किसी नतीजे पर पहुँचने की जल्दी में हो और इस जल्दी में वह राजनीतिक रूप से दृष्टिहीन हो चुका हो। निश्चित तौर पर, समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना के बाद भी उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण का काम जारी रहता है और अगली मंज़िल में प्रवेश करता है। सोवियत संघ में अगली मंज़िल का काम कहाँ तक हो पाया और कहाँ तक नहीं, यह एक अलग चर्चा का विषय है, और इस पर हम आगे विस्तार से अपनी बात रखेंगे, जब हम सोवियत समाजवाद और विशेष तौर पर स्तालिन के दौर में हुई ग़लतियों और समाजवादी निर्माण को लेकर बोल्शेविक पार्टी की असन्तुलित समझदारी का आलोचनात्मक विश्लेषण करेंगे। लेकिन अभी हम सुजीत दास की विचित्र तर्क-पद्धति और विचारधारात्मक-राजनीतिक नेत्रहीनता पर ही अपनी बात को केन्द्रित करेंगे।

आगे सुजीत दास यहाँ कहते हैं कि कुछ रूढ़िवादी मार्क्सवादी सोवियत समाजवाद के पूरे दौर को "शुद्ध 'समाजवाद'" का दौर मानते हैं। अब यह "शुद्ध 'समाजवाद'" क्या होता है, यह तो दास ही बता सकते हैं; और हमारी जिज्ञासा इस बात में भी है कि इस "शुद्ध 'समाजवाद'" में धार्मिक आस्था रखने वाले "रूढ़िवादी मार्क्सवादी" कहाँ पाये जाते हैं! दूसरी बात, सुजीत दास के इस कथन से यह भी पता लगता है कि वह खुद भी एक प्रकार के "शुद्ध समाजवाद" के अनुयायी हैं। उनके लिए समाजवाद की शुद्धता इस बात में है कि 'प्रत्यक्ष उत्पादक' उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण कर रहा है या नहीं। लेकिन चूँकि सुजीत दास को अपना वाला "शुद्ध समाजवाद" सोवियत संघ में नहीं दिखता, और चूँकि वे स्तालिन और उनके दौर की पार्टी को संशोधनवादी या पूँजीवादी पथगामी भी नहीं कहना चाहते, इसलिए यहाँ सुजीत दास ने समाजवादी संक्रमण की समस्याओं के क्षेत्र में एक नया, आँखें

चुँधिया देने वाला, चकित-अचम्भित कर देने वाला आविष्कार किया है! वे इस दौर को न तो पूँजीवादी मानते हैं, और न ही समाजवादी! वह इसको एक 'मिश्रित' दौर बोलते हैं क्योंकि सर्वहारा अधिनायकत्व के साथ-साथ उत्पादन सम्बन्ध मूलतः पूँजीवादी बने हुए थे (हालाँकि ऐसा नहीं था; अगर मूल और मुख्य पहलू की बात की जाय तो उत्पादन सम्बन्ध समाजवादी थे) और इस दौर की तुलना उन्होंने राजकीय पूँजीवाद के दौर से की है। **पहली बात तो यह कि राजकीय पूँजीवाद के दौर और सामूहिकीकरण के दौर की उत्पादन सम्बन्धों के धरातल पर मुश्किल से ही तुलना हो सकती है।** कह सकते हैं कि ये दौर गुणात्मक तौर पर भिन्न थे क्योंकि उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण की पहली मंज़िल, यानी कि पूँजीवादी निजी सम्पत्ति का अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों से ख़ात्मा, का काम पूरा हो चुका था। यहाँ पर निरन्तरता का पहलू प्रधान नहीं है बल्कि परिवर्तन का पहलू प्रधान है। सुजीत दास के इस कथन से एक बार फिर यह बात प्रतीत हो रही है कि उन्होंने सोवियत इतिहास पर कोई भी विश्वस्नीय ब्यौरा, शोध या पुस्तक शुरू से अन्त तक नहीं पढ़ी है; उन्होंने पहले से तय कर रखा था कि उन्हें क्या साबित करना है, और फिर उसे साबित करने के लिए विषय-तालिका की मदद से उन्होंने अपने मनपसन्द तथ्य और उद्धरण छाँट लिये हैं। उन्हें न तो 1930 के दशक के पहले सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण के बारे में कुछ ठीक से पता है, और न ही 1930 के दशक के बारे में। यहाँ सकारात्मक तौर पर समाजवादी संक्रमण के बारे में हम कुछ बातें कहना चाहेंगे।

एक, अगर सुजीत दास समाजवादी और पूँजीवादी दोनों तत्व की मौजूदगी के कारण इस दौर को न तो समाजवादी कहना चाहते हैं और न ही पूँजीवादी, तो फिर पता नहीं वह किस चीज़ को क्या कहना चाहते हैं! क्योंकि समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर की यह ख़ासियत रहेगी ही कि इसमें पूँजीवादी और समाजवादी तत्वों का मिश्रण होगा और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कायम होगा। समाजवादी संक्रमण के दौर की ख़ासियत ही यही है कि इस दौर में राज्यसत्ता सर्वहारा वर्ग के हाथ में होती है और साथ में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण का कार्य जारी रहता है। इस मायने में समाजवादी क्रान्तियाँ बुर्जुआ क्रान्तियों से भिन्न होती हैं। इस बारे में **ग्यॉर्गी लूकाच** ने लेनिन की अवस्थिति को बहुत सटीक तरीके से संक्षेप में रखा है। लूकाच कहते हैं:

"क्योंकि समाजवाद कभी 'अपने से' नहीं आ सकता है, और न ही किसी अपरिहार्य प्राकृतिक आर्थिक विकास के तौर पर आ सकता है। पूँजीवाद के प्राकृतिक नियम निश्चित तौर पर उसे उसके अन्तिम संकट की तरफ़ ले जाते हैं, लेकिन इसकी राह के अन्त में समस्त सभ्यता का ध्वंस और एक नयी बर्बरता होगी।

"यही वह चीज़ है जो बुर्जुआ और सर्वहारा क्रान्तियों के बीच सबसे गम्भीर अन्तर का कारण है। बुर्जुआ क्रान्तियों की *इतनी शानदार जीवन्तता (ब्रिलियण्ट इलान)* के साथ आगे बढ़ने की क्षमता के सामाजिक कारण हैं, और वे इस तथ्य में निहित हैं कि वे *एक लगभग पूर्ण हो चुकी आर्थिक और सामाजिक प्रक्रिया के परिणामों को एक ऐसे समाज में आगे बढ़ा रहे हैं, जहाँ पूँजीवाद के सशक्त उभार के कारण सामन्ती और निरंकुश ढाँचा राजनीतिक, शासनात्मक, कानूनी, आदि तौर पर पहले ही गहराई से कमज़ोर हो चुका है।* वास्तविक क्रान्तिकारी तत्व यहाँ पर सामन्ती उत्पादन व्यवस्था का पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में रूपान्तरण है और इसलिए सैद्धान्तिक तौर पर इस प्रक्रिया

का *बिना किसी बुर्जुआ क्रान्ति*, बिना क्रान्तिकारी बुर्जुआज़ी द्वारा किसी राजनीतिक उथल-पुथल के द्वारा ही पूरा होना सम्भव होगा। उस सूरत में सामन्ती और निरंकुश अधिरचना के वे हिस्से जो 'ऊपर से हुई क्रान्ति' के ज़रिये ख़त्म नहीं किये गये हैं, वे पूँजीवाद के पूर्ण रूप से विकसित होने पर स्वयं ही ढह जाएँगे (जर्मन स्थिति इस पैटर्न में बिल्कुल सटीक बैठती है)।

"निस्सन्देह, किसी सर्वहारा क्रान्ति के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता, अगर उसके आर्थिक आधार और पूर्वशर्तें पूँजीवादी समाज के गर्भ में ही पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के उद्‌भव के साथ पोषित न हुई हों। लेकिन इन दोनों प्रकार की प्रक्रियाओं के बीच विशाल अन्तर इस तथ्य में निहित है कि *पूँजीवाद सामन्तवाद के भीतर पहले ही विकसित हो गया था, जो कि अन्त में इसके विघटन को अवश्यम्भावी बना देता है।* इसके विपरीत, यह सोचना एक यूटोपियाई फन्तासी होगा कि समाजवाद की ओर अग्रसर कोई भी चीज़ पूँजीवाद के भीतर पैदा हो सकती है, सिवाय इसके कि *इसे एक सम्भावना बनाने वाले वस्तुगत आर्थिक आधार निर्मित हो गये हैं,* जो कि समाजवादी उत्पादन व्यवस्था के वास्तविक तत्वों में तभी *रूपान्तरित* हो सकते हैं, जब पूँजीवाद ढह चुका हो और उसके परिणाम सामने आ चुके हों।" (ग्यार्गी लूकाच, **'क्रिटिकल ऑब्ज़र्वेशंस ऑन रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग्स "क्रिटीक ऑफ़ दि रशियन रिवोल्यूशन"'**, *हिस्ट्री एण्ड क्लास कांशसनेस,* मर्लिन प्रेस, 1967)।

स्पष्ट है कि समाजवादी क्रान्ति के इस विशिष्ट चरित्र के कारण समाजवादी संक्रमण कोई सुगम-सरल दौर नहीं होता, जो पूँजीवादी संक्रमण जितना छोटा और अबाधित हो। पूँजीवादी संक्रमण दीर्घकालिक नहीं होता और कलम की नोक से पूँजीवादी राज्यसत्ता इसे बहुत छोटे से दौर में पूर्णता पर पहुँचा देती है। लेकिन समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी रूपान्तरण मानव इतिहास की पहली क्रान्ति है जिसमें एक शोषक वर्ग दूसरे शोषक वर्ग की जगह नहीं लेने वाला है, बल्कि इतिहास का सबसे क्रान्तिकारी वर्ग, यानी सर्वहारा वर्ग अपने हिरावल के नेतृत्व में अपनी राज्यसत्ता स्थापित करने वाला है। समाजवादी निर्माण एक सतत् और सघन संघर्ष की प्रक्रिया है जिसमें सर्वहारा वर्ग को अपने अधिनायकत्व के तहत एक-एक करके बुर्जुआ वर्ग से अर्थजगत और राजनीति के बुर्ज़ फतह करने होते हैं। **यह दौर हमेशा ही एक ऐसा दौर होगा जिसमें आर्थिक आधार और सम्बन्धों में समाजवाद और पूँजीवाद के तत्व मिश्रित होंगे।**

अगर इस आधार पर इसे 'मिश्रित' कहा जाय, तो दुनिया में किसी भी दौर में किसी भी देश में क्या कभी समाजवाद था? असल चीज़ एक बार फिर सुजीत दास की निगाह से ओझल हो गयी है–राज्यसत्ता का चरित्र। इसके अलावा, समाजवादी संक्रमण के अलग-अलग चरणों में भी वह फर्क नहीं कर पा रहे हैं। पहला चरण, सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना और सुदृढ़ीकरण के साथ 1921 में गृहयुद्ध की समाप्ति और सोवियत सत्ता के निर्णायक तौर पर स्थापना के साथ पूरा हुआ। दूसरा चरण, नेप के दौर के ख़त्म होने के साथ पूरा हुआ जब सोवियत सत्ता ने टूटते मज़दूर-किसान संश्रय को बचाने के लिए कुछ कदम पीछे हटाये और समाजवादी रूपान्तरण के काम को सीमित और एक हद तक स्थगित किया क्योंकि यही संश्रय सोवियत सत्ता का सामाजिक आधार था; यह दूसरा चरण अपने जीवन से ज़्यादा उत्तरजीवी हो गया जिसके कारण 1927 से 1929 के दौर में सोवियत सत्ता को भयंकर संकट

का सामना करना पड़ा; इसे दूर करने के शुरुआती कदम के तौर पर समाजवादी संक्रमण का तीसरा चरण, यानी सामूहिकीकरण शुरू हुआ, जब सम्पत्ति सम्बन्धों के धरातल पर पूँजीवादी सम्पत्ति का अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र से ख़ात्मा किया गया, और समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्ध पूर्ण रूप से स्थापित हुए। ये चरण ही वास्तव में अलगाव की परिघटना को कदम-दर-कदम ख़त्म करने, या समाजवादी निर्माण या समाजवादी संक्रमण (आप जो भी बोलना चाहें!) के कदम थे और यह पूरी प्रक्रिया ऐतिहासिक तौर पर दीर्घकालिक, जटिल, संघर्ष और अन्तरविरोधों से भरी हुई ही हो सकती थी। जो इस बात को नहीं समझता वह मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलों को भी नहीं समझता है।

दूसरी बात, अगर प्रत्यक्ष उत्पादक का उत्पादन के साधनों से अलगाव को ख़त्म हो जाने को वह 'समाजवाद' कह रहे हैं तो वह वास्तव में कम्युनिज़्म को समाजवाद कह रहे हैं। तीसरी बात, समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के पूँजीवादी तत्वों पर हावी होते जाने की प्रक्रिया कोई एकरेखीय प्रक्रिया नहीं है और इसके कई चरण हैं, जिनके ज़रिये समाजवादी समाज का कुण्डलाकार गति में ही विकास हो सकता है। हर सामाजिक प्रक्रिया के समान समाजवादी संक्रमण की प्रक्रिया भी अन्तरविरोधों से भरी होती है और इसका विकास भी कुण्डलाकार गति से ही होता है। **इसे एकरेखीय रूप से समझने का हर प्रयास या तो सोवियत समाजवादी प्रयोग की पूजा की तरफ़ ले जायेगा, या सुजीत दास की तरह उसे ख़ारिज करने की तरफ़ ले जायेगा।** इसलिए लेनिनवादी दृष्टि से देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण के कार्यभार की पहली अनिवार्य मंज़िल का काम, यानी कि पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्धों के पूर्ण ख़ात्मे का काम स्तालिन के दौर में ही हुआ था। हाँ, यह निश्चित तौर पर एक चर्चा का विषय है कि इसके आगे के चरण के काम, यानी कि उत्पादन सम्बन्धों के अन्य पहलुओं के समाजवादी रूपान्तरण का काम सोवियत संघ में किस हद तक हो पाया, जैसे कि श्रम के पूँजीवादी विभाजन, बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी, वितरण और हस्तगतीकरण की प्रक्रिया के समाजवादी रूपान्तरण आदि के कार्यों को बोल्शेविक पार्टी कहाँ तक सम्पन्न कर पायी। हम एक अलग उपशीर्षक के तहत इस पूरे मुद्दे पर लम्बी चर्चा करेंगे। लेकिन अभी हम सुजीत दास के "मार्क्सवादी" प्रवचन की ज्ञान वर्षा पर वापस लौटने से अपने आपको रोक नहीं पा रहे हैं! देखें आगे वह क्या कहते हैं:

"प्रधान और ग़ैर-प्रधान अन्तरविरोध के बीच अन्तर्सम्बन्ध के निर्णय में ग़लती सोवियत अर्थव्यवस्था के सन्तुलित विकास में बाधा की तरफ़ ले गयी, ***सर्वहारा अधिनायकत्व केवल कागज़ पर रह गया, असलियत में सारी राजनीतिक शक्ति पार्टी के हाथ में केन्द्रित हो गयी...*** *"* (*वही*, पृ. 84, ज़ोर हमारा) इस, बांग्ला अर्थों में, 'भयंकर' अन्तर्दृष्टि पर हम आगे टिप्पणी करेंगे, फिलहाल, ऐसी सारी अन्तर्दृष्टियों को आपके सामने रखना बेहतर होगा।

"एक तरफ़, समाजवाद के व्यवहार के प्रति महान उत्साह था, जो कि काफ़ी हद तक सच्चा था। दूसरी ओर, प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों से <u>अलगाव</u> था...सत्ता पर कब्ज़े के ठीक बाद के वर्षों में मज़दूर सोवियतें तेज़ी से और स्वत:स्फूर्त रूप से अस्तित्व में आयीं थीं। ये राजनीतिक सत्ता के वास्तविक केन्द्र थे - उनके निर्णय लेने और नीति बनाने की प्रक्रिया में पार्टी हस्तक्षेप नहीं करती थी। इस दौर में, मज़दूर वर्ग ने अपनी पहल पर कारखानों का नियन्त्रण हासिल कर लिया, जिसे बाद में राज्य की आज्ञप्तियों द्वारा कानूनी बना दिया गया

था। 'सबोतनिक' आन्दोलन ऐसे ही जीवन्त वातावरण में शुरू हुआ।" (*वही*, पृ. 84) और देखें कि सुब्बोतनिक आन्दोलन के बाद अगले दो दशकों में मज़दूर वर्ग द्वारा शुरू की गयी इसी प्रकार की पहलों के बारे में सुजीत दास क्या नतीजा निकालते हैं: *"सोवियत संघ के सरकारी दस्तावेज़ों में, उसके कला व साहित्य में, इस सफलता को समाजवाद की सफलता के रूप में बतलाया गया है। इस दावे में कुछ सच्चाई भी है। ज़ारशाही के निरंकुश शासन के अन्धकारमय दिन अभी भूले नहीं थे। उस अन्धकारमय शासन से मुक्त हुए लोग नैसर्गिक तौर पर उत्पादक कार्यों में लगने के लिए उत्साहित थे, क्योंकि तब तक उन्हें* ***लगता था*** *कि यह उनकी राज्यसत्ता है। वह पार्टी को अपनी पार्टी* ***समझते*** *थे। कृषि में हमने देखा कि इस दिखलायी पड़ रही वास्तविकता के नीचे एक दूसरी ज़्यादा गहरी असलियत थी। उद्योग में भी हम देखेंगे कि इस प्रोत्साहित काम के पीछे एक अन्य प्रक्रिया भी जारी थी जिसने प्रत्यक्ष उत्पादक को उत्पादन के साधनों से अलगावग्रस्त कर दिया।* ***राजनीतिक सत्ता मज़दूर वर्ग के हाथ में केन्द्रित नहीं हो रही थी, बल्कि मज़दूर वर्ग पार्टी और राज्य के प्रति दासवत एक सामाजिक शक्ति बनता जा रहा था। ट्रेड यूनियनें जो कि उनका अपना संगठन थीं, वे या तो विलोपित होती जा रही थीं, या फिर उन्हें पार्टी और राज्य का गुलाम बनाया जा रहा था।....*1929 *तक सोवियत संघ की ट्रेड यूनियनों की कारखानों के प्रशासन में अहम भूमिका थी। उनके पास कुछ स्वतन्त्रता थी, जो उन्हें मज़दूरों की नियुक्ति और उन्हें हटाने के कदम उठाने, ऐसे निर्णयों का विरोध करने में जो कि मज़दूरों के ख़िलाफ़ जाते थे, मदद करती थी। यह स्थिति 1930 में बदल गयी। राज्य आर्थिक नियोजन के नाम पर ऐसे कदम उठाने लगा जिससे कि मज़दूरों के अधिकार छीन लिये गये - वे राज्य की ज़रूरतों को पूरा करने का उपकरण बन गये। लेकिन चूँकि सोवियत संघ के मज़दूर वर्ग को अपनी शक्ति का स्वयं उपयोग करने की आदत थी, इसलिए उन्होंने इन कदमों को स्वीकार नहीं किया। 1931 से सोवियत राज्य को कुछ और सख़्त कदम उठाने पड़े।"* (*वही*, पृ. 85-87, *ज़ोर हमारा*)

यहाँ पर सुजीत दास ने सिद्ध कर दिया है कि उन्हें 1930 के पहले के सोवियत इतिहास के बारे में कोई जानकारी नहीं है; वास्तव में, इन महोदय ने 1917 से 1929 तक के इतिहास को पढ़े बग़ैर उसके बारे में ग़ैर-ज़िम्मेदार टिप्पणियाँ कर दी हैं। इन टिप्पणियों की आधारहीनता को तथ्यों समेत खण्डित करने के पहले सुजीत दास के "मार्क्सवादी" पाण्डित्य की एक और मिसाल देख लेना उचित होगा:

"लेनिन ने सुझाया था कि ट्रेड यूनियनों को एक स्वतन्त्र संगठन के रूप में बनाया जाय ताकि वे राज्य की पिछलग्गू न बनें, उनका मज़दूर वर्ग द्वारा अपने ही राज्य से अपने हितों की रक्षा करने के उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया जा सके। लेनिन ने सोचा कि उत्पादन के लक्ष्य को पूरा करने के लिए भी यह पहली आवश्यकता है। 14वीं पार्टी कांग्रेस में 1925 में इस विचारधारात्मक अवस्थिति को अपनाया गया। लेकिन बाद में जब तीव्र औद्योगिकीकरण के कार्यक्रम को हाथ में लिया गया तो यह अवस्थिति कमज़ोर पड़ गयी थी। लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ट्रेड यूनियनों ने स्वयं ही अपने पुराने नेताओं को हटाना शुरू कर दिया। 1930 में 16वीं कांग्रेस में इन अपदस्थीकरणों को मान्यता दी गयी और यह कहा गया कि पुराने नेताओं का अवसरवाद पुनर्निर्माण के काल की आवश्यकताओं से मेल नहीं खाता है। उसके बाद से यूनियनें मज़दूर वर्ग के हितों की रक्षा करने की बजाय योजनाओं को सफल बनाने की उपकरण बन गयीं। साथ ही यूनियनों के ढाँचे को ऊपर से, पार्टी के जरिये बदलने की

प्रक्रिया भी शुरू हो गयी। ट्रेड यूनियन की केन्द्रीय परिषद की शक्ति को घटा दिया गया और उसके अध्यक्ष मण्डल में शक्ति केन्द्रित कर दी गयी जो कि पार्टी के पोलित ब्यूरो के नेतृत्व में था।...उत्पादन में वृद्धि को कायम रखने को अपना मुख्य लक्ष्य रखने के कारण यूनियनों को मज़दूरों की समस्याओं को गौण स्थान देने को बाध्य होना पड़ा; कई मामलों में वे मज़दूरों की मज़दूरी में बढ़ोत्तरी को रोकने का उपकरण बन गयीं। मज़दूरों का ट्रेड यूनियनों पर से भरोसा ख़त्म हो गया। कई मामलों में मज़दूरों के स्वत:स्फूर्त आन्दोलन होने लगे। ट्रेड यूनियनों को इन आन्दोलनों के दमन के लिए प्रयोग किया गया। 1932 में 9वीं ट्रेड यूनियन कांग्रेस से ट्रेड यूनियनें औपचारिक तौर पर राज्य का उपकरण बन गयीं। इस प्रकार "ट्रेड यूनियन संकट" की शुरुआत हुई।" (*वही,* पृ. 89-90)

इस पूरे उद्धरण में लेखक ने जो तथ्य दिये हैं, उनका उन्होंने कोई सन्दर्भ देना ज़रूरी नहीं समझा है। और समझा जा सकता है कि ऐसा क्यों है, क्योंकि इसके लिए लेखक को नये सन्दर्भों और "स्रोतों" का निर्माण करना पड़ेगा! इसमें अधिकांश तथ्य सुजीत दास की "मार्क्सवादी" कल्पनाओं की सुन्दर रचनाएँ हैं। इन सभी तथ्यों को हम यहाँ ख़ारिज करने की बजाय, आगे ख़ारिज करेंगे। यहाँ पर अभी हम उन्हीं तथ्यों को खण्डित करेंगे जिनका महत्व सुजीत दास के विचित्र किन्तु सत्य सैद्धान्तिकीकरणों के लिए केन्द्रीय है। यहाँ सुजीत दास ने ऐसा विराट गड़बड़झाला पैदा कर दिया है कि हम समझ नहीं पा रहे हैं कि शुरुआत कहाँ से करें! लेकिन फिर भी हम प्रयास करते हैं, क्योंकि और कोई चारा नहीं है!

सुजीत दास लिखते हैं कि सर्वहारा अधिनायकत्व केवल कागज़ों पर रह गया था और वास्तव में राजनीतिक सत्ता पार्टी के हाथ में केन्द्रित हो गयी थी। इसके कारण के तौर पर वह बताते हैं कि बोल्शेविक क्रान्ति के शुरुआती वर्षों के बाद से मज़दूर सत्ता के असली स्रोत, यानी, उनके विचार में सोवियतों की भूमिका को सचेतन तौर पर क्रमिक प्रक्रिया में समाप्त कर दिया गया। यही हश्र ट्रेड यूनियनों का भी हुआ जिन्हें राज्य के मातहत और उनके दास के समान बना दिया गया। पहले तो सर्वहारा अधिनायकत्व और इसकी पूरी मशीनरी में सोवियतों और ट्रेड यूनियनों के स्थान के बारे में लेनिन के विचारों को जान लेते हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि सुजीत दास ने जिन-जिन चीज़ों के लिए बोल्शेविक पार्टी की आलोचना की है उन मुद्दों पर बोल्शेविक पार्टी की नीति मूल और मुख्य तौर पर सही है। दूसरा कारण यह कि अगर उन "ग़लतियों" पर सुजीत दास आलोचना करना ही चाहते हैं, तो उन्हें लेनिन की आलोचना करनी चाहिए; स्तालिन के सिर पर वह बिना वजह इन "ग़लतियों" का ठीकरा फोड़ रहे हैं। लेकिन श्री दास की कोई ग़लती नहीं है, क्योंकि, जैसा कि हमने पहले भी इंगित किया है, उन्हें 1929 तक के सोवियत संघ के इतिहास के बारे में अखबारी-टाइप सूचनाओं के अलावा कोई जानकारी नहीं है। इसलिए हम पहले लेनिन के विचारों पर एक निगाह डाल लेते हैं।

यहाँ हम 1919 से 1921 के बीच बोल्शेविक पार्टी में ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर चल रही बहस का ज़िक्र करना चाहेंगे, जिसे सुजीत दास ने अपनी मनमर्ज़ी से 1932 में पहुँचा दिया है। क्योंकि 1932 में कोई ट्रेड यूनियन संकट नहीं पैदा हुआ था, जिसका कि वह दावा कर रहे हैं। ट्रेड यूनियनों की भूमिका पर बोल्शेविक पार्टी के भीतर लगातार ही बहसें और चर्चाएँ होती रहीं थीं; लेकिन जिस चीज़ को ट्रेड यूनियन विवाद या ट्रेड यूनियन संकट के तौर पर जाना जाता है वह मूलत: 1919 से 1921 के दौरान पार्टी के भीतर घटित हुआ था। उसके

पहले सुजीत दास ने लेनिन के ट्रेड यूनियन-सम्बन्धी दृष्टिकोण के बारे में जो लिखा है, वह भी लेनिन का पूरा दृष्टिकोण नहीं था, बल्कि ट्रेड यूनियन के सवाल पर मौजूद दक्षिणपन्थी भटकाव का, जिसका प्रतिनिधित्व ट्रॉट्स्की और बुखारिन कर रहे थे, जवाब था। सकारात्मक तौर पर लेनिन की वह अवस्थिति थी ही नहीं, जो सुजीत दास बता रहे हैं। वह अवस्थिति तो वास्तव में पार्टी में मौजूद अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी धड़े की थी।

1919 से 1921 के बीच ट्रेड यूनियनों की भूमिका को लेकर दो छोर की अवस्थितियाँ मौजूद थीं। एक रुझान, जिसका प्रतिनिधित्व मुख्य तौर पर **ट्रॉट्स्की** और **बुखारिन** कर रहे थे, उसका मानना था कि ट्रेड यूनियनों का "राजकीयकरण" कर दिया जाना चाहिए। उनका मानना था कि ट्रेड यूनियनों को पूरी तरह राज्य के अधीन कर दिया जाना चाहिए। उन्हें राज्य के अधीन करने के साथ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और शासन के कार्यों की मुख्य तौर पर ज़िम्मेदारी सौंप दी जानी चाहिए, लेकिन इस प्रक्रिया में उन्हें पूरी तरह से राज्य और पार्टी के अधीन होना चाहिए। वास्तव में, ट्रॉट्स्की "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में जो "श्रम के सैन्यकरण" की थीसिस लेकर आये थे, ट्रेड यूनियन पर उनकी थीसिस (देखें ट्रॉट्स्की की रचना 'ट्रेड यूनियनों के कार्यभार') उनकी "श्रम के सैन्यकरण" की उस पुरानी थीसिस का ही एक विस्तार थी। इस पर हम थोड़ा आगे वापस लौटेंगे, लेकिन अभी पहले ट्रेड यूनियन विवाद पर वापस आते हैं। ट्रेड यूनियनों को राज्य के अधीन कर दिये जाने की ट्रॉट्स्की व बुखारिन की थीसिस का पार्टी में **'वर्कर्स अपोज़ीशन'** नाम के धड़े ने पुरज़ोर विरोध किया। इस धड़े का प्रतिनिधित्व मुख्य तौर पर **अलेक्ज़ैण्डर श्ल्याप्निकोव** तथा **अलेक्ज़ैण्ड्रा कोलोन्ताई** कर रही थीं। कोलोन्ताई ने 'वर्कर्स अपोज़ीशन' नामक एक पुस्तिका लिखकर अपने धड़े की पूरी अवस्थिति को पार्टी के बीच प्रसारित भी किया। फिर इन दोनों दस्तावेज़ों पर एक बहस शुरू हुई। 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का मानना था कि ट्रेड यूनियन का "राजकीयकरण" नहीं किया जाना चाहिए, उल्टे राज्य का "ट्रेड यूनियनीकरण" कर दिया जाना चाहिए। उनका मानना था कि ट्रेड यूनियनें पूर्णत: स्वतन्त्र रहनी चाहिए और उन्हें राज्य के सभी कार्य सौंप दिये जाने चाहिए, मतलब कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन से लेकर शासन-प्रशासन के अन्य कार्य और पार्टी और राज्य को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इसके कारण के तौर पर वे वही बात कह रहे थे जो सुजीत दास कह रहे हैं। उनका कहना था कि ट्रेड यूनियनें मज़दूर वर्ग के व्यापक जनसमुदायों को समेटती हैं और इसलिए प्रत्यक्ष उत्पादन और शासन के नियन्त्रण को यदि प्रत्यक्ष उत्पादक वर्ग को सौंपना है, सर्वहारा वर्ग को सौंपना है, तो ट्रेड यूनियनों को स्वतन्त्र होना चाहिए और शासन-प्रशासन के काम उनके हाथों में सौंप दिये जाने चाहिए।

पार्टी की दसवीं कांग्रेस, जो कि मार्च 1921 में हुई, इन दोनों अवस्थितियों के बीच बहस-मुबाहसे का केन्द्र बनी। वास्तव में इसके पहले की दो पार्टी कांग्रेसों में भी यह मुद्दा पुरज़ोर तरीके से उठा था। ट्रॉट्स्की और बुखारिन की अवस्थिति की आलोचना तो लेनिन ने 1919 और 1920 में ही की थी, लेकिन 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की अवस्थिति की आलोचना मुख्य तौर पर 1921 में दसवीं पार्टी कांग्रेस में हुई। वास्तव में इस पूरे विवाद का फैसला दसवीं पार्टी कांग्रेस में हुआ। लेनिन ने इन दोनों छोरों की निमर्म आलोचना करते हुए ट्रेड यूनियनों की भूमिका के बारे में जो कुछ कहा, वह आज मार्क्सवाद-लेनिनवाद के लिए हर मायने में बेहद महत्वपूर्ण बन गया है। यह न सिर्फ ट्रेड यूनियन के सवाल पर लेनिनवादी अवस्थिति का स्रोत बना, बल्कि समाजवादी संक्रमण के दौरान सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की प्रकृति और

चरित्र, उसमें पार्टी की भूमिका, पार्टी से सोवियतों और ट्रेड यूनियनों के आपसी रिश्ते और पार्टी और राज्य के रिश्तों पर एक सामान्य मार्क्सवाद-लेनिनवादी अवस्थिति का स्रोत बन गया। इस पर हम थोड़े देर में वापस लौटेंगे।

सबसे पहले हम 1920 के ट्रेड यूनियन सम्मेलन से लेकर 1921 की दसवीं पार्टी कांग्रेस के दौरान जो प्रमुख धड़े (फैक्शन) मौजूद थे, और जो इस पूरी बहस में हिस्सेदारी कर रहे थे, उनके बारे में बता दें। यहाँ हम पूरी बहस के घटना-सम्बन्धी ब्यौरे में नहीं जा रहे हैं, बल्कि उनकी अवस्थितियों के बारे में बात कर रहे हैं। घटनाओं में और ठोस ऐतिहासिक ब्यौरों में हम तब जाएँगे जब हम सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण की पूरी परियोजना के अपने आलोचनात्मक मूल्यांकन की शुरुआत करेंगे। 1918 से ही ट्रेड यूनियनों, फैक्टरी कमेटियों, राज्य, पार्टी और वर्ग के अन्तर्सम्बन्धों पर पार्टी के भीतर तीखी बहस जारी थी, जो वास्तव में सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी संरचना पर बहस थी। इस बहस के अलग-अलग धड़े निम्न प्रकार से थे, जो कि दसवीं कांग्रेस तक मुख्य रूप से तीन धड़ों के रूप में संगठित हो चुके थे।

पहला समूह वह था जिसके नेतृत्व में **ओसिंस्की, स्मिर्नोव** और **साप्रोनोव** थे, और इस समूह को **'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म'** धड़े के नाम से जाना जाता था। यह समूह वास्तव में 1919 में आठवीं पार्टी कांग्रेस के समय में ही अस्तित्व में आने लगा था। आइये देखें कि इस धड़े का क्या कहना था। इनका कहना था कि सोवियतों को महज़ "रबर स्टैम्प्स" में बदल दिया गया है, जबकि हमारा पुराना नारा था 'सारी सत्ता सोवियतों को'; उनका कहना था कि सोवियतों का काम यह हो गया है कि वे पार्टी के निर्णयों को पुष्ट करें; इसके अलावा उनका कहना था कि पार्टी के भीतर पोलित ब्यूरो में शक्ति केन्द्रित हो गयी है; यहाँ ग़ौरतलब है कि इस धड़े के अधिकांश नेता व सदस्य 1917-18 में बुखारिन के नेतृत्व में अस्तित्व में आये "वामपन्थी" कम्युनिस्ट विपक्षी धड़े के साथ रह चुके थे। यह बात अलग थी कि अब बुखारिन स्वयं इस पूरी थीसिस के ठीक विपरीत ट्रॉट्स्की के करीब खड़े थे। लेकिन 1918 में पार्टी की सातवीं कांग्रेस में ओसिंस्की ने कहा था, **"हम मज़दूरों की वर्ग रचनात्मकता द्वारा सर्वहारा समाज के निर्माण के पक्षधर हैं, न कि उद्योग के कप्तानों की आज्ञप्तियों के द्वारा...अगर सर्वहारा वर्ग स्वयं नहीं जानता कि श्रम के समाजवादी संगठन की पूर्वशर्तें कैसे पूरी करनी है, तो उसकी ओर से कोई और यह काम नहीं कर सकता...समाजवाद और समाजवादी संगठन या तो स्वयं सर्वहारा वर्ग द्वारा स्थापित किया जायेगा, या फिर वह स्थापित ही नहीं किया जायेगा।"** (ओसिंस्की, 'ऑन दि बिल्डिंग ऑफ सोशलिज़्म', *दि कम्युनिस्ट*, सं.-2, (अप्रैल, 1918), पृ.5, रूसी संस्करण) लेनिन ने इस पूरी सोच को अपने लेख **'वामपन्थी बचकानापन और निम्न पूँजीवादी मानसिकता'** में निशाने पर रखा था और कहा था कि यह पूरी सोच स्वत:स्फूर्ततावादी, लोकरंजकतावादी और हिरावल की भूमिका का निषेध करती है। लेनिन की आलोचना पर हम थोड़ी देर में आते हैं। अभी हम 1919 से 1921 के बीच मौजूद प्रमुख समूहों की अवस्थितियों पर आते हैं। तो पहला समूह यह 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' ग्रुप था जिसके प्रमुख नेता ओसिंस्की, स्मिर्नोव और साप्रोनोव थे, जिनकी अवस्थितियों को जानकर पाठक एक कालदोषपूर्ण (एनाक्रॉनिस्टिक) कल्पना कर सकता है कि कहीं उन्होंने 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के फरवरी, 2008 के अंक में छपे सुजीत दास के लेख को तो नहीं पढ़ लिया था! लेकिन वह सुजीत दास के लेख से ठीक 90 वर्ष

पहले की घटना है! लेकिन अगर हम कालदोष को हटा दें, तो साफ़ तौर पर लगता है कि सुजीत दास ने शायद उनकी अवस्थितियों को पढ़ा है, और अपने मर्म तक ले गये हैं। आगे हम देखेंगे कि सुजीत दास किस तरह से 1918, 1919, 1920 और 1921 के सभी "वामपन्थी" और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी भटकावग्रस्त अवस्थितियों की खिचड़ी पकाते हैं और उन्हें ज़बरन लेनिन पर थोपने का प्रयास करते हैं।

दूसरा प्रमुख समूह था **ट्रॉट्स्की** का जिसके समर्थन में मुख्य रूप से **राइकोव, क्रेस्टिंस्की, आन्द्रियेव** और **राडेक** थे। ट्रॉट्स्की ने ट्रेड यूनियनों की स्वायत्तता पर हमले की शुरुआत बड़े पैमाने पर 1920 में मास्को में हुए एक अखिल रूसी ट्रेड यूनियन सम्मेलन (कांग्रेस नहीं, सम्मेलन) में की। ट्रॉट्स्की ने ट्रेड यूनियनों के पूरे ढाँचे को अन्दर से "झकझोर देने" की बात की। ट्रॉट्स्की ने कहा कि समूचे मज़दूर वर्ग के अराजकतापूर्ण ढंग से बदलते मिजाज़ों पर सर्वहारा अधिनायकत्व को नहीं छोड़ा जा सकता है। सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी के बारे में ट्रॉट्स्की ने एक ऐसी समझ रखी, जिसके मुताबिक पार्टी कभी ग़लती नहीं कर सकती है, और अचूक और अमोघ है। इसलिए सर्वहारा वर्ग अपनी पार्टी के द्वारा अपने ऊपर "स्वअनुशासन" लागू करता है। ट्रॉट्स्की इस सोच का समर्थन करते हुए कहाँ तक चले गये यह ट्रॉट्स्की के इस कथन से साफ़ हो जाता है: **"क्या यह सच है कि बाध्यतापूर्ण श्रम हमेशा अनुत्पादक होता है?...यह सबसे निन्दनीय और दयनीय उदारवादी पूर्वाग्रह है: चैटेल गुलामी भी उत्पादक थी...बाध्यताकारी दास श्रम... अपने समय में एक प्रगतिशील परिघटना थी।"** (तृतीय अखिल रूसी ट्रेड यूनियन कांग्रेस, *स्टेनोग्राफिक रिपोर्ट,* मास्को, 1920, रूसी संस्करण) निश्चित तौर पर, हम यह नहीं कह रहे हैं कि ट्रॉट्स्की की पूरी सोच इसी कथन से स्पष्ट हो जाती है क्योंकि ऐसा दावा करना ट्रॉट्स्की के साथ नाइंसाफ़ी होगी। लेकिन इससे ट्रॉट्स्की की पहुँच और पद्धति के बारे में बहुत कुछ पता चलता है। यह बात सच है, और ऐसा लेनिन का भी मानना था, कि पार्टी के हिरावल होने के अर्थ में यह शामिल है कि सर्वहारा वर्ग के व्यापक जनसमुदायों की हर राय या मिजाज़ का वह सम्मान नहीं कर सकती। यह भी सच है कि पार्टी को कई बार संकटपूर्ण परिस्थितियों में मज़दूर वर्ग के पिछड़े हुए, निम्नपूँजीवादी चेतना के शिकार हिस्से की इच्छाओं के विपरीत भी कई कार्य करने पड़ते हैं। निश्चित तौर पर, मज़दूर वर्ग स्वत:स्फूर्त रूप से जो चेतना पैदा करता है वह आर्थिक माँगों से आगे नहीं जाती और वह अपने आप में सर्वहारा चेतना नहीं होती। अगर इसी स्वत:स्फूर्ततावाद की सोच को आगे बढ़ा दिया जाय तो वह ट्रेड यूनियनवाद, अराजकतावाद, अर्थवाद और संघाधिपत्यवाद तक चली जाती है। लेनिन स्वयं इन रुझानों के सख़्त आलोचक थे और इसीलिए क्रान्ति से पहले मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में भी और क्रान्ति के बाद मज़दूर वर्ग की तानाशाही में भी वह क्रान्तिकारी पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका को अपरिहार्य मानते थे। **लेकिन ट्रॉट्स्की और लेनिन की अवस्थितियों में दो बुनियादी फर्क था।** एक, लेनिन पार्टी को हर स्थिति में अचूक और अमोघ नहीं मानते थे, जैसा कि ट्रॉट्स्की की उस समय की अवस्थिति में निहित है। वह मानते थे कि पार्टी को जनसमुदायों के प्रति अपनी नेतृत्वकारी भूमिका को बनाये रहते हुए, जनसमुदायों से एक जीवन्त रिश्ता भी बनाये रखना होगा और उनसे सीखना भी होगा। यही पार्टी के नेतृत्व और नीतियों के सर्वहारा चरित्र को बनाये रख सकता है। **एक दूसरे अर्थ में** भी लेनिन की अवस्थिति ट्रॉट्स्की से बिल्कुल भिन्न थी। ट्रॉट्स्की "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों, जैसे कि जबरन कृषि अधिशेष वसूली,

श्रम के सैन्यकरण, ट्रेड यूनियनों को राज्य के मातहत रखने और श्रम के अनुशासनीकरण, को एक विशेष आपातकालीन और अपवादस्वरूप दौर का बाध्यताकारी उत्पाद नहीं मानते थे। वह मानते थे कि इन नीतियों के ज़रिये "सीधे कम्युनिज़्म में प्रयाण" किया जा सकता है। बुखारिन और प्रियोब्रेज़ेंस्की जब पूरी तरह ट्रॉट्स्की की तरफ़ झुक गये थे, तो उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया था कि तीन वर्षों में पूरी सोवियत अर्थव्यवस्था का कम्युनिस्ट रूपान्तरण इन नीतियों के ज़रिये किया जा सकता है! लेकिन लेनिन की अवस्थिति यह थी कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की ये नीतियाँ गृहयुद्ध के दौर में मूल और मुख्य तौर पर सही थीं; इनमें से कुछ नीतियाँ ऐसी थीं जो कि बाद के दौर के लिए भी उपयोगी थीं। लेकिन कुल मिलाकर दो प्रमुख नीतियाँ, यानी कि कृषि अधिशेष की ज़बरन वसूली और दूसरी श्रम के सैन्यकरण और ट्रेड यूनियनों को राज्य और पार्टी के पूरी तरह से अधीन किये जाने की नीतियों को केवल आपातकालीन और अपवादस्वरूप दौर में ही सही ठहराया जा सकता है। चूँकि लेनिन का एक दौर में इन नीतियों को सशर्त समर्थन था और एक दूसरे दौर में सशर्त विरोध इसलिए कई अकादमिकों को यह दृष्टिभ्रम हो जाता है कि लेनिन ट्रॉट्स्की की अवस्थिति पर थे, और जब वे मौखिक तौर पर ट्रॉट्स्की का विरोध कर रहे थे, तब भी व्यवहार में वे ट्रॉट्स्की की ही नीतियों को लागू कर रहे थे। ऐसे अकादमिकों में ख़ास तौर पर ट्रॉट्स्कीपन्थी या ट्रॉट्स्की के प्रति हमदर्दी रखने वाले बुद्धिजीवी शामिल हैं, जैसे कि **इसाक डॉइशर, एडवर्ड हैलेट कार, हॉल ड्रेपर** आदि। लेकिन अगर स्वयं पार्टी, ट्रेड यूनियन और सोवियतों के दस्तावेज़ों में बहस और पिछले कार्यकाल की गतिविधियों की रिपोर्टों को देखें तो लेनिन और ट्रॉट्स्की की अवस्थिति का फर्क साफ़ हो जाता है। बहरहाल, ट्रॉट्स्की की पूरी अवस्थिति को इसी वाक्यांश के ज़रिये सटीकता से अभिव्यक्त किया जा सकता है–**ट्रेड यूनियनों को राज्य और पार्टी का दासवत उपकरण बना देना, उनका "राजकीयकरण" कर देना।**

अब **तीसरे समूह** पर आते हैं जिसे **"बफर ग्रुप"** कहा गया, और जो कि 1920 में अस्तित्व में आया। दिसम्बर 1920 में केन्द्रीय कमेटी की एक बैठक में ज़िनोवियेव ने ट्रॉट्स्की की अवस्थिति का विरोध किया और लेनिन की अवस्थिति के समर्थन में बात रखी। लेकिन यह बात इस तरीके से रखी गयी, जिससे कि केन्द्रीय कमेटी का बड़ा हिस्सा ट्रॉट्स्की और ज़िनोवियेव, दोनों के ही ख़िलाफ़ हो गया। इस मौके पर **बुखारिन** ने एक मध्य मार्ग अपनाया और ट्रॉट्स्की और ज़िनोवियेव दोनों की ही कुछ बातों का समर्थन करते हुए यह तर्क रखा कि फिलहाल दोनों मतों में एक आरज़ी समझौता किया जाय और इस मसले पर 1921 में होने वाली दसवीं पार्टी कांग्रेस में विचार किया जाय। बुखारिन का प्रस्ताव एक वोट से विजयी हुआ। उस समय बुखारिन के साथ मध्यमार्ग अपनाने वाले इस "बफर ग्रुप" में **प्रियोब्रेज़ेंस्की, सेरेब्राइकोव, सोकोलनिकोव** और **लारिन** शामिल थे। 1920 के अन्तिम माह से लेकर मार्च 1921 में पार्टी कांग्रेस के शुरू होने तक यह "बफर ग्रुप" ज़्यादा से ज़्यादा ट्रॉट्स्की की तरफ़ झुकता गया और कांग्रेस आते-आते **ट्रॉट्स्की** और **बुखारिन** ने **ज़र्जेंस्की, आन्द्रियेव, प्रियोब्रेज़ेंस्की, रैकोव्स्की** और **सेरेब्राइकोव** के साथ मिलकर ट्रेडयूनियनों की भूमिका के सवाल पर ट्रॉट्स्की की सोच का समर्थन करते हुए एक प्रस्ताव रखा जिसे **'प्लेटफॉर्म ऑफ दि एट'** कहा गया।

एक **चौथा समूह** 1920 के ही उत्तरार्द्ध से अस्तित्व में आने लगा था। यह समूह वास्तव में पुराने 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' धड़े के कुछ लोगों के एक अनौपचारिक ट्रेड यूनियन धड़े

के साथ संलयन के साथ अस्तित्व में आया, जिसके प्रमुख सदस्य थे, **श्ल्याप्निकोव** और **कोलोन्ताई।** इन दोनों धड़ों के साथ आने के साथ जो ग्रुप अस्तित्व में आया उसे **'वर्कर्स अपोज़ीशन'** के नाम से जाना गया। इसकी ज़्यादातर अवस्थितियाँ ट्रॉट्स्कीपंथियों के ठीक विपरीत थीं, जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं। ये सारी अवस्थितियाँ वास्तव में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों की अवस्थितियाँ थीं। इसका एक कारण यह भी था कि इस समूह के नेतृत्व के लोग अधिकांशत: पुराने ट्रेड यूनियनवादी थे। इस कांग्रेस में श्ल्याप्निकोव ने भाषण दिया। उन्होंने एंगेल्स को उद्धृत करते हुए कहा कि आने वाला समाज **"उद्योग को सभी उत्पादकों के स्वतन्त्र और समान साहचर्य के आधार पर संगठित करेगा।"** और इसी से श्ल्याप्निकोव ने यह नतीजा निकाला कि प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए ट्रेड यूनियनों को राज्य और पार्टी से बिल्कुल स्वतन्त्र करके राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और शासन-प्रशासन सम्भालने का काम उन्हें दे दिया जाना चाहिए, जैसा कि सुजीत दास सुझा रहे हैं। लेनिन ने श्ल्याप्निकोव को याद दिलाया कि जब एंगेल्स ने ये शब्द लिखे थे तो वह समाजवादी संक्रमण के दौर की बात नहीं कर रहे थे, बल्कि कम्युनिस्ट समाज की बात कर रहे थे और यह कि उस सिद्धान्त को लागू करने का रिश्ता समाज में वर्ग संघर्ष के स्तर से जुड़ा हुआ है और विशेषकर सर्वहारा वर्ग के व्यापक जन-समुदायों की राजनीतिक चेतना से जुड़ा हुआ है। 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का मानना था कि चूँकि ट्रेड यूनियनें सर्वहारा वर्ग के व्यापक जनसमुदायों को अपने भीतर समेटती हैं, इसलिए उनके ऊपर किसी किस्म का कोई प्राधिकार नहीं होना चाहिए। केन्द्रीय स्तर पर एक **अखिल रूसी उत्पादक कांग्रेस** होनी चाहिए जिसका काम ट्रेड यूनियनों के बीच समन्वय का होना चाहिए। लेनिन ने इस प्रस्ताव की खिल्ली उड़ाते हुए कहा था कि 'उत्पादक कांग्रेस' की परिकल्पना वर्ग विश्लेषण का निषेध है। ऐसी किसी भी कांग्रेस को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की बागडोर सौंपने का अर्थ होगा, टटपुँजिया उत्पादकों के हाथ में पूरी सोवियत व्यवस्था को सौंप देना, और एक प्रकार से सर्वहारा अधिनायकत्व का बुर्जुआज़ी के सामने समर्पण कर देना। 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का यह भी विचार था कि सोवियतों को एक क्रमिक प्रक्रिया में विलोप की तरफ़ ले जाया जाना चाहिए, और शासन-प्रशासन के समस्य कार्य स्वतन्त्र ट्रेड यूनियनों को सौंप दिया जाना चाहिए, जिनमें पार्टी का कोई भी हस्तक्षेप न हो (यहाँ भी पाठकों को सुजीत दास की याद आ सकती है, जो कि पार्टी के हस्तक्षेप से ख़ासे नाराज़ रहते हैं!)। 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के नेता किसानों को किसी भी किस्म की रियायत देने के ख़िलाफ़ थे। वे औद्योगिक मज़दूरों के मुद्दों को छोड़ दें तो "युद्ध कम्युनिज़्म" की अधिकांश नीतियों का समर्थन ही कर रहे थे। सोवियत राज्य के सामाजिक आधार के तौर पर मज़दूर-किसान संश्रय (स्मिच्का) के विषय पर उनकी कोई समझदारी नहीं थी, और वे मज़दूरों यानी कि अलग-अलग कारखानों, अलग-अलग उद्योगों, अलग-अलग पेशों के मज़दूरों के विशिष्ट हितों से आगे कुछ भी नहीं सोच पा रहे थे। **यहाँ पर 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' धड़े की अवस्थिति से एक ही फर्क था–'वर्कर्स अपोज़ीशन' मज़दूर वर्ग की राजनीतिक शक्ति का प्रमुख केन्द्र ट्रेड यूनियन को मान रहा था जबकि 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' ने इसका आधार फैक्टरी कमेटियों को माना था।** यानी कि एक के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद की बुनियादी राजनीतिक इकाई कारखाना थी, तो दूसरे की पेशा या उद्योग, क्योंकि ट्रेड यूनियनें पेशों और उद्योगों के आधार पर बँटी हुई थीं। सुजीत दास की पूरी सोच पर इन दोनों ही ग्रुपों

का ज़बर्दस्त असर है। वास्तव में, ये दोनों असर उनमें गड्ड-मड्ड हो गये हैं। एक जगह वह अपने लेख में फैक्टरी कमेटियों और सोवियतों के बीच भ्रमित हो गये हैं। उन्होंने लिखा है कि मज़दूरों की सोवियतें क्रान्ति के तुरन्त बाद राजनीतिक शक्ति का वास्तविक केन्द्र बनीं जिनमें पार्टी का कोई हस्तक्षेप नहीं था, और इसी दौर में मज़दूर वर्ग ने अपनी पहल पर कारखानों पर कब्ज़ा कर लिया जिसे बाद में राज्य की आज्ञप्तियों के ज़रिये मान्यता दे दी गयी। इससे ऐसा ध्वनित होता है कि कारखानों पर कब्ज़े के आन्दोलन में सोवियतों की कोई अहम भूमिका थी, क्योंकि ऐसा नहीं था और यह काम फैक्टरी कमेटियों के ज़रिये हुआ था जिनका श्री दास नाम भी नहीं लेते। अगर वह ऐसा दावा कर रहे हैं, तो निस्सन्देह यह एक और अज्ञानतापूर्ण दावा है। उनका कहना है कि इसी जीवन्त वातावरण में सुब्बोतनिक आन्दोलन शुरू हुआ। सुजीत दास ने अगर 1917 से 1920 तक का इतिहास किसी विश्वविद्यालय की पाठ्यपुस्तक से भी पढ़ा होता तो उन्हें पता होता कि कारखानों पर कब्ज़ा करने का आन्दोलन मज़दूरों की सोवियत ने नहीं किया था, बल्कि वह फैक्टरी कमेटियों ने किया था। शुरुआत में इन्हें राज्य और पार्टी द्वारा मान्यता मिली क्योंकि यह मज़दूरों की क्रान्तिकारी ऊर्जा का परिणाम था। लेकिन यह आन्दोलन बुरी तरह असफल हुआ था। अलग-अलग कारखाने के मज़दूर महज़ अपने हितों के बारे में सोच रहे थे। एक कारखाने ने दूसरे कारखाने से विनिमय करने से कई मौकों पर इंकार कर दिया। कई कारखानों ने सोवियत सत्ता से अपने उत्पादों का विनिमय करने से इंकार कर दिया। अलग-अलग कारखाना कमेटियाँ उस समय काले बाज़ार में अपने उत्पादों को बेचकर अपने निजी हितों के बारे में सोच रही थीं। यहाँ पर स्पष्ट देखा जा सकता है कि सुजीत दास के लेख वाले "प्रत्यक्ष उत्पादकों के उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण" स्थापित हो जाने से पूँजीवादी सम्बन्ध समाप्त नहीं होते। लेनिन को इस विषय में कोई ग़लतफ़हमी नहीं थी। देखिये कि वह क्या कहते हैं: **"मज़दूर कभी भी पुराने समाज से किसी चीन की दीवार से अलग नहीं किये गये थे। और उन्होंने पूँजीवादी समाज की पारम्परिक मानसिकता को काफी मात्रा में बचा रखा है। मज़दूर एक नया समाज स्वयं नये लोग बने बग़ैर बना रहे हैं, वे यह निर्माण अपने आपको पुरानी गन्दगी से मुक्त किये बिना कर रहे हैं; वे अभी भी घुटनों तक इस गन्दगी में डूबे हुए हैं।"** (लेनिन, दूसरी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में रिपोर्ट, जनवरी 1919)। माओ ने यही बात इन शब्दों में कही है: **"समाजवादी समाज का निर्माण करने में सभी का पुनःसंस्कार करने की आवश्यकता होती है–शोषकों का भी और मेहनतकश जनता का भी। कौन कहता है कि मज़दूर वर्ग को इसकी ज़रूरत नहीं होती? हाँ, शोषकों का पुनःसंस्कार और मेहनतकश जनता का पुनःसंस्कार स्वरूप की दृष्टि से दो अलग-अलग किस्म के पुनःसंस्कार हैं।"** (माओ त्से तुंग, 'जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में', *माओ त्से तुंग की प्रतिनिधि रचनाएँ*, एक खण्ड में, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ, 2004 पृ. 368) यह लेनिन ठीक उसी समय कह रहे थे, जब फैक्टरी कमेटियाँ संकुचित पेशागत मानसिकता और टटपुँजिया पूँजी संचय की मानसिकता से काम कर रही थीं। फैक्टरी कमेटियों के तहत, यानी 'प्रत्यक्ष उत्पादकों' के नियन्त्रण के तहत यहाँ क्या हो रहा था? यहाँ पर अभी भी पूँजीवादी उत्पादन ही हो रहा था। अब पूँजीपति की इकाई की जगह फैक्टरी कमेटी ने ले ली थी। लेकिन इन फैक्टरी कमेटियों की निगाह में पूरे मज़दूर वर्ग का हित नहीं था बल्कि अलग-अलग कारखानों के मज़दूरों का हित था। जाहिर है, ऐसी विसर्जित, विखण्डित फैक्टरी

कमेटी अर्थव्यवस्था का कोई भविष्य नहीं हो सकता था। नतीजतन, अच्छी-ख़ासी संख्या में वे कारखाने बन्द हो गये जो फैक्टरी कमेटियों के नेतृत्व में थे; कई जगह मज़दूर मशीनों को बेचकर पैसे कमाकर गाँव चले गये; कई मामलों में फैक्टरी कमेटियों ने कारखानों को पुराने पूँजीपतियों के हवाले कर दिया क्योंकि उन्हें पूरी उत्पादन प्रक्रिया का प्रबन्धन नहीं आता था। इन सभी के संख्यात्मक आँकड़े हम आगे देंगे। रूस में 1918-19 में जो आर्थिक विघटन की प्रक्रिया चली, उसमें किसानों द्वारा की गयी तोड़-फोड़ के अलावा मज़दूरों के बीच मौजूद यह अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी रुझान भी ज़िम्मेदार था। इसके बाद, फैक्टरी कमेटियों को ट्रेड यूनियनों के अन्तर्गत किया गया। यह प्रक्रिया 1918 के दिसम्बर में पूरी हो चुकी थी। और ट्रेड यूनियनें 1918 से 1920 तक पूरी तरह राज्य और पार्टी के मातहत ही थीं, जो कि "युद्ध कम्युनिज़्म" का दौर था। **इसलिए सुजीत दास यह बात बिना कहीं पढ़े हुए लिख रहे हैं कि सुब्बोतनिक आन्दोलन उस प्रेरणादायी परिस्थिति में हुआ था जिसमें मज़दूर सोवियतें पार्टी और राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त थीं, और मज़दूरों ने कारखानों पर कब्ज़ा कर लिया था!** यह हवाई कल्पना है जिसका तथ्यों से कोई रिश्ता नहीं है क्योंकि 1919 में जब सुब्बोतनिक आन्दोलन की पहली शुरुआत हुई तब तक फैक्टरी कमेटियाँ और ट्रेड यूनियन, दोनों पर ही पार्टी का नियन्त्रण मुख्य तौर पर स्थापित हो चुका था। सुजीत दास को सोवियत इतिहास का ठीक से अध्ययन किये बिना ऐसी बातें नहीं लिखनी चाहिए थीं। यह पाठकों को गुमराह करने के समान है।

सच तो यह है कि सुब्बोतनिक आन्दोलन 1919 में शुरू हुआ था और उस समय तक सोवियतें भी पार्टी से स्वतन्त्र नहीं थीं। वे राज्यसत्ता का प्रमुख उपकरण उस समय तक नहीं रह गयी थीं। 1919 में ही लेनिन ने कहा था कि दो वर्ष के सोवियतों के स्वायत्त शासन को देखने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि अभी सोवियतें शासन के काम को अपने हाथ में नहीं ले सकतीं। 'राज्य और क्रान्ति' की अपनी थीसिस को लेनिन ने संशोधित करते हुए कहा था कि ऐतिहासिक अनुभव ने हमें सिखला दिया है कि पेरिस कम्यून मॉडल तुरन्त लागू नहीं किया जा सकता है। सर्वहारा अधिनायकत्व की नेतृत्वकारी शक्ति और प्रधान उपकरण सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी होगी। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की पूरी संरचना के बारे में 1921 आते-आते लेनिन का नज़रिया काफ़ी हद तक साफ़ हो चुका था। इसके बारे में हम कुछ पैराग्राफ बाद ही आयेंगे। लेकिन एक बात तो तय है—सुजीत दास काल्पनिक तथ्यों का आविष्कार करके उन्हें वास्तविक इतिहास पर थोपने की कला में सिद्धहस्त हैं! अब 1919 से 1921 के बीच बोल्शेविक पार्टी के भीतर जिन धड़ों के बीच ट्रेड यूनियन के सवाल को लेकर बहस जारी थी, और जिसकी चरम परिणति दसवीं पार्टी कांग्रेस में हुई बहस में सामने आयी, उन धड़ों की चर्चा पर वापस लौटते हैं।

अब हम बात करेंगे **आख़िरी प्रमुख धड़े** पर जिसका नेतृत्व **लेनिन** कर रहे थे। ट्रॉट्स्कीपन्थी 'प्लेटफॉर्म ऑफ एट' और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसिस के बरक्स लेनिन ने **स्तालिन, ज़िनोवियेव, टॉम्स्की, रुत्जुताक, कालिनिन, कामेनेव, लोज़ोव्स्की, पेत्रोव्स्की** और **आर्तेम** के साथ मिलकर **'प्लेटफॉर्म ऑफ दिन टेन'** बनाया और अपना समानान्तर प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव वास्तव में उसी प्रस्ताव का एक विकसित रूप था जो कि रुत्जुताक ने ट्रेड यूनियन सम्मेलन के मंच पर ट्रॉट्स्की के प्रस्ताव के ख़िलाफ़ रखा था; वह प्रस्ताव भी लेनिन के निर्देशन में ही बना था। उस प्रस्ताव को उस सम्मेलन में विजय मिली थी। और

दसवीं कांग्रेस में भी लेनिन का प्रस्ताव भारी मतों से विजयी हुआ। दसवीं कांग्रेस में जो **तीन प्रमुख धड़े** बन चुके थे (**1. ट्राट्स्की+बुखारिन 2. वर्कर्स अपोज़ीशन (डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म+कोलोन्ताई व श्ल्याप्निकोव), तथा, 3. लेनिन व स्तालिन**) उसमें से ट्रॉट्स्कीपंथियों के धड़े को 50 वोट मिले, 'वर्कर्स अपोज़ीशन' को मात्र 8 वोट मिले और लेनिन के धड़े को 336 वोट मिले। लेनिन ने ट्रॉट्स्की और बुखारिन की राजनीतिक आलोचना इस कांग्रेस से पहले ही रख दी थी, और इस धड़े के प्रस्ताव का हारना तय था क्योंकि 1920 से 1921 के बीच लेनिन और ट्रॉट्स्की की बार-बार जो तमाम मंचों पर बहस हुई (जिनका 'प्राव्दा' में लगातार प्रकाशन हुआ) उसके ज़रिये ट्रॉट्स्की का धड़ा कांग्रेस के शुरू होने से पहले ही वास्तव में परास्त हो चुका था। लेकिन लेनिन ने अभी तक 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की कहीं-कहीं प्रसंगवश आलोचना करने के अलावा, विधिवत आलोचना नहीं की थी। दसवीं कांग्रेस वास्तव में 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी पहुँच और पद्धति पर चोट करने और उसे बेनक़ाब करने का मंच बना, हालाँकि इस कांग्रेस की प्रमुख उपलब्धि था नेप की नीतियों का सूत्रीकरण। लेनिन ने 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के प्रत्यक्ष उत्पादक के उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण के लिए अखिल रूसी उत्पादक कांग्रेस बनाने और ट्रेड यूनियनों को पूर्णत: स्वतन्त्र (जैसा कि सुजीत दास चाहते हैं!) बनाकर शासन के कार्य सौंपने के प्रस्ताव का पुरज़ोर विरोध किया। उन्होंने कहा कि ऐसी किसी भी कांग्रेस में आज के दौर में ग़ैर-पार्टी लोगों की बहुतायत होगी और हम जानते हैं कि इस समय समाजवादी-क्रान्तिकारियों और मेंशेविकों का एक प्रमुख मुखौटा ग़ैर-पार्टी व्यक्ति होना ही है। ऐसे में, ऐसी कोई भी कांग्रेस सर्वहारा दृष्टिकोण से निर्णय लेने या काम करने के कार्यभार को नहीं पूरा कर सकती। इसमें निम्नपूँजीवादी विचारों, पेशावादी संकीर्ण सोच और अर्थवाद का बोलबाला होगा, क्योंकि रूस के मज़दूर वर्ग का भी एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा लेनिन के शब्दों में, "घुटनों तक टटपुँजिया राजनीतिक चेतना के दलदल में डूबा हुआ है।" लेनिन ने मज़दूरी और वेतन में मौजूद फर्क को ख़त्म करने की 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की माँग को एक दूरगामी लक्ष्य के तौर पर स्वीकार करते हुए कहा कि यह तात्कालिक लक्ष्य नहीं हो सकता है; आगे लेनिन कहते हैं कि ट्रेडयूनियनों को मुद्रा या वस्तु के रूप में मज़दूरी का इस्तेमाल अभी श्रम के अनुशासन को बढ़ाने और उत्पादकता को बढ़ाने के लिए करना चाहिए। इसके लिए बोनस और पीस वर्क की व्यवस्था को भी अभी लागू करने में कोई हर्ज़ नहीं है। लेनिन ने आगे कहा कि ट्रेड यूनियनों को अनुशासन लागू करना होगा और काम छोड़ कर जाने की और अनुपस्थित रहने की प्रवृत्ति पर काबू पाने के लिए "अनुशासन के कामरेडाना ट्रिब्युनल" बनाने होंगे (इस प्रकार के अनुशासन को मज़दूर वर्ग के उन पिछड़े तत्वों पर मज़दूर वर्ग के उन्नत तत्वों द्वारा लागू किये जाने पर भी सुजीत दास की गहरी आपत्ति है, जो कि काम से अनुपस्थित रहते थे, अराजकता फैलाते थे, और समाजवादी निर्माण की प्रक्रिया को बाधित कर रहे थे; हालाँकि वह इसके लिए लेनिन पर सवाल उठाने की हिम्मत नहीं करते, और स्तालिन को निशाना बनाते हैं)। यहाँ यह बताना भी आवश्यक है कि ऐसे ट्रिब्यूनलों के सदस्यों का चुनाव भी स्वयं मज़दूर ही करते थे। लेकिन सुजीत दास के अनुसार ऐसे कदमों से मज़दूर वर्ग के बीच फूट पड़ गयी, वे विसंगठित हो गये, वगैरह-वगैरह। यह टटपुँजिया और लोकरंजकतावादी अनर्गल प्रलाप नहीं तो और क्या है? आगे लेनिन ने कहा कि वास्तव में ट्रॉट्स्की और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसिस में बहुत-सी चीज़ें समान हैं और उसमें सबसे

महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों ही सत्ता के प्रश्न को नहीं समझते हैं। एक तरफ़ ट्रॉट्स्की सर्वहारा अधिनायकत्व के सवाल को नौकरशाहाना तरीके से हल करना चाहते हैं, तो दूसरी ओर 'वर्कर्स अपोज़ीशन' इसे औपचारिक जनवाद के ज़रिये हल करना चाहता है। यह दोनों ही राजनीति को कमान में रखने की बजाय अर्थवाद को कमान में रखते हैं। **'एक बार फिर से ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर: ट्रॉट्स्की और बुखारिन की ग़लतियाँ'** में लेनिन ने 'वर्कर्स अपोज़ीशन' पर चोट करते हुए कहा कि क्रान्तिकारी हित को औपचारिक जनवाद के मातहत नहीं किया जाना चाहिए बल्कि जनवाद के प्रश्न को क्रान्तिकारी हित के मातहत किया जाना चाहिए, अन्यथा वह बुर्जुआ जनवाद की ओर ले जायेगा। लेनिन ने लिखा: **"रूसी कम्युनिस्ट पार्टी बिना किसी शर्त अपने केन्द्रीय और स्थानीय संगठनों के जरिये ट्रेड यूनियन कार्य के सभी विचारधारात्मक पक्षों का निर्देशन करना जारी रखेगी...ट्रेड यूनियन आन्दोलन के नेतृत्वकारी कार्यकर्ताओं का चुनाव पार्टी के मार्गदर्शनात्मक निर्देशन में होना चाहिए।"** (दसवीं कांग्रेस द्वारा ट्रेड यूनियनों की भूमिका और कार्यभारों पर अपनाये गये प्रस्ताव का सातवाँ बिन्दु)। यहाँ पर आप सुजीत दास की इस पूरी सोच का खण्डन लेनिन में देख सकते हैं कि ट्रेड यूनियनों को पूरी तरह से स्वायत्त होना चाहिए और उनके नेतृत्व के चुनाव में पार्टी का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए, वगैरह। लेकिन यह तो सिर्फ़ एक मुज़ाहिरा है। आगे हम सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की पूरी अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादी और विसर्जनवादी सोच पर लेनिन की अवस्थिति को उद्धरणों के साथ प्रदर्शित करेंगे और यह भी दिखलायेंगे कि सुजीत दास स्तालिन पर बिना वजह नाराज़ हुए जा रहे हैं!

हम लेनिन के कुछ उद्धरणों को यहाँ पेश कर रहे हैं जिससे ट्रॉट्स्कीपंथियों के दक्षिणपन्थी भटकाव और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी भटकाव के बरक्स लेनिनवादी अवस्थिति स्पष्ट हो जायेगी। **'ट्रेड यूनियनें, मौजूदा स्थिति और ट्रॉट्स्की की ग़लतियाँ'** में लेनिन लिखते हैं:

"ट्रेड यूनियनें न सिर्फ़ ऐतिहासिक तौर पर ज़रूरी हैं, बल्कि वे औद्योगिक सर्वहारा वर्ग के संगठन के तौर पर ऐतिहासिक तौर पर अपरिहार्य हैं, और, सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के तहत उन्हें समूचे सर्वहारा वर्ग को अपने में समेटना चाहिए।...एक तरफ़ ट्रेड यूनियनें, जो सभी औद्योगिक मज़दूरों को अपने में समेटती हैं, शासक, प्रभावी, और सरकार चला रहे वर्ग का संगठन हैं, जिस वर्ग ने अपनी तानाशाही कायम की है और राज्यसत्ता के ज़रिये वह ज़ोर-ज़बर्दस्ती का भी इस्तेमाल कर रहा है। लेकिन यह कोई राजकीय संगठन नहीं है; न ही यह ज़ोर-ज़बर्दस्ती के लिए बनाया गया है, यह तो शिक्षण के लिए बनाया गया है। यह संगठन अपने में वर्ग को शामिल करने और उसे प्रशिक्षित करने के लिए है; वास्तव में, यह एक स्कूल है: प्रशासन का स्कूल, आर्थिक प्रबन्धन का स्कूल, कम्युनिज़्म का स्कूल। यह एक बहुत ही असामान्य किस्म का स्कूल है, क्योंकि यहाँ कोई शिक्षक और विद्यार्थी नहीं है; यह उन चीज़ों का एक बेहद असामान्य मिश्रण है, जो कि हमें अनिवार्य तौर पर पूँजीवाद से विरासत में मिली हैं, और जो हमें उन्नत क्रान्तिकारी दस्ते की कतारों से मिला है, जिन्हें आप सर्वहारा वर्ग का क्रान्तिकारी हिरावल कह सकते हैं। इन सच्चाइयों पर ध्यान दिये बग़ैर ट्रेड यूनियनों के बारे में बात करने अर्थ है सीधे कई ग़लतियों के गड्ढे में जाकर गिरना।" (लेनिन, *'ऑन ट्रेड यूनियंस'*,

छठाँ मुद्रण, 1986, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, पृ. 370-71) यहाँ लेनिन ने ट्रॉट्स्की की ट्रेड यूनियनों के सवाल पर अवस्थिति पर चोट की है और बताया है कि ट्रेड यूनियनों को कभी भी राज्यसत्ता के मातहत नहीं किया जा सकता है। लेकिन पार्टी और ट्रेड यूनियन के रिश्तों का न तो "वामपन्थी" बचकाना सरलीकरण किया जा सकता है, जैसा कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' ने किया है और न ही दक्षिणपन्थी नौकरशाहाना विकृतिकरण किया जा सकता है, जैसा कि ट्रॉट्स्की और बुखारिन ने किया। आगे लेनिन के इस लम्बे उद्धरण से ट्रेड यूनियनों, पार्टी, राज्यसत्ता और वर्ग के बीच के रिश्तों के बारे में एक सही समझदारी को निःसृत करना आसान होगा:

"सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की पूरी व्यवस्था में, ट्रेड यूनियनें पार्टी और सरकार के बीच में खड़ी हैं। समाजवाद की ओर संक्रमण में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही अपरिहार्य है, लेकिन यह किसी ऐसे संगठन के ज़रिये लागू नहीं की जा सकती है, जो कि समूचे औद्योगिक मज़दूरों को अपने में समेटता हो। क्यों नहीं?...दरअसल होता यह है कि पार्टी, हम कह सकते हैं कि, सर्वहारा वर्ग के हिरावल को अपने में आत्मसात करती है, और यह हिरावल सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को लागू करता है। इस तानाशाही को या सरकार के कार्यों को ट्रेड यूनियन जैसे आधार के बिना नहीं लागू किया जा सकता है। लेकिन, इन कार्यों को एक विशेष संस्था के माध्यम से किया जाना होता है, जिसे हम सोवियत कहते हैं। इस विशिष्ट स्थिति से क्या व्यावहारिक नतीजे निकाले जा सकते हैं? एक तरफ़ तो इसका यह अर्थ है कि ट्रेड यूनियनें हिरावल और जनसमुदायों के बीच के बीच की *कड़ी* हैं, और अपने रोज़मर्रा के कामों के ज़रिये वे जनसमुदायों में, यानी उस वर्ग के जनसमुदायों में, जो कि हमें पूँजीवाद से कम्युनिज़्म तक ले जाने में सक्षम एकमात्र वर्ग है, दृढ़ विश्वास पैदा करता है। दूसरी तरफ़, ट्रेड यूनियनें राज्यसत्ता का "संचित भण्डार" होती हैं। पूँजीवाद से कम्युनिज़्म के पूरे संक्रमणकाल में ट्रेड यूनियनें यही तो होती हैं। सामान्य अर्थों में, यह संक्रमण उस वर्ग के नेतृत्व के बिना पूरा नहीं किया जा सकता है, जो कि पूँजीवाद द्वारा बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए प्रशिक्षित एकमात्र वर्ग है और जो अकेला वर्ग है जो कि टटपुँजिया मालिक के हितों से अलग है। लेकिन सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को किसी ऐसे संगठन के द्वारा लागू नहीं किया जा सकता है जो कि इस पूरे वर्ग को समेटता हो, क्योंकि सभी पूँजीवादी देशों में सर्वहारा वर्ग अभी भी इतना विभाजित, इतना विकृत, और कई हिस्सों में इतना भ्रष्ट (कुछ देशों में साम्राज्यवाद के द्वारा) है कि सम्पूर्ण सर्वहारा वर्ग को समेटने वाला कोई भी संगठन सीधे सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को लागू नहीं कर सकता है। यह केवल एक हिरावल के ज़रिये लागू किया जा सकता है, जिसने कि पूरे वर्ग की क्रान्तिकारी ऊर्जा को आत्मसात किया हो। यह सबकुछ एक दन्त-चक्रों की व्यवस्था के समान है। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की बुनियादी प्रणाली और पूँजीवाद से कम्युनिज़्म में संक्रमण का बुनियादी आधार ऐसा ही होता है। इतने से ही यह देखा जा सकता है कि कॉमरेड ट्रॉट्स्की जब अपनी पहली थीसिस में यह बताते हैं कि एक "विचारधारात्मक विभ्रम" है और एक संकट की बात करते हैं जो विशेष और विशिष्ट तौर पर ट्रेड यूनियनों में है, तो इस पूरी बात में बुनियादी तौर पर कुछ गड़बड़ है...यह ट्रॉट्स्की हैं जो कि "विचारधारात्मक विभ्रम" के शिकार हैं क्योंकि पूँजीवाद से कम्युनिज़्म तक संक्रमण के

दौर में ट्रेड यूनियनों की भूमिका के इस कुंजीभूत प्रश्न में वह इस तथ्य को नज़रअन्दाज़ कर बैठे हैं कि यहाँ हमारे सामने दन्तचक्रों की एक जटिल व्यवस्था है; क्योंकि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को किसी सर्वहारा जनसंगठन के ज़रिये नहीं लागू किया जा सकता है। यह कई "संचरण पट्टियों" के बिना काम नहीं कर सकती, जो कि हिरावल से उन्नत वर्ग तक, और उन्नत वर्ग से मेहनतकश जनता के जनसमुदायों तक जाती हों। और रूस में यह जनता किसान जनता है..." (*वही*, पृ. 371-72)

यहाँ पर लेनिन वास्तव में सिर्फ़ ट्रॉट्स्की पर हमला नहीं कर रहे हैं, बल्कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसिस पर भी हमला कर रहे हैं, और इस मायने में यह हमला 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' जैसे सभी अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों पर है। यहाँ हम यह याद दिलाना चाहेंगे कि ट्रॉट्स्की और 'वर्कर्स अपोज़ीशन', दोनों ही ट्रेड यूनियनों को शासन के कार्य सौंपने की वकालत कर रहे थे। बस फर्क यह था कि ट्रॉट्स्की ट्रेड यूनियनों को यह कार्य राज्य के मातहत करके करवाना चाहते थे, और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' यह काम राज्य और पार्टी से स्वतन्त्र तौर पर ट्रेड यूनियनों को देना चाहता था, जिसका अर्थ वास्तव में समाजवादी संक्रमण और सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत वर्ग संघर्ष के दौर में, राज्यसत्ता और पार्टी की ज़रूरत को नकारना है। आगे के उद्धरणों में भी पहले हम लेनिन द्वारा ट्रॉट्स्की की आलोचना-सम्बन्धी उद्धरणों को पेश करेंगे और उसके बाद लेनिन द्वारा 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों की आलोचना पर आएँगे। लेकिन ट्रॉट्स्की की ग़लतियों के बारे में लेनिन द्वारा कही गयी हर सामान्य बात, जो कि ट्रॉट्स्की की पहुँच और पद्धति की आलोचना करती है, प्रकारान्तर से 'वर्कर्स अपोज़ीशन' पर भी लागू होती है। **और ऐसा होना लाज़िमी है क्योंकि ट्रॉट्स्की और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की अवस्थितियाँ वास्तव में एक-दूसरे की 'मिरर इमेज' ही हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि टटपुँजिया "वामपन्थी" बचकानापन और दक्षिणपन्थी अवसरवादी भटकाव भी एक-दूसरे की 'मिरर इमेज' होते हैं। इन सबका सामान्य आधार होता है राजनीति को कमान में न रखना और अर्थवाद को कमान में रखना।** देखें कि आगे लेनिन क्या कहते हैं:

"ऐसा जनसमुदायों के प्रति हमारी (यानी कि लेनिन और ट्रॉट्स्की की - अनु.) भिन्न *पहुँच* के कारण, उन्हें जीतने और *उनसे सम्पर्क कायम रखने* के अलग तरीकों के कारण है। यही पूरा मामला है। और यह ट्रेड यूनियनों को एक बेहद ख़ास संस्था बना देता है, जो कि पूँजीवाद के तहत बनीं थीं, जो पूँजीवाद से कम्युनिज़्म तक संक्रमण में अपरिहार्य रूप में बनी रहती हैं, और जिनके पूरे भविष्य पर एक प्रश्न चिन्ह है...अब जिस चीज़ से फर्क पड़ता है वह यह है कि जनता के प्रति किस प्रकार की पहुँच रखें और उन्हें कैसे जीतें, और किस तरह से संचरण की जटिल व्यवस्था को स्थापित करें (यानी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को किस प्रकार संचालित करें)।" (*वही*, पृ. 373-74) आगे लेनिन इस पूरे विचार को और विस्तार देते हैं, **"हमारा पार्टी कार्यक्रम... दिखलाता है कि हमारा राज्य एक मज़दूर राज्य है, *लेकिन नौकरशाहाना घुमाव के साथ.* ... तो, क्या यह कहना सही है कि व्यवहार में इस रूप में आकार ग्रहण करने वाले राज्य के तहत ट्रेड यूनियनों के पास रक्षा करने के लिए कोई चीज़ नहीं है, या कि हम एक बेहद संगठित सर्वहारा वर्ग के भौतिक और आत्मिक हितों की रक्षा करने का काम उनके बिना भी कर सकते हैं? नहीं, यह तर्कप्रणाली सैद्धान्तिक तौर पर ग़लत है...हमारे**

पास अब एक ऐसी राज्यसत्ता है जिसके तहत अपने आपको सुरक्षित करना एक बेहद संगठित सर्वहारा वर्ग का काम है, जबकि हम, अपनी तरफ़ से, मज़दूरों को उनकी ही राज्यसत्ता से सुरक्षित रखने के काम में, और हमारी राज्यसत्ता को सुरक्षित रखने के काम में, इन मज़दूर संगठनों का इस्तेमाल करेंगे।" (*वही*, पृ. 375-376) यहाँ लेनिन अपने सर्वश्रेष्ठ द्वन्द्वात्मक रूप में हैं। हम समझ सकते हैं कि सुजीत दास ने सिर्फ़ राज्यसत्ता से मज़दूर वर्ग के हितों की हिफ़ाज़त के काम में ट्रेड यूनियन के उपयोग वाली लेनिन की बात को उद्धृत करने के लिए क्यों चुना, और क्यों ठीक उसके बाद आने वाले हिस्से को छोड़ दिया जिसमें लेनिन राज्यसत्ता को मज़बूत बनाने और सुरक्षित रखने में ट्रेड यूनियनों के उपयोग की बात करते हैं! जाहिर है कोई भी अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी इस हिस्से को उद्धृत नहीं करेगा। ट्रॉट्स्की और बुखारिन की आलोचना के अन्त में लेनिन कहते हैं कि वास्तव में उनके पूरे प्रस्ताव को लागू करने का अर्थ होगा ट्रेडयूनियनों को नौकरशाही के हाथों प्रताड़ित करवाना।

अब देखते हैं कि लेनिन 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की पूरी थीसिस के बारे में क्या कहते हैं, साथ ही यह भी ग़ौर करें कि लेनिन जिस-जिस नुक्ते पर उनकी आलोचना कर रहे हैं, क्या ठीक-ठीक उन्हीं नुक्तों पर 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के सुजीत दास की आलोचना नहीं की जा सकती?

"यह कम्युनिज़्म से सीधे तौर पर रिश्ता तोड़ना है और संघाधिपत्यवाद की ओर संक्रमण है। सारतः, यह श्ल्याप्निकोव के उसी नारे "राज्य का यूनियनीकरण कर दो" का दुहराव है, और इसका अर्थ है टुकड़े-टुकड़े में सर्वोच्च आर्थिक परिषद (वेसेंखा) के पूरे ढाँचे को सम्बन्धित ट्रेड यूनियनों के हवाले कर देना...

"कम्युनिज़्म कहता है: कम्युनिस्ट पार्टी सर्वहारा वर्ग की हिरावल है, वह ग़ैर-पार्टी मज़दूर जनसमुदायों का नेतृत्व करती है, शिक्षित करते, तैयार करते, ज्ञान और प्रशिक्षण देते हुए जनसमुदायों को–पहले मज़दूरों और फिर किसानों को–नेतृत्व देती है, ताकि वह उन्हें पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रशासन को अपने हाथ में केन्द्रित करने के योग्य बना सके।

"संघाधिपत्यवाद उद्योगों में विखण्डित गैर-पार्टी मज़दूर जनसमुदायों को उनके उद्योगों के प्रबन्धन का काम सौंप देता है, और इस प्रकार पार्टी को ग़ैर-ज़रूरी बना देता है, और इस प्रक्रिया में वह जनसमुदायों को प्रशिक्षित करने का कोई लम्बा अभियान चला पाने में भी असफल हो जाता है, और वास्तव में उनके हाथों में पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन को केन्द्रित कर पाने में भी असफल हो जाता है।" (लेनिन, दि पार्टी क्राइसिस, *'ऑन ट्रेड यूनियंस'*, छठाँ मुद्रण, 1986, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, पृ. 399-400) आगे देखें, **"अगर औद्योगिक प्रबन्धन के लोगों को ट्रेड यूनियनों के ही द्वारा, जिनके हर दस सदस्यों में से नौ ग़ैर-पार्टी मज़दूर हैं, नियुक्त करना है ("बाध्यताकारी नामांकन"), तो पार्टी की क्या ज़रूरत है?"** (*वही*, पृ. 400)

यहाँ ग़ौर करने की बात यह है कि सुजीत दास का अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' के संस्करण और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के संस्करण के बीच में शर्मनाक तरीके से दोलन कर रहा है। इनमें से पहले धड़े का कहना था कि फैक्टरी कमेटियों (जिन्हें शायद सुजीत दास अज्ञानवश मज़दूर सोवियतें समझ बैठे हैं) को

अलग-अलग कारखानों का प्रबन्धन सौंप दिया जाना चाहिए, और दूसरे धड़े का मानना था कि एक-एक उद्योग के प्रबन्धन का काम अलग-अलग ट्रेड यूनियनों को सौंप दिया जाना चाहिए। अपने पूरे लेख में सुजीत दास कभी पहली वाली बात के पक्ष में खड़े दिखायी पड़ते हैं, तो कभी दूसरी बात के पक्ष में। **संक्षेप में, सुजीत दास का अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद बेहद अराजकतावादी ढंग से अनिरन्तरता का शिकार है। कम-से-कम श्री दास को यह तय कर लेना चाहिए कि वह अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के कौन-से संस्करण को मानते हैं!** ख़ैर, इससे लेनिन की अवस्थिति को स्वीकारने वालों पर कोई ख़ास फर्क नहीं पड़ता है कि श्री दास अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के कौन से संस्करण को स्वीकार करेंगे, या इनके मिश्रण से अपना कोई संस्करण बनायेंगे। आगे देखें लेनिन मज़दूर वर्ग की स्वत:स्फूर्तता पर अनालोचनात्मक तरीके से जश्न मनाने वाली इस प्रवृत्ति के बारे में क्या कहते हैं:

"इस भटकाव की सैद्धान्तिक रूप से सबसे पूर्ण और स्पष्ट रूप से परिभाषित अभिव्यक्ति तथाकथित 'वर्कर्स अपोज़ीशन' ग्रुप की थीसिसें और साहित्यिक उत्पाद हैं। मिसाल के तौर पर, इसको इस ग्रुप द्वारा प्रतिपादित निम्न थीसिस पर्याप्त साफ तरीके से चित्रित कर देती है: "राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन को संगठित करने का काम एक अखिल-रूसी उत्पादक कांग्रेस का है जो कि औद्योगिक यूनियनों में संगठित होगी, जो कि वास्तव में गणराज्य की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को संचालित करने के लिए एक केन्द्रीय निकाय का चुनाव करेंगी।" इस और कई ऐसे ही कथनों की बुनियाद में जो विचार हैं वे सिद्धान्ततः मूल रूप में ग़लत हैं, और वास्तव में वे मार्क्सवाद और कम्युनिज़्म से एक सम्पूर्ण विच्छेद को दिखलाते हैं...

"मार्क्सवाद बताता है...कि केवल मज़दूर वर्ग की राजनीतिक पार्टी, यानी कम्युनिस्ट पार्टी ही सर्वहारा वर्ग के हिरावल और साथ ही समूची मेहनतकश आबादी को एकजुट करने, प्रशिक्षित करने और संगठित करने में सक्षम है, जो कि एकमात्र शक्ति है जो इस जनसमुदाय के अपरिहार्य टटपुँजिया दोलनों और सर्वहारा वर्ग के भीतर मौजूद संकीर्ण पेशा-केन्द्रित यूनियनवाद या पेशागत पूर्वाग्रहों का प्रतिरोध करने, और साथ ही समूचे सर्वहारा वर्ग की एकजुट गतिविधियों को निर्देशित करने में सक्षम होगी, यानी कि उसे राजनीतिक रूप से नेतृत्व देने, और इसके जरिये समूची मेहनतकश आबादी के सभी जनसमुदायों को नेतृत्व देने में सक्षम होगी। इसके बिना सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व असम्भव है।

"गैर-पार्टी सर्वहारा के सम्बन्ध में कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका के बारे में, और मेहनतकश आबादी की समस्त जनसमुदायों से इन दोनों कारकों के सम्बन्ध के बारे में यह ग़लत समझदारी, कम्युनिज़्म से एक आमूलगामी सैद्धान्तिक प्रस्थान है और संघाधिपत्यवाद और अराजकतावाद की ओर विचलन है, और यह विचलन वर्कर्स अपोज़ीशन के सभी दृष्टिकोणों के पोर-पोर में समाया हुआ है।" (लेनिन, **प्रिलिमिनरी ड्राफ्ट रिज़ोल्यूशन ऑफ दि टेन्थ कांग्रेस ऑफ आर.सी.पी. ऑन दि सिंडिकलिस्ट एंड एनार्किस्ट डेवियेशन इन अवर पार्टी**, *ऑन ट्रेड यूनियंस*, छठां मुद्रण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1986, पृ. 458-59) इसके कुछ ही आगे लेनिन लिखते हैं, **"...संघाधिपत्यवादी और अराजकतावादी एक तात्कालिक नारे के तौर पर कहते हैं "उत्पादकों की कांग्रेस या**

कांग्रेसें" जो कि आर्थिक प्रबन्धन के निकायों का "चुनाव करें"। इस प्रकार, सर्वहारा वर्ग की ट्रेड यूनियनों के सम्बन्ध में, ट्रेड यूनियनों के मेहनतकश जनता के अर्द्ध-टटपुँजिया या यहाँ तक कि पूरी तरह से टटपुँजिया जनसमुदायों से सम्बन्ध में, पार्टी की शिक्षणात्मक और संगठनात्मक भूमिका को पूरी तरह से गोल कर दिया गया है, ख़त्म कर दिया गया है, और अर्थव्यवस्था के नये रूपों के निर्माण के उस व्यावहारिक कार्य को जारी रखने और उसे सही करने की बजाय, जिसे कि सोवियत राज्यसत्ता ने पहले से ही शुरू कर दिया है, हमें इस काम में टटपुँजिया अराजकतावादी विघ्न मिलता है, जो कि केवल बुर्जुआ प्रतिक्रान्ति की तरफ़ ही ले जा सकता है।" (*वही*, पृ. 460)

इसी मसौदा प्रस्ताव में एक जगह लेनिन लिखते हैं: **"पहली बात तो यह कि "उत्पादक" की अवधारणा सर्वहाराओं को अर्द्धसर्वहाराओं और छोटे माल उत्पादकों के साथ मिश्रित कर देती है, जो कि वर्ग संघर्ष की अवधारणा से आमूलगामी प्रस्थान है और साथ ही इस बुनियादी माँग से भी प्रस्थान है कि वर्गों के बीच सटीक तौर पर फर्क किया जाय।**

"दूसरी बात यह है कि गैर-पार्टी जनसमुदायों को निमन्त्रण या उसके साथ खिलवाड़, जिसे कि ऊपर उद्धृत थीसिस में अभिव्यक्त किया गया है, वह भी मार्क्सवाद से उतना ही आमूलगामी प्रस्थान है।" (वही, पृ. 458)

यहाँ पर हम देख सकते हैं कि लेनिन की 'प्रत्यक्ष उत्पादकों के उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण' के बारे में क्या अवस्थिति थी। सुजीत दास ने अपने पूरे लेख में 'अलगाव बढ़ गया', 'प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण नहीं हुआ', 'पार्टी की तानाशाही हो गयी' जैसे अराजकतावादी पिटे-पिटाये जुमलों का अनगिनत बार इस्तेमाल किया है, यानी कि लगभग हर पेज पर। और इनका जवाब मार्क्सवाद-लेनिनवाद ने समाजवाद के ठोस अनुभवों के आधार पर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही दे दिया था। लेकिन सुजीत दास हर विजातीय प्रवृत्ति का नये सिरे से आविष्कार करने पर आमादा हैं!

नेप के दौर में, यानी कि 1921 से 1929 तक, ट्रेड यूनियनों की स्थिति को लेकर सुजीत दास काफ़ी प्रसन्न दिखलायी देते हैं। ऊपर हमने 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' का जो हिस्सा उद्धृत किया है, उसमें श्री दास ने कहा है कि 1929 में ट्रेड यूनियनें काफ़ी स्वतन्त्र थीं, और उनकी कारखानों के प्रशासन में अहम भूमिका थी! उनके अनुसार यह स्थिति 1930 में बदल गयी जब ट्रेड यूनियनों को राज्य के अधीन करना शुरू कर दिया गया और फिर मज़दूरों पर अनुशासन आदि के नियम थोपे जाने लगे, अनुपस्थिति आदि के लिए उन्हें दण्डित किया जाने लगा! जब-जब हमें लगता है कि सुजीत दास ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें संयोगवश कह जाते हैं, और यह महज़ एक 'स्लिप' या 'लैप्स' होगी, तब-तब श्री दास अपनी तर्जनी उठाकर हमें ऐसा सोचने से रोक देते हैं, और बताते हैं कि ऐसी विचित्र बातें वे संयोग से नहीं बल्कि नियम और आदत से करते हैं! इस कथन से उन्होंने फिर से दिखलाया है कि उन्हें 1917 से 1929 के सोवियत इतिहास के बारे में उतना ही पता है जितना कि अमेरिकी रिपब्लिकन, भूतपूर्व उपराष्ट्रपति पद उम्मीदवार सारा पालिन को अमेरिका की विदेश नीति के बारे में पता है! आइये देखें कि नेप के दौरान लेनिन के नेतृत्व में पार्टी द्वारा ट्रेड यूनियनों के क्या कार्यभार तय किये थे। इस उद्धरण पर ग़ौर करें:

"सर्वहारा राज्य के तहत ट्रेड यूनियन सदस्यों से जिस चीज़ की आवश्यकता है वह

यह है कि वे कामरेडाना अनुशासन को और साथ ही मेहनतकश जनता के हितों की रक्षा के उद्देश्य के लिए मज़दूरों की शक्ति को एकजुट करने की ज़रूरत को समझें और साथ ही यह समझें कि वे मेहनतकश जनता की सरकार पर, यानी सोवियत सरकार पर भरोसा करें। सर्वहारा राज्यसत्ता को मज़दूरों को अपने कानूनी व भौतिक कारणों के लिए ट्रेड यूनियनों में संगठित होने के लिए प्रेरित करना चाहिए, लेकिन ट्रेड यूनियनों को समझना चाहिए कि उनके कर्तव्यों के बिना उनके कोई अधिकार भी नहीं हो सकते।" (लेनिन, **'ड्राफ्ट थीसिस ऑन दि रोल एण्ड फंक्शंस ऑफ दि ट्रेड यूनियंस अण्डर दि न्यू इकोनॉमिक पॉलिसी'**, *ऑन ट्रेड यूनियंस*, छठां संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, 1986, पृ. 466) इसी मसौदा थीसिस में लेनिन नेप के दौर में ट्रेड यूनियनों की भूमिका के बारे में लिखते हैं, और यह उद्धरण सुजीत दास द्वारा सोवियत संघ के इतिहास के मिथकीकरण को और अच्छी तरह से अनावृत्त कर देता है, **"...अभी देश में मौजूद हालात में, यह बिल्कुल अनिवार्य है कि कारखानों में सारा प्राधिकार प्रबन्धन (यानी, एक विशेषज्ञ व्यक्ति के हाथों में प्रबन्धन-अनुवादक) के हाथों में केन्द्रित हो...इन परिस्थितियों में, कारखानों के प्रबन्धन में ट्रेड यूनियनों के सभी प्रत्यक्ष हस्तक्षेपों को निश्चित तौर पर हानिकारक माना जाना चाहिए और यह माना जाना चाहिए कि इसकी कतई आज्ञा नहीं दी जा सकती है।"** (*वही*, पृ. 467) आगे लेनिन ट्रेड यूनियनों के कार्यभार के तौर पर बताते हुए कहते हैं कि ट्रेड यूनियनों को मज़दूरों के बीच से हर प्रकार के संकीर्ण विचारों को हटाना चाहिए और उन्हें समझाना चाहिए कि उत्पादकों के उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण का अर्थ अलग-अलग कारखानों या अलग-अलग उद्योगों में मज़दूरों का उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण नहीं, बल्कि पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजन में मज़दूर वर्ग की राज्यसत्ता और पार्टी के ज़रिये मज़दूर वर्ग का नियन्त्रण है। नेप के दौर में ट्रेड यूनियनों की भूमिका और स्थिति के बारे में कोई भी बात करते समय सुजीत दास को ऐसा ग़ैर-ज़िम्मेदाराना रुख़ नहीं अपनाना चाहिए था; उन्हें अगर नेप के दौर में ट्रेड यूनियनों के बारे में अपनी बात कहनी थी, तो कम से कम वह दस्तावेज़ तो पढ़ लेना चाहिए था जो ख़ास तौर पर इसी विषय पर केन्द्रित है।

ट्रेड यूनियन और पार्टी के रिश्तों के बारे में, ट्रेड यूनियनों की सर्वहारा अधिनायकत्व के दौर में भूमिका के बारे में और साथ ही पार्टी द्वारा ट्रेड यूनियनों के नेतृत्व के बारे में लेनिन की रचनाओं से ऐसे दर्जनों और उद्धरण दिये जा सकते हैं। लेकिन हमें लगता है कि उपरोक्त उद्धरणों से अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी भटकाव और ट्रॉट्स्की-बुखारिन धड़े के दक्षिणपन्थी भटकावों की इन बुनियादी सवालों पर ग़लतियों के विषय पर लेनिन की अवस्थिति पर्याप्त साफ़ हो चुकी है। अगले अहम सवाल, यानी की पार्टी के चरित्र और प्रकृति के सवाल पर जाने से पहले, हम एक छोटी-सी टिप्पणी से अपनी बात ख़त्म करेंगे। ट्रॉट्स्की की अवस्थिति तार्किक तौर पर निरन्तरतापूर्ण थी और साथ ही सर्वहारा वर्ग दृष्टिकोण से विजातीय थी, इसलिए लेनिन ने शुरुआती दौर में ही उस पर ज़्यादा ध्यान दिया और दो लम्बे लेख लिखे। लेकिन 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की पूरी सोच को, जो कि सुजीत दास की सोच भी है, लेनिन हास्यास्पद मानते थे। इसकी तुलना में ट्रॉट्स्की की अवस्थिति को लेनिन सही अवस्थिति के अपेक्षाकृत ज़्यादा करीब मानते थे। इस उद्धरण से यह बात साफ़ हो जाती है:

"श्ल्याप्निकोव (वर्कर्स अपोज़ीशन की तरफ़ से) संघाधिपत्यवादी अवस्थिति को पढ़ते हैं जिसे ट्रॉट्स्की ने पहले ही तहस-नहस कर दिया था (ट्रॉट्स्की के मंच की

थीसिस संख्या 16) और जिसे (आंशिक तौर पर शायद इसी वजह से) कोई भी गम्भीरता से लेने के लिए तैयार नहीं है।" ((लेनिन, **दि पार्टी क्राइसिस**, *ऑन ट्रेड यूनियंस*, छठां मुद्रण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1986, पृ. 396) वास्तव में स्वयं लेनिन भी गम्भीरता से नहीं लेते थे। पार्टी कांग्रेस में 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसिस को साप्रोनोव ने पेश किया था। देखिये इसके बारे में लेनिन क्या कहते हैं: **"एक ही थीसिस (3) में ये साप्रोनोवाइट लोग 'एक गहरे संकट' और ट्रेड यूनियनों के 'नौकरशाहाना परिगलन' की बात करते हैं, और साथ ही 'बिल्कुल' ज़रूरी कार्यभार के तौर पर, उत्पादन में ट्रेड यूनियनों के *अधिकारों* के विस्तार' की बात भी करते हैं...शायद उनके 'नौकरशाहाना परिगलन' के कारण? क्या इस ग्रुप को गम्भीरता से लिया जा सकता है?"** (लेनिन, *कलेक्टेड वर्क्स*, खण्ड 32, फॉरेन लैंग्वेजेज़ प्रेस, मॉस्को, चौथा अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 51-52) स्पष्ट है कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद को 1921 आते-आते कोई गम्भीरता से भी नहीं लेता था, जिसमें कि स्वयं लेनिन भी शामिल हैं। और इसके कारणों को समझना ज़्यादा कठिन नहीं है।

यहाँ लेनिन का यह दृष्टिकोण बिल्कुल साफ है कि ट्रेड यूनियनों की सर्वहारा अधिनायकत्व और समाजवादी संक्रमण के पूरे ऐतिहासिक कालखण्ड में क्या भूमिका होनी चाहिए और उसमें किस प्रकार बदलाव होना चाहिए। उपरोक्त उद्धरणों में लेनिन राज्य और सोवियत, पार्टी और सोवियत, राज्य और ट्रेड यूनियन, पार्टी और ट्रेड यूनियन के आपसी सम्बन्धों बारे में कुछ महत्वपूर्ण बातें कहते हैं। इससे पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका हर जगह पर स्पष्ट है; चाहे वह सोवियतें हों या ट्रेड यूनियनें। लेकिन सुजीत दास इसी बात पर सवाल उठाते हैं। वह बार-बार अपने लेख में इस किस्म की बातें करते हैं कि शासन वर्ग की बजाय पार्टी के हाथ में था; पार्टी की इच्छा को वर्ग की इच्छा मान लिया गया था; पार्टी ने वर्ग को अपदस्थ कर दिया था, या यह कि पार्टी वर्ग का स्थानापन्न बन गयी थी। ऐसे में यह सवाल उठाना ज़रूरी हो गया है कि **पार्टी आख़िर होती क्या है? पार्टी की लेनिनवादी समझदारी क्या है? सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और सर्वहारा वर्ग के राज्य में पार्टी की भूमिका और स्थान क्या है?** कुछ बातें ऊपर आयीं हैं जिससे लेनिन का यह विचार हमें पहले ही पता चल चुका है कि सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रधान

उपकरण सर्वहारा वर्ग की पार्टी होती है और सर्वहारा अधिनायकत्व को लागू करने का काम पार्टी करती है। लेकिन इस विषय पर और स्पष्टता की ज़रूरत है। पार्टी के सवाल पर पहले हम सुजीत दास की पूरी समझदारी पर कुछ बातें कहना चाहेंगे और उसके बाद हम लेनिन को उद्धृत करते हुए इस विषय पर लेनिनवादी सोच को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

ख) वर्ग, पार्टी और राज्यसत्ता के अन्तर्सम्बन्धों के प्रश्न पर 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' का ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद

बेहतर है कि सुजीत दास के विचारों की व्याख्या शुरू करने से पहले उन्हें ही बोलने दिया जाय। पार्टी और पार्टी की भूमिका के बारे में सुजीत दास की पूरी समझदारी उनके ही तमाम कथनों से स्पष्ट हो जाती है।

"...अगर वर्ग संगठन, यानी, उत्पादक वर्ग/वर्गों का अपना संगठन हर दिन बढ़ता नहीं जा रहा है, तो प्रत्यक्ष उत्पादक का उत्पादन के सम्बन्धों से अलगाव घट नहीं सकता है। लेकिन अगर इस वर्ग की राजनीतिक शक्ति विकसित नहीं हो रही है, तो यह शक्ति किसी छोटी सी मण्डली के हाथों में केन्द्रित हो जायेगी – चाहे इसके विपरीत कुछ भी कहा जाय। फिर, प्रत्यक्ष उत्पादक के इस अलगाव को कैसे दूर किया जा सकता है? सोवियतें सोवियत संघ में वह संस्था हो सकती थीं जिनके जरिये प्रत्यक्ष उत्पादकों की राजनीतिक शक्ति मूर्त रूप ले सकती थी। लेकिन सामूहिकीकरण आन्दोलन के पूरे कालखण्ड के दौरान यह देखा गया कि किसानों की सोवियतों की भूमिका परिधिगत थी। वे संस्थाएँ क्रमिक प्रक्रिया में मज़बूत नहीं बल्कि, कमज़ोर बनती गयीं; राज्य और पार्टी सापेक्षिक तौर पर मज़बूत बनते गये। सामूहिकीकरण आन्दोलन के पूरे कालखण्ड के दौरान, किसान समितियों को बस ऊपर से, यानी पार्टी से आने वाले निर्णयों पर सिर हिलाकर सहमति देने की भूमिका में धकेल दिया गया था।" (पृ. 82-83, *'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन'*, फरवरी 2008) और देखें: ***"...सर्वहारा अधिनायकत्व मात्र कागज़ों पर रह गया, वास्तव में सारी राजनीतिक शक्ति पार्टी के हाथ में केन्द्रित हो गयी।"*** (*वही*, पृ. 84) यह भी देखें, ***"...राजनीतिक सत्ता मज़दूर वर्ग के हाथ में केंद्रित नहीं हो रही थी, बल्कि मज़दूर वर्ग पार्टी और राज्य के प्रति दासवत एक सामाजिक शक्ति बनता जा रहा था। ट्रेड यूनियनें जो कि उनका अपना संगठन थीं, वे या तो विलोपित होती जा रही थीं, या फिर उन्हें पार्टी और राज्य का गुलाम बनाया जा रहा था।"*** (*वही*, पृ. 86) लेकिन यह तो सिर्फ़ शुरुआत थी! इस लम्बे उद्धरण में सुजीत दास ने अपनी और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन की पूरी सोच को एकदम खोल कर रख दिया है:

"अगर "चेतना" को निर्धारक भूमिका अदा करनी है, तो इसे "हिरावल" की चेतना बनना होगा। मज़दूर वर्ग के एक हिस्से को उसका वाहक बनना होगा और इस चेतना से लैस हिरावल बनना पड़ेगा। यह हिरावल हिस्सा ही "पार्टी" होगा। ***इसके विपरीत, समाजवादी क्रान्ति पूँजीवाद को उखाड़ फेंकने के बाद पूरे मज़दूर वर्ग को सम्पूर्ण रूप से सत्ता में पहुँचाती है, स्वयं पार्टी को नहीं।*** *यह हमें एक अन्तरविरोध की तरफ़ ले जाता है। निर्धारक भूमिका हिरावलों, दूसरे शब्दों में पार्टी द्वारा निभाई गयी थी, हालाँकि, कम से कम सैद्धान्तिक तौर पर मज़दूर वर्ग सत्ता में होता है।* ***पार्टी ने यह सोचना शुरू कर दिया कि वर्ग पिछड़ा हुआ है, वर्ग में किसान और निम्न पूँजीवादी तत्व बचे हुए हैं। इसलिए वह सम्पूर्णता को नहीं देख सकता है। इसलिए पार्टी ने अपने नज़रिये को वर्ग पर थोपना शुरू कर दिया। दूसरी तरफ़ वर्ग ने यह सोचना शुरू कर दिया कि उसकी अपनी पार्टी ही उसके वर्ग हितों की उपेक्षा कर रही है। यह अन्तरविरोध सोवियत संघ में नेप के दिनों से ही था। ट्रेड यूनियनें और सोवियतें मज़दूरों के हितों की नुमाइन्दगी कर रही थीं और प्रबन्धक राज्य की आधिकारिक नीतियों की लागू कर रहे थे। ये दोनों एक-दूसरे के ख़िलाफ़ जा रहे थे।*** *संघर्ष अपरिहार्य हो गया। यह समस्या 1930 के दशक में बेहद तीक्ष्ण हो गयी।* ***मज़दूरों के हिरावल ने सोचा कि मज़दूरों के वे पिछड़े हिस्से जो मज़दूर राज्य की आवश्यकता को नहीं समझ सकते, वे बुनियादी तौर पर "निम्न पूँजीवादी" और "किसान" हैं। क्योंकि अगर वे सच्चे मज़दूर होते (यानी, अगर वे हिरावल होते), तो उन्होंने उस पल की अनिवार्यता को समझा होता। इसलिए अगर उन्हें ट्रेड यूनियनों व अन्य माध्यमों की ज़रिये मज़बूत किया जाता, तो वे पूँजीवाद के हितों को आगे बढ़ाते।***

इस प्रकार ट्रेड यूनियनों की गतिविधियों को रोका गया। इसकी प्रतिक्रिया में वर्ग एक बार फिर पार्टी से अलगावग्रस्त हो गया। इस समस्या को सही तरीके से हल नहीं किया जा सका; इसलिए समाजवाद के इतिहास में एक निहित तरीके से तय किया गया कि "वर्ग" और उसका "हिरावल", यानी कि "पार्टी" एक ही हैं। इस तरह से पार्टी के हाथ में जो सत्ता थी उसे वर्ग की सत्ता मान लिया गया। और इस कारण के चलते, वर्ग की अपनी सत्ता के केन्द्र यानी सोवियतें गैर-ज़रूरी हो गयीं, वर्ग अपने सभी स्वतन्त्र संगठनों को खो बैठा, पार्टी हर चीज़ की निर्धारक बन गयी।...पार्टी वर्ग से कटी हुई, वर्ग के ऊपर, और वर्ग के दायरों से बाहर का एक संगठन सिद्ध हुई। *इसका परिणाम वही हुआ जिसकी अपेक्षा की जा सकती थी। कम्युनिस्ट पार्टी की विचारधारात्मक बुनियाद मज़दूर वर्ग की एक वर्ग के तौर पर बुनियाद डालती है और यह सुनिश्चित करती है इस अवलम्ब को वर्गों के निरन्तर संघर्ष से हासिल करे। इस प्रकार, वर्ग से कटी हुई एक पार्टी अपरिहार्य रूप से बुर्जुआ वर्ग की तरफ़ झुकने के अनुकूल वस्तुगत स्थिति को प्राप्त करती है। यह प्रक्रिया स्तालिन काल में शुरू हुई और बाद के दिनों में ख्रुश्चेव के साथ पूरी हुई। दूसरी बात, चूँकि पार्टी अपने वर्ग से कटी हुई थी, इसलिए राज्य और उत्पादन के साधन जो कि पार्टी के द्वारा संचालित हो रहे थे, वे भी वर्ग से कट गये। पूँजीवादी व्यवस्था में मज़दूर पूँजीपतियों के मालिकाने के उत्पादन के साधनों से अलगावग्रस्त होता है, मज़दूर के पास उत्पादन प्रक्रिया और वितरण के बारे में तय करने का कोई अधिकार नहीं होता; और सोवियत संघ में, मज़दूर राजकीय मालिकाने वाले उत्पादन के साधनों से अलगावग्रस्त हो गये। यह स्थिति मज़दूरों के पार्टी से अलगावग्रस्त हो जाने के कारण पैदा हुई थी।...मज़दूर वर्ग बिखरा हुआ था, मज़दूर सोवियतें तनावयुक्त थीं, यहाँ तक कि ट्रेड यूनियनें भी काम नहीं कर रही थीं, लेकिन ऐसी स्थिति में कहा गया कि मज़दूर वर्ग की राजनीतिक सत्ता का रूप "सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व" है। सोवियत संघ के राजनीतिक साहित्य में, यह कभी ज़िक्र नहीं किया गया था कि "सर्वहारा वर्ग की तानाशाही" "पार्टी की तानाशाही" के ज़रिये व्यवहार में आयेगी। यह कभी नहीं कहा गया था कि मज़दूर वर्ग की तानाशाही और पार्टी की तानाशाही एक ही चीज़ हैं। बल्कि इसके विपरीत पर काफ़ी ज़ोर दिया गया था। अक्टूबर क्रान्ति के शुरुआती कुछ वर्षों को छोड़ दें, जब सोवियतें जीवित थीं, तो मज़दूरों की तानाशाही की बार-बार घोषणाओं के बावजूद हमने कभी इस प्रकार की तानाशाही नहीं देखी थी। और अगर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही ने रूप ग्रहण नहीं किया है, तो बहुसंख्या के लिए जनवाद कैसे स्थापित हो सकता है?...इसी प्रकार राज्य के अस्तित्व और उसके विलोपीकरण के अन्तरविरोध को भी तत्कालीन सोवियत संघ द्वारा हल नहीं किया जा सका। लेनिन ने अपनी पुस्तक "राज्य और क्रान्ति" में दिखलाया था कि राज्य जितना जनवादी बनता जाता है, उसके "विलोपीकरण" के लिए स्थिति उतनी ही अनुकूल बनती जाती है। अगर मज़दूरों की तानाशाही रूप ग्रहण नहीं करती, तो राज्य कभी भी बहुसंख्यक नागरिकों को जनवाद नहीं दे सकता है। चूँकि अगर वर्ग के पास अपनी राजनीतिक सत्ता का केन्द्र नहीं है, तो उस राज्य को बचाने के लिए वह कभी हथियारबन्द नहीं होता, जो बहुसंख्या को जनवाद देता है और उत्पादन और वितरण पर "नियन्त्रण" स्थापित करने और साथ ही श्रम पर और श्रम द्वारा उत्पादित माल का "लेखा-जोखा" रखने का अधिकार देता है।"* (वही, पृ. 95-97, ज़ोर हमारा)

इस पूरे उद्धरण में जो बातें आयी हैं, उनमें से कई बातों को तो कोई मतलब ही नहीं है,

इसलिए उनका खण्डन करना भी सम्भव नहीं है। मिसाल के तौर पर सुजीत दास का मानना है कि चेतना हिरावल के बाहर कहीं अस्तित्वमान होती है और उसे हिरावल की चेतना बन जाना होता है। यह सर्वहारा चेतना के पैदा होने की पूरी प्रक्रिया को नहीं समझने के समान है। सर्वहारा चेतना पहले से प्रदत्त नहीं होती, बल्कि वर्गों के संघर्षों और उन संघर्षों के अनुभवों के हिरावल द्वारा वैज्ञानिक समाहार के ज़रिये निःसृत होती है। इसलिए हिरावल का संघटन ही सर्वहारा चेतना के आत्मसातीकरण के ज़रिये होता है। लेकिन सुजीत दास के अनुसार यह चेतना पता नहीं कहाँ से समाज में पहले से मौजूद होती है, और बस उसे हिरावल की चेतना "बन" जाना होता है। इसी प्रकार श्री दास कहते हैं कि पार्टी वर्ग को एक वर्ग के तौर पर स्थापित करती है। यहाँ पर भी वर्ग चेतना और राजनीतिक वर्ग चेतना में सुजीत दास उस फर्क को नहीं समझते जो कि लेनिन ने बताया था। वर्ग 'अपने आप में वर्ग' (क्लास-इन-इटसेल्फ) से 'अपने लिए वर्ग' (क्लास-फॉर-इटसेल्फ) में अपने संघर्षों के साथ ही तब्दील होने लगता है, लेकिन बिना पार्टी के वह राजनीतिक सत्ता के प्रश्न तक नहीं पहुँच सकता। राजनीतिक चेतना मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में बाहर से ही आ सकती है, जैसा कि लेनिन ने 'क्या करें?' में बताया था। लेकिन इस मामले में श्री दास लेनिनवादी अवस्थिति को नहीं मानते बल्कि अपनी एक नयी 'दासवादी' अवस्थिति पैदा करने में व्यस्त हैं! एक और मिसाल पर ग़ौर करें।

ऊपर के उद्धरणों में आप 'अलगाव' और 'अलगावग्रस्त' शब्दों का प्रयोग देखें, जिन्हें हमने आपकी सुविधा के लिए अलग से रेखांकित कर दिया है। एक बात स्पष्ट है कि सुजीत दास अलगाव की मार्क्सवादी समझदारी से काफ़ी दूर हैं। वह अलगाव का इस्तेमाल रोज़मर्रा की भाषा में इस शब्द के प्रयोग की तर्ज़ पर करते हैं, जैसे कि 'फलाँ का फलाँ से अलगाव हो गया', 'फलाने अलगाव का शिकार है', वगैरह! सुजीत दास के 'प्रत्यक्ष उत्पादक' भी इन्हीं अर्थों में उत्पादन के साधनों से 'अलगावग्रस्त' हो जाते हैं; उसके बाद पार्टी वर्ग से 'अलगावग्रस्त' हो जाती है; फिर राज्य भी वर्ग से 'अलगावग्रस्त' हो जाता है; फिर ट्रेड यूनियन भी वर्ग से अलगावग्रस्त हो जाती है...अन्त में, ऐसा लगता है कि हर चीज़ बाकी चीज़ों से अलगावग्रस्त हो गयी है! अलगाव की ऐसी अखबारी बचकानी समझदारी से सुजीत दास ने सोवियत संघ में अलगाव के विश्लेषण की जो परियोजना हाथ में ली है, वह और कुछ नहीं करती, तो अन्त में कुछ मनोरंजन तो ज़रूर करती है! अलगाव की पूरी मार्क्सवादी समझदारी क्या है, सोवियत संघ में अलगाव की परिघटना से समाजवादी राज्य कैसे निपटा, इस प्रक्रिया में किस हद तक वह सफल रहा और कहाँ से उसकी असफलता शुरू होती है, इसके बारे में कुछ बातें हम ऊपर कह आये हैं, जिन्हें हम यहाँ दुहरायेंगे नहीं, और कुछ बातें हम आगे कहेंगे।

इन उद्धरणों में कुछ बातें ऐसी हैं जो कि ज़बरन लेनिन और उनके नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी के मुँह में ठूँस दी गयी हैं। इन बातों का खण्डन करने के लिए हम स्वयं लेनिन को ही आगे उद्धृत करेंगे। यहाँ पर भी हम देख सकते हैं कि सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी अवधारणा के इमले के बारे में भी सुजीत दास को कुछ पता नहीं है। अपने इस अज्ञान की भरपाई वह अपनी कल्पनाओं और बचकाने सैद्धान्तिकीकरण से करते हैं। मिसाल के तौर पर, सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी लेनिनवादी सोच को **गॉर्टर, रूले, पान्नेकोएक** जैसे डच "वामपन्थी" कम्युनिस्टों और **पॉल मात्तिक** जैसे काउंसिल कम्युनिस्टों के मज़दूर जनवाद की सोच में अपचयित कर दिया गया है। आगे हम इन बचकाने "वामपन्थी" सूत्रीकरणों से सुजीत

दास की गहरी मित्रता को भी "वामपन्थी" कम्युनिस्टों, और यहाँ तक कि काऊत्स्की जैसे सामाजिक-जनवादियों, वॉरेल जैसे ट्रॉट्स्कीपंथियों के उद्धरणों के ज़रिये प्रदर्शित करेंगे और साथ ही यह भी दिखलाएँगे कि लेनिन इन सभी सूत्रीकरणों के प्रति कितनी नफ़रत रखते थे। लेकिन पहले हम सुजीत दास को ही थोड़ा और उद्धृत करके पाठकों को थोड़ी और यातना देने की आज्ञा चाहेंगे, क्योंकि सबसे पहले सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' जैसे राजनीतिक नौदौलतियों की पूरी सोच को सम्पूर्णता में सामने रखना ज़रूरी है। आगे देखें श्री दास के वैचारिक विचरण कहाँ तक जाते हैं:

"चूँकि समाजवादी मालिकाने का शाब्दिक तौर पर यही अर्थ है कि प्रत्यक्ष उत्पादकों का मालिकाना हो, इसलिए कोई पार्टी या इसका सबसे बड़ा शुभचिन्तक राज्य भी प्रत्यक्ष उत्पादकों के स्थान पर उस मालिकाने को नहीं ले सकता...मज़दूरों की तानाशाही वह राजनीतिक मूर्त रूप है जिसके जरिये पार्टी नहीं बल्कि पूरा वर्ग अपने वर्चस्व को स्थापित करता है और इसके बूते पर उत्पादन और वितरण की प्रक्रिया पर नियन्त्रण लागू करता है।...हमने देखा है कि सोवियत संघ में समाजवाद के लिए संघर्ष के सबसे गौरवशाली दौर में, यानी कि तीस के दशक के दौरान, वर्ग उत्पादन प्रक्रिया से <u>अलगावग्रस्त</u> था, वर्ग संगठन कमज़ोर होने लगा था और मज़दूरों की तानाशाही की अवधारणा महज़ शब्दों में ही रह गयी थी" (*वही*, पृ. 98-99) और इसके बाद सुजीत दास अपने विचारधारात्मक निर्वाण को इस तरह से प्राप्त होते हैं: *"पहले की सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में, प्रभावी व्यवस्थाओं के साथ निरन्तरता में, सत्ता लगातार केवल ग्रुपों के हाथ में, यानी वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली पार्टियों के हाथ में सीमित हो गयी थी। उस वर्ग ने वर्ग की ही अवहेलना करते हुए सत्ता हथिया ली थी (फासीवाद ने, प्रभावत:, इस वर्ग को विभाजित कर दिया था)।"* (*वही*, पृ. 99) और अन्त में सुजीत दास कालदोषात्मक रूप में सोवियत समाजवाद और तीस के दशक की पार्टी को अपनी सारगर्भित शिक्षा देते हैं, *"इसलिए समाजवाद में "हिरावल" को यह समझना होगा कि उसका हिरावलपन्थ एक तरफ़ तो एक ऐतिहासिक वस्तुगतता है, और वहीं दूसरी तरफ़ हिरावल का यह चेतन कार्यक्रम होना चाहिए कि वह हिरावल और पिछड़े के बीच का फर्क मिटाये। दूसरे शब्दों में हिरावल को अपने ही अस्तित्व को लगातार खत्म करना चाहिए...इस अन्तर को ख़त्म करने की प्रक्रिया को शुरू करने के लिए सचेतन प्रयास और केवल "विचारधारात्मक नेतृत्व" तक सीमित रूप में हिरावल की भूमिका को बिना रुके हुए चलाया जाना चाहिए। इसका संगठनात्मक रूप होगा पार्टी के महत्व को घटाते जाना और वर्ग संगठन की भूमिका के महत्व को बढ़ाते जाना...इसके विपरीत, जिस हद तक हिरावल और पिछड़े का फर्क समाज में बना रहेगा, जिस हद तक हिरावल का "पार्टी" संगठन पिछड़ों के संगठन से ज़्यादा ताक़तवर होगा, जिस हद तक वर्ग द्वारा सत्ता हासिल किये जाने की प्रक्रिया को रोका जायेगा, ठीक उसी हद तक सभी सामाजिक गतिविधियों में पार्टी निर्धारिक स्थिति में आ जायेगी और वर्ग का उत्पादन के साधनों से <u>अलगाव</u> बढ़ जायेगा।"* (*वही*, पृ. 100)। बस अब हम पाठकों के सब्र का और इम्तहान नहीं लेंगे!

आप देख सकते हैं कि सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की पूरी थीसिस क्या है। **यह साफ़ तौर पर पार्टी को वर्ग के ख़िलाफ़ खड़ा करना है।** इस पूरे बयान में पार्टी एक ऐसी ताक़त के रूप में आती है, जो वर्ग को सत्ता से वंचित कर देती है; जो मज़दूर वर्ग (जिसे बार-बार श्री दास एक व्यापक शब्द 'प्रत्यक्ष उत्पादक' से दिखलाते हैं, और जो कि

बिल्कुल ग़लत है) के राजनीतिक केन्द्रों और सत्ता के केन्द्रों को निष्प्रभावी बनाती जाती है, यानी कि सोवियतें और ट्रेड यूनियनें; जो ऐसा करते हुए उत्पादन के साधनों पर राजकीय मालिकाना कायम कर लेती है और 'प्रत्यक्ष उत्पादकों' को इससे अलगावग्रस्त कर देती है; उत्पादन के साधनों के समाजीकरण में पार्टी ऐसा करके बाधा डालती है; सर्वहारा अधिनायकत्व को पार्टी लागू करने लगती है (इस पर सुजीत दास काफ़ी चकित और हक्का-बक्का हैं, और उन्हें लगता कि सोवियत संघ के राजनीतिक साहित्य में तो ऐसा कभी कहा नहीं गया था, और ज़रा देखिये पार्टी ने कैसे मज़दूर वर्ग को कितनी कुशलता से गच्चा दे दिया!); पार्टी एक समूह थी जिसने वर्ग की नुमाइन्दगी का दावा किया और सत्ता निगल गयी! और सुजीत दास के लिए इस मायने में इतिहास के पहले की शोषक राजसत्ताओं और सोवियत राजसत्ता में कोई फर्क नहीं था! श्री दास मानते हैं कि पार्टी ने अपनी इच्छा वर्ग पर थोपनी शुरू कर दी; उसने अपने शासन को वर्ग का शासन बता दिया, वगैरह-वगैरह। 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की इस पूरी समझदारी को रखने के साथ सुजीत दास अलग से कुछ बातें लिख देते हैं, जिससे कि वह पाठक को याद दिलाते हैं (या शायद खुद को भी याद दिलाते हैं) कि वह एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी हैं। जैसे कि तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी मूर्खतापूर्ण बातों को लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के मुँह में डालने, स्तालिन काल की पार्टी (वास्तव में दास का निशाना सिर्फ़ स्तालिन काल और 1930 के दशक की पार्टी नहीं बल्कि 1917 से 1953 तक के समूचे कालखण्ड की बोल्शेविक पार्टी पर है, और विशेषकर लेनिन पर है) पर जमकर कीचड़ उछालने के बाद वह बीच-बीच में लिख देते हैं कि 'पार्टी में क्रान्तिकारी थे', 'सामूहिकीकरण का गौरवशाली आन्दोलन', वगैरह-वगैरह। **लेकिन उनका पूरा तर्क और पूरी अवस्थिति वास्तव में बीसवीं सदी के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों से भी कहीं गयी-गुज़री है।** इसका एक कारण यह भी है कि उस समय के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी कम-से-कम किसी भी विषय पर थोड़ा पढ़कर लिखते थे। लेकिन सुजीत दास ने तो मारकेस के 'जादुई यथार्थवाद' का अनुसरण करते हुए और कल्पना की सारी तार्किक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए सोवियत संघ के इतिहास का मिथकीयकरण किया है।

सबसे पहले हम आपको यह दिखाना चाहेंगे कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी होने का दावा करने वाले इन लोगों की ज़्यादा करीबी किनसे है। हम इसके लिए सोवियत समाजवाद के कुछ शुरुआती आलोचकों और बोल्शेविक पार्टी के बीच हुई कुछ बेहद अहम सैद्धान्तिक बहसों का संक्षिप्त ब्यौरा देंगे और दिखलाएँगे कि सुजीत दास की अवस्थिति न सिर्फ़ अराजकतावादी संघाधिपत्यवादियों की अवस्थिति है, बल्कि उस पर काऊत्स्की जैसे संशोधनवादियों, ऑस्ट्रेलियाई त्रात्स्कीपन्थी वॉरेल, सिमोन वील और रिज़्ज़ी जैसे मार्क्सवाद के सचेतन विरोधियों आदि जैसे लोगों का भी गहरा प्रभाव है। उसके बाद हम पार्टी और वर्ग व पार्टी और राज्यसत्ता के रिश्तों के बारे में लेनिन, स्तालिन और माओ के विचारों को आपके सामने रखेंगे। लेकिन पहले आपको सुजीत दास के वास्तविक विचारधारात्मक पूर्वजों से परिचित कराते हैं, जिसमें कि तमाम ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद, अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद, अराजकतावाद और विसर्जनवाद के पुरोधाओं समेत, काऊत्स्की आदि जैसे संशोधनवादी भी शामिल हैं। आगे तथ्यों, तर्कों और उद्धरणों समेत हम अपनी इस बात को पुष्ट करेंगे।

बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में अक्टूबर क्रान्ति के बाद जो सर्वहारा सत्ता अस्तित्व में आयी

उसके प्रमुख आलोचकों में द्वितीय इण्टरनेशनल और जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी के नेता **कार्ल काऊत्स्की** प्रमुख थे। काऊत्स्की अपने पतन से पहले विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के एक निर्विवाद नेता थे और कृषि प्रश्न समेत कई अहम मुद्दों पर उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्त में महत्वपूर्ण इज़ाफ़े भी किये। लेकिन साम्राज्यवाद के दौर में पहले बड़े युद्ध, यानी, प्रथम विश्वयुद्ध के साथ, इस पीढ़ी के उन सामाजिक-जनवादियों का पतन उभर कर सतह पर आ गया, जो कि उन्नत देशों में मज़दूर आन्दोलनों के एक हिस्से के पतन को अभिव्यक्त कर रहे थे। इसके बाद से काऊत्स्की ने सतत् लेनिन, बोल्शेविक पार्टी और रूस में समाजवादी प्रयोग को अपना निशाना बनाया।

काऊत्स्की ने दो प्रमुख सवालों पर बोल्शेविक पार्टी और विशेष तौर पर लेनिन की आलोचना की। एक सवाल तो यह था कि बोल्शेविक पार्टी ने एक अपरिपक्व क्रान्ति कर दी है क्योंकि समाजवादी क्रान्ति एक उन्नत पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों वाले देश में ही हो सकती है और काऊत्स्की का मानना है कि बोल्शेविक एक ऐसे घोड़े पर सवार हो गये हैं जिसकी सवारी उन्हें नहीं आती है; और यह कि बोल्शेविक इस क्रान्ति के समाजवादी होने का कितना भी दावा करें, यह क्रान्ति एक बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति ही है। हम इस प्रश्न पर यहाँ चर्चा नहीं करेंगे क्योंकि यहाँ अभी इसकी कोई प्रासंगिकता नहीं है और इसके सटीक जवाब के लिए हम पाठकों से लेनिन द्वारा लिखित **'सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काऊत्स्की'** का सन्दर्भ देखने का आग्रह करेंगे। **लेकिन काऊत्स्की ने जो दूसरा सवाल उठाया वह हूबहू वही सवाल है जो कि सुजीत दास उठा रहे हैं।** यह दूसरा सवाल यह था कि सोवियत संघ में एक प्रबन्धकीय कुलीन वर्ग पैदा हो गया है जिसने सर्वहारा वर्ग को सत्ता से अपदस्थ कर दिया है। यह प्रबन्धकीय कुलीन वर्ग जो कि वास्तव में नौकरशाही ही है, राज्यसत्ता पर आसीन हो गया है तथा पार्टी और राज्यसत्ता वर्ग के नाम पर शासन कर रहे हैं। (काऊत्स्की, *टेररिज़्म एण्ड कम्युनिज़्म,* 1919, पृ. 21) काऊत्स्की भी सुजीत दास की तरह इस नये शासक वर्ग को पूँजीवादी कहने से सफ़ाई से बच निकले थे, क्योंकि उस सूरत में, एक बार फिर सुजीत दास की ही तरह, काऊत्स्की को भी पता था कि वह बेहद असुविधाजनक विरोधाभासों के गड्ढे में गिर जायेंगे। काऊत्स्की यह बात सही कह रहे थे कि रूस का मज़दूर वर्ग बेहद पिछड़ा हुआ है और वह अपने से उद्योगों के प्रबन्धन और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन का कार्य नहीं कर पायेगा। ऐसे में पार्टी और राज्य पर एक प्रबन्धक नौकरशाही का कब्ज़ा हो जायेगा जो मज़दूर वर्ग के नाम पर शासन करेगी। ऐसा नहीं था कि रूस में समाजवादी क्रान्ति और मज़दूर वर्ग की सीमाओं को लेनिन नहीं समझते थे। इस बारे में लेनिन ने स्पष्ट किया कि रूसी क्रान्ति बेहद अपवादस्वरूप स्थितियों में हुई थी। बोल्शेविकों के पास क्रान्ति का वक्त चुनने का सुविधाजनक विशेषाधिकार नहीं था। जाहिर था, कि प्रथम विश्वयुद्ध, गृहयुद्ध, मज़दूरों और किसानों के क्रान्तिकारी आन्दोलन और स्वत:स्फूर्त तरीके से सोवियतों के अस्तित्व में आने के कारण बोल्शेविक पार्टी को 1917 में जनता के आन्दोलनों की बागडोर अपने हाथ में लेकर उसे समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल तक पहुँचाना पड़ा। लेनिन जानते थे कि रूस का मज़दूर वर्ग काऊत्स्की के शब्दों में घुड़सवारी सीखने से पहले ही घोड़े पर सवार हो गया है।

1920 में, जब अभी ट्रॉट्स्की अपेक्षाकृत सही अवस्थिति पर थे तो उन्होंने काऊत्स्की को अच्छा उत्तर दिया था। 1920 में ट्रॉट्स्की ने काऊत्स्की की पुस्तिका के शीर्षक को अपनाते हुए अपनी पुस्तिका *टेररिज़्म एण्ड कम्युनिज़्म* निकाली। इसमें ट्रॉट्स्की ने काऊत्स्की को निम्न

उत्तर दिया:

"ठीक उतने ही मज़बूत आधार पर आप पूछ सकते हैं, 'क्या काऊत्स्की जीन पर ढंग से बैठना सीखे बगैर पशु को उसके रास्ते पर संचालित कर सकते हैं? हमारे पास यह मानने के पर्याप्त आधार हैं कि काऊत्स्की ऐसे ख़तरनाक, शुद्ध रूप से बोल्शेविक प्रयोग के लिए अपने आपको तैयार नहीं कर पाएँगे। दूसरी तरफ़, हमें यह डर है कि काऊत्स्की को घोड़े की पीठ पर चढ़ने का जोखिम उठाये बग़ैर, घुड़सवारी के राज़ जानने में पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। **क्योंकि बुनियादी बोल्शेविक पूर्वाग्रह यही है कि: आप घोड़े पर बैठकर ही घुड़सवारी सीख सकते हैं।**

"इसके अतिरिक्त, रूसी मज़दूर वर्ग को इस घोड़े पर *बैठना पड़ा,* अन्यथा उसे समूचे युग के ऐतिहासिक मंच से बाहर फेंक दिया जाता। और, एक बार जब इसने सत्ता हासिल कर ली, और अब इसकी बागडोर सम्भाल ली है, तो बाकी चीज़ें अपने आप ही होती जाएँगी...'जीन पर सवार होने के बाद घुड़सवार घोड़े को निर्देशित करने के लिए बाध्य होता है' - चाहे उसमें उसकी गर्दन टूट जाने का ख़तरा ही क्यों न हो।" (*टेररिज़्म एण्ड कम्युनिज़्म,* ट्रॉट्स्की, 1920 अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 102)

जाहिर है बोल्शेविक पार्टी इस बात को समझ रही थी कि उसे मज़दूर वर्ग को लम्बे समय तक संस्थाबद्ध नेतृत्व देना होगा, सिर्फ़ "विचारधारात्मक मार्गदर्शन" तक सीमित रहते हुए नहीं, जैसा कि सुजीत दास मानते हैं। काऊत्स्की का मानना था कि इसके ज़रिये पार्टी वर्ग को अपदस्थ कर देगी; नौकरशाही वर्ग से सत्ता छीन लेगी और सर्वहारा अधिनायकत्व, जैसा कि 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' मानता है, केवल कागज़ी यथार्थ रह जायेगा। **काऊत्स्की से सुजीत दास की करीबी यहाँ साफ़ तौर पर देखी जा सकती है।** लेकिन अभी बोल्शेविक पार्टी की तरफ़ से काऊत्स्की का इस मुद्दे पर सबसे सशक्त जवाब आना था और यह ज़िम्मेदारी पूरी की **निकोलाई बुखारिन** ने, जो अभी हाल ही में अपने "वामपन्थी" भटकाव को और उसके बाद ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर दक्षिणपन्थी भटकाव को छोड़कर लेनिनवादी अवस्थिति पर आये थे (बताने की ज़रूरत नहीं है कि बुखारिन का आगे भी भटकावों के इन दोनों छोरों के बीच दोलन जारी रहा था। लेकिन काऊत्स्की का जवाब देने के मुद्दे पर बुखारिन बिल्कुल सही थे।)

काऊत्स्की ने बोल्शेविक पार्टी पर अपना हमला जारी रखते हुए लिखा कि सोवियत सरकार **"दुनिया में सर्वहारा वर्ग के आगे बढ़ने में सबसे बड़ी बाधा है - हंगरी के हॉर्थी शासन या इटली में मुसोलिनी के शासन से भी बुरी बाधा, जबकि मुसोलिनी के शासन ने हर विपक्षी आन्दोलन को सोवियत संघ की तरह पूरी तरह से असम्भव भी नहीं बनाया है।"** (काऊत्स्की, *डाई इण्टरनेशनाली उण्ड सोवियेतरुसलैण्ड*, बर्लिन, 1925, जेएचडब्ल्यू डियेट्ज़ नाख़्ट, पृ. 11) ***यहाँ भी आपको सुजीत दास की उस बात की ध्वनि सुनायी दे जायेगी कि सोवियत संघ में बोल्शेविक पार्टी का शासन पहले के सभी राज्यों जैसा ही था, क्योंकि सभी में एक छोटे से समूह ने वर्ग ने नाम पर सत्ता हथियाकर वर्ग की ही इच्छा की अवहेलना शुरू कर दी थी।*** आगे काऊत्स्की ने लिखा कि बोल्शेविक **"आज ऐसी स्थिति में हैं जिसमें वे सर्वहारा वर्ग पर प्रभुत्व स्थापित करके और उनका शोषण करके अपना अस्तित्व कायम रखते हैं। लेकिन वे एक पूँजीवादी वर्ग की तरह काम नहीं करना चाहते। इसलिए वे सर्वहारा और पूँजी दोनों के ही ऊपर खड़े हैं और उन्हें**

उपकरण की तरह इस्तेमाल करते हैं।" (*वही*, पृ. 25)

बुखारिन ने अपनी लम्बी पुस्तिका *कार्ल काऊत्स्की एण्ड सोवियत रशिया* में काऊत्स्की के तर्क को छिन्न-भिन्न कर दिया। बुखारिन ने लिखा पूछा कि **सोवियत राज्यसत्ता का चरित्र क्या है? क्या वह भूस्वामियों की सत्ता है? नहीं, क्योंकि भूस्वामियों का सोवियत सत्ता ने सम्पत्ति-हरण कर लिया था! क्या वह पूँजीपतियों की सत्ता है? नहीं! पूँजीपतियों का भी सोवियत सत्ता ने सम्पत्ति-हरण कर लिया था!** फिर आखिर सोवियत राज्यसत्ता का वर्ग चरित्र क्या था और इसी से जुड़ा हुआ सवाल यह था कि सोवियत संघ किस प्रकार की सामाजिक-आर्थिक संरचना थी? या तो काऊत्स्की यह कहें कि बोल्शेविक पार्टी नयी बुर्जुआज़ी का प्रतिनिधित्व करती है, लेकिन काऊत्स्की यह नहीं कह पा रहे थे। नौकरशाही को नया वर्ग कहना मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अव्वल दर्ज़े की मूर्खता होती, और काऊत्स्की संशोधनवादी होने के बावजूद मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। इसलिए ऐसा वह कह नहीं सकते थे। **नतीजतन, काऊत्स्की निरुत्तर थे। और यहीं पर बुखारिन ने उन्हें पकड़ा, और यहीं पर सुजीत दास भी जनवाद के अपने संशोधनवादी संस्करण के साथ पकड़ में आ जाते हैं:**

"शासक वर्ग की पहचान हमेशा इस बात से होती है कि उनके पास उत्पादन के साधनों का एकाधिकार होता है, या कम-से-कम एक निश्चित वर्ग व्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है। अगर लोगों का कोई समूह वह वर्ग है, तो इसका अर्थ होगा कि यह समूह सम्पत्ति के तौर पर उत्पादन के 'राष्ट्रीयकृत' साधनों का मालिक होगा। दूसरे शब्दों में, काऊत्स्की के नज़रिये से यह नतीजा निकलता है कि पोलित ब्यूरो के सदस्य, जिसमें कि मैं भी–कितना अभागा हूँ मैं! –शामिल हूँ समूचे बड़े पैमाने के उद्योग के मालिक और शोषक, यानी कि वित्तीय-पूँजीवादी अल्पतन्त्र हैं, जो कि इससे मुनाफ़े का हस्तगतीकरण करते हैं..." (बुखारिन, *काऊत्स्की उण्ड सोवियेतलैण्ड*, वियेना, वरलैग फ़ुर लिटरेटूर उण्ड पोलेटिक, पृ. 34-35)। ***लेकिन सुजीत दास की तरह ही काऊत्स्की अपने ही विश्लेषण के नतीजों से डर जाते हैं और उनका ज़िक्र नहीं करते।*** वह बोल्शेविक पार्टी को अलग शासक वर्ग नहीं मानते। सुजीत दास भी अपने सारे विश्लेषण को अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों और संशोधनवादियों से उधार लेते हैं (बहुत ही दयनीय और दरिद्र तरीके से!) लेकिन नतीजे के तौर पर **मार्टिन निकोलस** जैसे लेखकों के नतीजे को चिपका देते हैं कि इन सबके बाद भी सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोग कितने गौरवशाली थे! आगे देखें कि बुखारिन काऊत्स्की को क्या जवाब देते हैं, और यह सुजीत दास जैसे लोगों पर भी कैसे लागू होता है: **"अगर बोल्शेविक लोग कोई वर्ग नहीं हैं, तो इसका अर्थ है कि वे किसी वर्ग की नुमाइन्दगी करते हैं। यह वर्ग बड़े भूस्वामियों का नहीं है (जैसा कि काऊत्स्की भी मानते हैं, उनका सम्पत्ति-हरण हो चुका है)। यह वर्ग पूँजीपति वर्ग भी नहीं है (यह भी काऊत्स्की मानते हैं)। यह वर्ग किसान या बुद्धिजीवी (जिन्हें तो सही रूप में वर्ग कहा भी नहीं जा सकता है) भी नहीं हैं। तो बचता क्या है? सर्वहारा वर्ग।"** (*वही*, पृ.35)

लेकिन सुजीत दास किसी पार्टी द्वारा वर्ग के प्रतिनिधित्व की पूरी अवधारणा पर ही उत्तरआधुनिक तरीके से सवाल खड़ा कर देते हैं! प्रतिनिधित्व के प्रश्न को वह धोखा-फरेब मानते हैं और सड़क चलते आम व्यक्ति की तरह कहते हैं कि **'देखो भाई! सब पार्टी जनता**

को धोखा देती है!' यह एक आम व्यवस्था-विरोधी टटपुँजिया व्यक्ति के लिए सही तर्क है, लेकिन सुजीत दास तो 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' (मार्क्सवादी चिन्तन) में लिख रहे हैं! इसलिए उनसे यह उम्मीद की जायेगी कि वह बुनियादी मार्क्सवादी वर्ग विश्लेषण का प्रयोग करें। **लेकिन यहाँ पर सुजीत दास सत्ता को अपने आप में एक शक्ति बना देते हैं, जिसका वर्ग विश्लेषण ही सम्भव नहीं है। वह कार्ल मार्क्स नहीं बल्कि मिशेल फूको के अनुयायी ज़्यादा नज़र आ रहे हैं।** और साथ ही उन लोगों के साथ खड़े नज़र आ रहे हैं जिन्होंने लेनिन पर **प्रतिस्थापनवाद (सब्स्टिट्यूशनिज़्म)** का आरोप लगाया था। मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण बताता है कि सुजीत दास जिस शक्ति को 'सत्ता हथिया लेने वाला समूह' कहते हैं उसका कोई न कोई वर्ग चरित्र अवश्य होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि वह सभी वर्गों को मूर्ख बनाकर सत्ता में पहुँच गया हो! यह पूरा विश्लेषण ही भयंकर अर्थहीनता की तरफ़ जाता है।

काऊत्स्की के बाद दूसरी धारा जिससे कि सुजीत दास की वैचारिक एकता नज़र आती है, वह है **पॉल लेवी** और शुरुआती दौर की **रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग**, क्योंकि बाद में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने अपनी इन आलोचनाओं को स्वयं ही रद्द कर दिया था, और जिसके बारे में आज भी कम्युनिस्ट आन्दोलन की कतारों में कम ही लोगों की जानकारी है। पॉल लेवी रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग और कार्ल लीब्कनेख़्त की शहादत के बाद जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख नेता थे। बाद में 1921 में उन्हें कम्युनिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया था, जिसका कारण दक्षिणपन्थी अवसरवादी भटकाव था। पॉल लेवी ने बोल्शेविक पार्टी की आलोचना रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की रचनाओं के संकलन की अपनी प्रस्तावना में की और यह भी साबित करने की कोशिश की कि रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग अन्त तक बोल्शेविज़्म की कटु आलोचक थीं, और उसका एक विकल्प पेश करती थीं। हालाँकि बाद में **एडोल्फ वार्ज़ावस्की** और **क्लारा ज़ेटकिन** द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों से पता चला कि जिन तीन प्रश्नों पर रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग बोल्शेविक पार्टी की नीतियों की आलोचना करती थीं, उनमें से एक पर वह लेनिन से पूरी तरह सहमत हो चुकी थीं, दूसरे पर वह मान चुकी थीं कि बोल्शेविक पार्टी ने जो कदम उठाया उसके अलावा कोई और रास्ता नहीं था, और तीसरे सवाल पर उनकी असहमति बनी हुई थी। लेकिन रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के शुरुआती दृष्टिकोण पर हम बाद में आते हैं, जिसका एक बेहद दयनीय संस्करण सुजीत दास के लेख में देखने को मिलता है; पहले हम पॉल लेवी की आलोचना को देखेंगे, क्योंकि इसका (बुरा) असर सुजीत दास पर और भी ज़्यादा नज़र आता है।

पॉल लेवी ने लिखा कि बोल्शेविक पार्टी सर्वहारा वर्ग के नाम पर शासन कर रही थी और लेनिन की सोच ही ऐसी थी। लेवी यह भी कहते हैं कि लेनिन 'सरकार के रूप' और 'राज्यसत्ता के रूप' में फर्क नहीं करते थे और इसीलिए एक पार्टी के शासन को वह सर्वहारा शासन से गड्ड-मड्ड कर बैठे हैं, जबकि सर्वहारा अधिनायकत्व के राज्य का रूप बहुपार्टी जनवाद भी हो सकता है! **हम पाठकों को बता दें कि सुजीत दास के जिस लेख की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं, उसमें तो नहीं लेकिन 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के समूह का ऐसा मानना है कि सोवियत संघ में भी अगर बहुपार्टी जनवाद होता तो बुर्जुआ प्रवृत्तियों को अपना स्वायत्त मंच मिल गया होता, और वे बोल्शेविक पार्टी में नहीं प्रवेश करतीं!** इस तर्क पर हँसा ही जा सकता है। एक-पार्टी व्यवस्था के सवाल पर लेनिन के दृष्टिकोण की अभी हम चर्चा नहीं कर सकते हैं और हम इस पर अपनी राय आगे रखेंगे। लेकिन इतना कहा जा सकता है कि बोल्शेविक पार्टी के भीतर बुर्जुआ प्रवृत्तियों के घुसने का कारण यह नहीं था

कि उन्हें घुसपैठ के लिए कोई और पार्टी नहीं मिली! बोल्शेविक पार्टी के भीतर जो दो लाइनों का संघर्ष बुर्जुआ और सर्वहारा लाइन की बीच चल रहा था, वह समाज में जारी वर्ग संघर्ष का प्रतिबिम्बन था, न कि अनाथ, बेघर, बेसहारा बुर्जुआ प्रवृत्तियों के बोल्शेविक पार्टी में आसरा ढूँढने का कारण। इस विषय पर हम आगे कभी अवश्य लिखेंगे, लेकिन अभी पॉल लेवी पर लौटते हैं और देखते हैं कि किस तरह उन्हें भी सुजीत दास के तमाम "वामपन्थी", दक्षिणपन्थी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी विचारधारात्मक पुरखों में क्यों गिना जा सकता है! स्वयं देखें पॉल लेवी क्या लिखते हैं: **"एक सच्ची माँ की तरह, हिरावल ने सोवियत तन्त्र को बनाने में एक कमीज़ तैयार की है, और अब वह–धैर्यपूर्वक या अधैर्यपूर्वक–उस समय का इन्तज़ार कर रही है जब बच्चा उस कमीज़ को पहनने लायक हो जायेगा। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक, माँ माँ ही रहती है, कमीज़ कमीज़ रहती है, हिरावल हिरावल रहता है, और सोवियत तन्त्र सोवियत तन्त्र ही रहता है।"** (पॉल लेवी, 1922, 'आइनलीटंग', रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की पुस्तक *डाई रुसिश्चे रिवोल्यूशन आइन क्रिटिश वूर्डिगुंग* में संकलित, बर्लिन: जेसेलशाफ्ट उण्ड एर्ज़ीहुंग, पृ. 29) आगे लेवी कहते हैं कि पार्टी ने वर्ग की जगह शासन करना शुरू कर दिया। सर्वहारा वर्ग को उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण मिलता, तो वह फलता-फूलता और अपने भविष्य पर नियन्त्रण स्थापित करता (*वही,* पृ. 50-51)। बोल्शेविकों ने अपनी इस नीति के कारण अपने आपको मज़दूर वर्ग से काट लिया और केवल अपनी सांगठनिक शक्ति के बूते सत्ता में बने रहे (*वही,* पृ. 47) और **अन्त में लेवी उसी नतीजे पर पहुँच जाते हैं जिस पर सुजीत दास पहुँचे हैं: "तो "सर्वहारा वर्ग की तानाशाही" का क्या बचा? कुछ भी नहीं। न तो कोई वस्तुपरक क्षण और न ही आत्मपरक।"** (*वही,* पृ. 51) यहाँ पर भी हम देख सकते हैं कि पार्टी के वर्ग चरित्र का सवाल ग़ायब है। यही वह बुनियादी सवाल है जिससे सभी "वामपन्थी" और दक्षिणपन्थी आलोचक बच निकलते हैं, क्योंकि बोल्शेविक पार्टी के वर्ग चरित्र की बात करना उनके लिए राजनीतिक *हाराकीरी* के समान होगा। सर्वहारा वर्ग अपने हिरावल के ज़रिये शासन करता है, या फिर वह किसी मैदान में इकट्ठा होकर पहले सर्वहारा अधिनायकत्व के कोरस का रिहर्सल करके बिना पार्टी के वह अधिनायकत्व लागू करता है, इस बहस पर बाद में आयेंगे और इस पर लेनिन, स्तालिन और माओ के विचारों को देखेंगे; क्योंकि सुजीत दास ने बिना पढ़े दावा कर दिया है कि बोल्शेविक पार्टी के राजनीतिक साहित्य में कभी भी इस बात का ज़िक्र नहीं किया गया था कि वर्ग के शासन को लागू करने का काम वर्ग का हिरावल करेगा! **लेकिन अभी हम "वामपन्थी" आलोचनाओं की उन अन्य धाराओं की चर्चा पर वापस आते हैं, जिनसे एक-एक चम्मच मसाला उधार लेकर सुजीत दास ने अपना अराजकतावादी पकवान तैयार किया है!**

रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने शुरुआत दौर में बोल्शेविक क्रान्ति की तीन प्रश्नों पर आलोचना की। पहला सवाल तो बोल्शेविकों द्वारा क्रान्ति के तुरन्त बाद जारी भूमि-सम्बन्धी आज्ञप्ति पर था। रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने भूमि सुधारों के पूँजीवादी चरित्र पर सवाल खड़ा करते हुए पूछा था कि कोई समाजवादी राज्य छोटे पैमाने का किसानी मालिकाना क्यों पैदा करेगा? लक्ज़ेमबर्ग की दलील थी कि इस कदम के साथ सोवियत सत्ता ने अपना एक भावी शत्रु पैदा कर लिया है: छोटा और मँझोला किसान। लेनिन इस बात को समझते थे। लेकिन उन्होंने इसका जवाब देते हुए बताया कि आर्थिक रूप से किसानों के बीच वर्ग विभाजन और कृषि क्षेत्र में पूँजीवाद का

विकास होने के बावजूद किसान आबादी राजनीतिक तौर पर अभी भी टटपुँजिया ज़मीन पर खड़ी है। इसके दो कारण हैं, एक तो रूस में जो भूमि सुधार क्रान्ति के पहले क्रमिक प्रक्रिया में हुए थे, वे प्रशियाई पथ से हुए थे, अधूरे थे और उन्होंने ज़मीन की भूख को ख़त्म नहीं किया था। और अभी यह किसान आबादी पूँजीवाद के तहत बहुत परिपक्व नहीं हुई थी, इसने पूँजीवादी बाज़ार व्यवस्था में बहुत लम्बा समय नहीं बिताया था कि भू-स्वामित्व को लेकर उसके विभ्रम ख़त्म हो जायें। ऐसे में, उनकी ज़मीन की भूख उनकी राजनीतिक आकांक्षाओं को तय कर रही थी। दूसरा कारण यह था कि ग्रामीण क्षेत्रों में और विशेष तौर पर मँझोली किसान आबादी में बोल्शेविक पार्टी का विचारधारात्मक और राजनीतिक प्राधिकार नगण्य था। वहाँ पर नरोदवादियों के सच्चे वंशजों, यानी कि समाजवादी क्रान्तिकारियों का राजनीतिक वर्चस्व था, जिन्होंने किसानों को पूँजीवाद की असलयित के प्रति राजनीतिक तौर पर सचेत बनाने और उनकी चेतना का समाजवादी रूपान्तरण करने की बजाय, उनमें ज़मीन की भूख को और बढ़ाया। नतीजतन, पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के प्रशियाई पथ से विकास के बावजूद राजनीतिक आकांक्षा के तौर किसानों की आबादी में, जो कि रूस की कुल आबादी का तीन-चौथाई से भी ज़्यादा थी, राजनीतिक तौर पर पूँजीवादी भूमि सुधारों का एजेण्डा ही जड़ जमाये हुआ था। बोल्शेविकों को 1917 में जारी राजनीतिक संघर्ष में किसानों का समर्थन इसलिए मिला क्योंकि उन्होंने साबित कर दिया कि समाजवादी क्रान्तिकारी स्वयं अपने ही भूमि कार्यक्रम पर अमल नहीं कर सकते और उनका अप्रोच रूसी भूस्वामियों के वर्ग से समझौते का है, और वास्तव में, लेनिन ने समाजवादी क्रान्तिकारियों के पूरे भूमि कार्यक्रम को हूबहू अपनाकर किसानों द्वारा ज़मीनें कब्ज़ा करने के आन्दोलन का समर्थन किया। जुलाई 1917 से अक्टूबर 1917 के बीच किसानों की आबादी का राजनीतिक समर्थन बोल्शेविकों को हासिल हो गया। इस पूरी प्रक्रिया को लेनिन समझ रहे थे। बाद में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने अपनी इस आलोचना को वापस लेते हुए लिखा था कि महानतम क्रान्तियाँ भी इतिहास द्वारा प्रस्तुत सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकतीं। क्रान्तिकारी स्वयं क्रान्ति की परिस्थितियाँ नहीं चुनते। यह सच है कि किसान प्रश्न रूसी क्रान्ति का 'चोट का बिन्दु' (वूण्डेड पॉइण्ट) था, लेकिन इसका इलाज यूरोप में क्रान्ति के ज़रिये जल्दी हो सकता था। रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने अपनी अवस्थिति को सही करते हुए जो बात कही वह काफ़ी सटीक थी।

रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की दूसरी आलोचना राष्ट्रीय प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी की आत्मनिर्णय के अधिकार की नीति की थी। उन्होंने कहा कि कम्युनिस्ट पार्टी अन्तरराष्ट्रीयतावादी होती है और राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार देना वास्तव में हर राष्ट्र की बुर्जुआज़ी को आत्मनिर्णय का अधिकार देना होगा। वास्तव में, इस नीति से सोवियत राज्य ने अपना दूसरा भावी शत्रु पैदा कर लिया है, जो कि अलग-अलग राष्ट्रों की बुर्जुआज़ी है। लेनिन ने स्पष्ट किया कि यह एक यान्त्रिक दृष्टिकोण है। वास्तव में, जिन देशों में सर्वहारा वर्ग राजनीतिक चेतना की कमी और किसी अन्य प्रभुत्वशाली राष्ट्र द्वारा राष्ट्रीय शोषण और उत्पीड़न का शिकार होने के कारण अपने देश के रैडिकल राष्ट्रीय बुर्जुआ के साथ खड़ा है, उस पर आप अन्तरराष्ट्रीयतावादी राजनीतिक सर्वहारा चेतना थोप नहीं सकते; यह तो सर्वहारा वर्ग समेत उस राष्ट्र की पूरी जनता के बीच में कम्युनिज़्म के प्रति अविश्वास को पैदा करेगा। जिन देशों में सर्वहारा वर्ग अपनी राजनीतिक स्वायत्तता को हासिल कर चुका है और कम्युनिस्ट पार्टी के झण्डे तले खड़ा है, वहाँ निश्चित तौर पर आत्मनिर्णय का यह अधिकार उस राष्ट्र की

मेहनतकश आबादी को मिलेगा, उस राष्ट्र की बुर्जुआज़ी को नहीं। लेकिन रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग अन्त तक इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं हुई थीं।

लेकिन रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की जो तीसरी आलोचना थी, उसे सुजीत दास ने (हमेशा की तरह) ठीक तरह से पढ़े-समझे बिना उधार ले लिया है। रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने जनवाद और अधिनायकत्व के प्रश्न को उठाते हुए बोल्शेविक पार्टी पर **प्रतिस्थापनवाद** की तरफ़ जाने का आरोप लगाया। उन्होंने कहा कि बोल्शेविक पार्टी ने रूसी सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश आबादी के राजनीतिक जीवन और राजनीतिक संगठन को तहस-नहस कर दिया था। इस आलोचना को बाद में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने स्वयं ही ठुकरा दिया था। लेकिन शुरुआती दौर में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की जो अवस्थिति थी, उसे सुजीत दास काफ़ी हद तक अपनाते हुए नज़र आते हैं। देखिये रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने क्या लिखा था, **"केवल सरकार के समर्थकों के लिए, केवल एक पार्टी के सदस्यों के लिए आज़ादी - चाहें वे कितने ज़्यादा भी क्यों न हों - वास्तव में कोई आज़ादी नहीं है। आज़ादी हमेशा और विशेष तौर उस व्यक्ति के लिए आज़ादी है जो कि अलग सोचता है। 'न्याय' की किसी कट्टरतावादी अवधारणा के कारण नहीं, बल्कि ऐसा इसलिए है क्योंकि राजनीतिक आज़ादी में जो भी निर्देशात्मक, पूर्ण और शुद्ध करने वाला है वह इसकी मूल चारित्रिक विशेषताओं पर निर्भर करता है, और इसकी प्रभाविता उस समय ख़त्म हो जाती है जब 'आज़ादी' एक विशेषाधिकार बन जाती है।"** (रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग, **'दि रशियन रिवोल्यूशन'**, *रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग स्पीक्स*, न्यूयॉर्क, पाथफाइण्डर प्रेस, 1970, पृ. 389-90) यहाँ पर रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग यह नहीं समझ पायी हैं कि सर्वहारा राज्यसत्ता भी वास्तव में एक दमन का उपकरण ही है और समाजवादी संक्रमण के ऐतिहासिक काल में कभी-कभी व्यापक मेहनतकश जनता के कुछ हिस्से भी इसके प्रभाव क्षेत्र में आ सकते हैं। लेनिन ने **क्रोंस्टाट विद्रोह** के बारे में कहा था कि यह सच है कि इसमें मज़दूर, आम किसान आबादी और आम सैनिक शामिल थे। लेकिन ग़ैर-सर्वहारा चेतना के कारण वे सर्वहारा वर्ग की सत्ता पर ही हमला कर रहे थे। नतीजतन, सवर्हारा राज्यसत्ता उनका दमन ही कर सकती है। यह एक विभ्रम है कि सर्वहारा राज्यसत्ता समाजवादी संक्रमण के दौर में मेहनतकश जनता के उन हिस्सों पर कुछ दमनात्मक कदम नहीं उठा सकती जो कि सचेतन तौर पर सर्वहारा अवस्थिति से प्रस्थान कर प्रतिक्रान्तिकारी अवस्थिति पर जाकर खड़े होते हैं। इस विषय-वस्तु पर हम आगे लौटेंगे। **अभी रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के एक अन्य उद्धरण को देखते हैं, जिससे लगता है कि सुजीत दास ने इसके शब्द बदलकर इसे पैराफ्रेज़ कर दिया है: "अक्षय ऊर्जा और असीमित आदर्शवाद वाले कुछ दर्ज़न पार्टी नेता निर्देशन करते हैं और शासन करते हैं। उनके बीच, वास्तव में केवल एक दर्ज़न श्रेष्ठतम दिमाग वाले लोग नेतृत्व करते हैं और मज़दूर वर्ग के एक कुलीन हिस्से को वक्त-वक्त पर मीटिंगों में बुलाया जाता है, जहाँ उन्हें नेताओं के भाषणों पर तालियाँ बजानी होती हैं, और प्रस्तावित प्रस्तावों को एकमत से अनुमोदित करना होता है - मूल तौर पर, फिर यह एक गिरोह का मामला बन जाता है - एक तानाशाही, और निश्चित तौर पर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही नहीं, यद्यपि केवल मुट्ठी भर राजनीतिज्ञों की तानाशाही, यानी बुर्जुआ अर्थों में एक तानाशाही, जैकोबिनों के शासन के अर्थ में एक तानाशाही।"** (*वही*, पृ. 391)। हमें लगता है कि सुजीत दास इस पढ़कर अपनी अवस्थिति का वैधीकरण महसूस कर रहे होंगे! लेकिन हमें

अफ़सोस है कि हम उनकी इस राहत में ख़लल डालने के लिए मजबूर हैं! लेनिन ने रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के पार्टी, वर्ग, जनवाद और तानाशाही के बारे में विचारों की आलोचना करते हुए कहा था कि इन विचारों पर उदार बुर्जुआ जनवाद के विचारों का ज़बर्दस्त प्रभाव है। इस आलोचना के बाद, जैसा कि अलेक्ज़ैण्डर वार्ज़ाव्स्की और क्लारा ज़ेटकिन ने बताया, रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग अपनी शहादत से पहले इस सवाल पर मोटे तौर पर लेनिन से सहमत हो चुकी थीं। रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के आरम्भिक तर्कों और सुजीत दास ने जो कुछ लिखा है, उसमें वैचारिक समानता स्पष्ट है। बस एक फर्क है – सुजीत दास ट्रेड यूनियनों और सोवियतों को पूर्ण स्वतन्त्रता न देने और उन्हें निष्प्रभावी बना दिये जाने को लेकर दुखी हैं, जबकि रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की मुख्य आलोचना संविधान सभा को भंग करने और सोवियतों के कार्य में बोल्शेविक पार्टी की भूमिका के विषय में थी, जैसे कि उनके चुनावों में। लेकिन वास्तव में तर्कों में कोई फर्क नहीं है। पार्टी की भूमिका के सवाल पर शुरुआती दौर की रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के विचारों और सुजीत दास के विचारों में समानता देखने के लिए किसी अपवादस्वरूप प्रतिभावान अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता नहीं है।

रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के इन शुरुआती तर्कों की सबसे सटीक आलोचना हंगरी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक **ग्यॉर्गी लूकाच** ने रखी और उस पर यहाँ विचार करना सुजीत दास की स्वत:स्फूर्तता-अन्धभक्ति (स्पॉण्टेनाइटी फेटिशिज़्म) का पर्दाफाश करने और सही लेनिनवादी अवस्थिति को समझने के लिए काफ़ी उपयोगी होगा। 1923 में लूकाच ने **'इतिहास और वर्ग चेतना'** नामक अपनी प्रसिद्ध रचना में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की भूल के बारे में लिखते हुए कहा कि रोज़ा का रुख़ यहाँ **"क्रान्ति की स्वत:स्फूर्त तात्विक शक्तियों के, सबसे अधिक उस वर्ग के जिसे इतिहास ने क्रान्ति का नेतृत्व करने का ज़िम्मा सौंपा था, अतिरेकपूर्ण मूल्यांकन से निर्धारित हुआ था।"** (ग्यॉर्गी लूकाच, 1971, *हिस्ट्री एण्ड क्लास कॉन्शसनेस,* मर्लिन प्रेस, लन्दन, पृ. 279)। लूकाच के अनुसार, **"(लक्ज़ेमबर्ग) बोल्शेविकों द्वारा मज़दूरों के आन्दोलन में क्रान्ति की स्पिरिट की गारण्टी के तौर पर संगठन के प्रश्न को केन्द्रीय भूमिका प्रदान करने को अतिरंजित समझती हैं। वह इसके उलट विचार रखती हैं कि वास्तविक क्रान्तिकारी स्पिरिट सिर्फ़ और सिर्फ़ जनता की तात्विक स्वत:स्फूर्तता में खोजी और पायी जा सकती है।"** (*वही,* पृ. 284) लेकिन लूकाच अपना तर्क सबसे पूर्णता में यहाँ रखते हैं: **"किसी आन्दोलन की स्वत:स्फूर्तता...विशुद्ध आर्थिक नियमों द्वारा इसके निर्धारण की सिर्फ़ एक सचेतन, जन-मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है...ऐसे उभार उतने ही स्वत:स्फूर्त ढंग से ठण्डे भी पड़ जाते हैं, ज्यों ही उनके तात्कालिक लक्ष्य हासिल हो जाते हैं या हासिल होने योग्य महसूस होते हैं, वैसे ही उनका क्षरण हो जाता है।"** (*वही,* पृ. 307) यह बात मज़दूर वर्ग की स्वत:स्फूर्तता पर जितनी क्रान्ति के पहले के दौर की लिए लागू होती है, उतनी ही क्रान्ति के बाद के दौर के लिए भी लागू होती है। फैक्टरी कमेटियों के आन्दोलन की असफलता को इसकी रोशनी में विश्लेषित किया जा सकता है। स्वत:स्फूर्त रूप से मज़दूर वर्ग या कम-से-कम उसका एक हिस्सा पूरे समाजवादी संक्रमण के दौरान भी तब तक आर्थिक तर्क (पिक्यूनरी लॉजिक) से ही चलेगा जब तक कि बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा के वर्चस्व को निर्णायक तौर पर तोड़ नहीं दिया जाय और सर्वहारा वर्ग की विचारधारा (कम्युनिस्ट पार्टी जिसका मूर्त रूप होती है) के वर्चस्व को निर्णायक तौर पर स्थापित न कर दिया जाय। चेतना की भूमिका इसी रूप में समाजवादी संक्रमण में प्रभावी

होती है, उस रूप में नहीं जिसमें सुजीत दास बात करते हैं! वास्तव में, चेतना की प्रधानता की बात करते हुए सुजीत दास चेतना की भूमिका को कचरापेटी के हवाले कर देते हैं, क्योंकि उनका मानना है कि इस चेतना का वाहक समूचा सर्वहारा वर्ग होता है। ये सर्वहारा वर्ग के बारे में गुलाबी रोमैण्टिक विचार हैं और इन विचारों के टूटने के लिए ऐसे विचार रखने वालों को मज़दूर वर्ग का जीवन देखने और उनके आन्दोलनों में शिरकत करने की ज़रूरत है। लेकिन अभी हम लूकाच की आलोचना पर वापस लौटते हैं।

आगे लूकाच कहते हैं, **"(इसलिए) ज़रूरी है कि... स्वतःस्फूर्तता और सचेत नियन्त्रण के बीच अन्तरक्रिया हो...कम्युनिस्ट पार्टियों के गठन में जो चीज़ अनूठी थी वह थी स्वतःस्फूर्त कार्रवाई और सचेत, सैद्धान्तिक दूरदर्शिता के बीच नया सम्बन्ध, यह बुर्जुआ वर्ग की सिर्फ़ 'चिन्तनशील', कार्यरूप में परकीकृत (रीइफाइड) चेतना की विशुद्ध *पोस्ट फेस्टम* संरचना पर स्थायी आक्रमण और धीरे-धीरे उसका लुप्त होना था।"** (*वही*, पृ. 317) यहाँ पर लूकाच अपने श्रेष्ठतम लेनिनवादी रूप में हैं जब वह लिखते हैं कि यह अनिवार्य है कि **"सर्वहारा वर्ग राज्यसत्ता को सभी परिस्थितियों में अपने हाथ में रखने के लिए अपने पास मौजूद सभी साधनों का इस्तेमाल करे। विजयी सर्वहारा वर्ग को आर्थिक या विचारधारात्मक तौर पर अपनी नीति को पहले से ही कठमुल्ला तरीके से सूत्रबद्ध करने की भूल नहीं करनी चाहिए। वर्गों का जिस रूप में पुनर्स्तरीकरण हुआ है और साथ ही अधिनायकत्व के लिए मज़दूरों के निश्चित समूहों को किस प्रकार अपने पक्ष में करना या कम-से-कम उन्हें अपनी तटस्थता बनाये रखने तक लाना सम्भव और अनिवार्य है, इस पर निर्भर रहते हुए सर्वहारा वर्ग को अपनी आर्थिक नीति (समाजीकरण, छूटें, आदि) में पूरी आज़ादी के साथ दाँव-पेच करने में सक्षम होना चाहिए। उसी प्रकार, उसे स्वतन्त्रता के जटिल मुद्दे पर अपने आपको कभी भी ज़बरन बाध्य किये जाने की आज्ञा नहीं देनी चाहिए...स्वतन्त्रता अपने आपमें (समाजीकरण से ज़्यादा) किसी मूल्य का प्रतिनिधित्व नहीं करती। स्वतन्त्रता को हर स्थिति में सर्वहारा वर्ग के शासन के सेवा करनी चाहिए, न कि इसका उल्टा।"** (*वही*, पृ. 292) और इस शासन का प्रधान उपकरण सर्वहारा वर्ग की पार्टी होती है, इसके पक्ष में हम अपने तर्क आगे देंगे और साथ ही लेनिन, स्तालिन और माओ के विचारों को भी आपके समक्ष रखेंगे। लेकिन पहले 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के सुजीत दास के कुछ और ज़्यादा करीबी विचारधारात्मक पुरखों के विचारों पर एक निगाह डाल लें! **क्योंकि फिलहाल हम यह दिखलाना चाहते हैं कि सुजीत दास की वास्तविक करीबी मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के साथ नहीं बनती, बल्कि एक ऐसी सोच के से बनती है, जिसके ख़िलाफ मार्क्स, लेनिन और माओ ने लगातार संघर्ष किया था।**

ज़्यादा करीबी पुरखों की यह धारा है डच "वामपन्थी" धारा और जर्मन कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद "वामपन्थी" भटकाव की धारा, जिसके प्रमुख प्रतिनिधि **पान्नेकोएक** (यह वही **हॉर्नर** हैं जिनकी लेनिन ने **'"वामपन्थी" कम्युनिज़्म: एक बचकाना मर्ज़'** में आलोचना की थी), **रूले** और **गॉर्टर** थे। इसमें आगे **कार्ल कोर्श** भी शामिल हुए, जो कि फ्रैंकफर्ट स्कूल के पुरोधाओं के दार्शनिक प्रेरणा-स्रोतों में से एक थे।

इन "वामपन्थी" भटकावग्रस्त बुद्धिजीवियों के वैचारिक विकास की शुरुआत रूस की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण वहाँ समाजवादी सत्ता के विकास होने लेकिन समाजवादी

व्यवस्था के विकास की क्षीण सम्भावनाओं (गॉर्टर व पान्नेकोएक) या समाजवादी सत्ता स्थापित ही न हो सकने (कार्ल कोर्श व ओटो रूले) के विचार से हुई, लेकिन इन सबका अन्त काउंसिल कम्युनिज़्म के विचार पर हुआ। पान्नेकोएक और गॉर्टर का शुरू में मानना था कि रूस में जो पिछड़ा और अर्द्धविकसित पूँजीवाद था उसके कारण वहाँ बुर्जुआ विचारधारा का प्रभाव सर्वहारा वर्ग पर कम था और उसे कम्युनिज़्म के पक्ष में जीतना आसान था। लेकिन यही पिछड़ापन एक बाधा भी पैदा करता था। चूँकि, पान्नेकोएक और गॉर्टर के अनुसार, समाजवादी व्यवस्था के विकास के लिए एक उन्नत पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों वाली सामाजिक संरचना की ज़रूरत होती है, इसलिए एक पिछड़ी उत्पादक शक्तियों वाले देश में समाजवादी व्यवस्था का उत्तरोत्तर विकास सम्भव नहीं है। ऐसे में, पार्टी हिरावलपन्थी हो जायेगी और वर्ग पर अपनी इच्छा को थोपने लगेगी। यही कारण था कि रूसी पार्टी बेहद केन्द्रीकृत थी और यही कारण था कि उसने वर्ग को शासन से अपदस्थ कर सत्ता अपने हाथों मे केन्द्रित कर ली थी। अन्त में गॉर्टर और पान्नेकोएक इस राय पर पहुँच गये कि मज़दूर सत्ता को लागू करने का उपकरण सर्वहारा वर्ग की पार्टी नहीं बल्कि मज़दूर परिषदें होंगी। इसमें अचरज की कोई बात नहीं है कि सुजीत दास भी इसी नतीजे पर पहुँच गये हैं। और इसी नतीजे पर पहुँचे थे जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी के "वामपन्थी" भटकाव से ग्रस्त धड़े के सदस्य ओटो रूले और कार्ल कोर्श, हालाँकि वे दोनों अलग-अलग रास्तों से इस नतीजे पर पहुँचे थे। ओटो रूले ने इस धारा के भटकाव को सबसे सक्षम अभिव्यक्ति दी थी, और इस उद्धरण में आपको 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के "तर्कों" की अनुगूँज सुनायी दे सकती है: **"केन्द्रीयतावाद बुर्जुआ-पूँजीवादी युग का संगठनात्मक सिद्धान्त है। यह एक बुर्जुआ राज्य और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का निर्माण करता है। सर्वहारा राज्य और समाजवादी अर्थव्यवस्था का नहीं। इनके लिए तो काउंसिल व्यवस्था की ज़रूरत होती है।"** (ओटो रूले, 1920, 'बेरिख़्ट उबेर मोस्काऊ', *डाई एक्टियन,* एक्स, 39-40) एक अन्य जगह पर एक बार फिर आप उन्हीं विचारों को ओटो रूले में देख सकते हैं, जो कि सुजीत दास ज़्यादा गड्ड-मड्ड तरीके से अभिव्यक्त करते हैं: **"बिना आर्थिक आधार (यानी 'प्रत्यक्ष उत्पादकों के उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण' - अनु.) के राजनीतिक समाजवाद। एक सैद्धान्तिक निर्मिति। एक नौकरशाहाना शासन। कागज़ी आज्ञप्तियों का एक संग्रह। एक उद्वेलनात्मक जुमला। एक भयंकर निराशा।"** (ओटो रूले, 1920, 'मोस्काओ उण्ड वॉर', *डाई एक्टियन,* एक्स, 37-38)। 1923-4 तक डच "वामपन्थी" धारा और ओटो रूले एक ही अवस्थिति पर आ चुके थे। गॉर्टर और पान्नेकोएक की मुख्य रचनाएँ जिनमें उन्होंने अपनी अवस्थिति प्रतिपादित की थीं, वे हैं गॉर्टर की 'दि वर्ल्ड रिवोल्यूशन' (1920) और पान्नेकोएक की 'दि वर्ल्ड रिवोल्यूशन एण्ड कम्युनिस्ट टैक्टिक्स' (1920)। कार्ल कोर्श भी थोड़ी देर से 1927 में इसी नतीजे पर पहुँच गये थे। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है। सभी "वामपन्थी" कम्युनिस्ट कुछ बुनियादी धारणाएँ शेयर करते हैं और इसलिए अक्सर देर-सबेर वे मिलते-जुलते नतीजों पर पहुँचते हैं, और वे धारणाएँ अर्थवाद (राजनीति पर आर्थिक कारकों को प्रधानता देना), मज़दूरवाद (सर्वहारा चेतना को हिरावल के अभिकरण द्वारा सचेतन तौर पर निःसृत की जाने वाली चेतना की बजाय मज़दूर वर्ग की स्वतःस्फूर्त चेतना समझना) और कार्यकारी निर्णयों (एक्ज़ीक्यूटिव डिसीज़ंस) द्वारा अलगाव को समाप्त करने की सोच रखना है (मिसाल के तौर पर, नौकरशाही ख़त्म करने के लिए सोवियत राज्य और पार्टी को

फलाँ-फलाँ कदम उठा देने चाहिए थे, वगैरह)। **बस सुजीत दास के लिए एक मज़ाकिया अफ़सोस की बात यह है कि वे इस नतीजे पर 90 वर्ष देर से पहुँचे हैं! और इससे भी मज़ेदार बात यह है कि उन्हें पता ही नहीं है कि उन्हें कुछ ज़्यादा देर हो गयी है! और सबसे मज़ेदार बात यह है कि वह तर्जनी उठाकर बार-बार देश और दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलन को अपनी "नयी-नवेली" वैचारिक खोजों के बारे में बता रहे हैं।**

लेकिन पाठक देख सकते हैं कि इनमें कुछ भी नया नहीं है। सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की समाजवादी संक्रमण और उसमें पार्टी की भूमिका के बारे में पूरी सोच वास्तव में पिछली एक सदी या उससे कुछ ज़्यादा समय में अलग-अलग समय पर पैदा हुई अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, "वामपन्थी", संशोधनवादी प्रवृत्तियों की अवस्थितियों का बहुत ही दयनीय और दरिद्र मिश्रण है। इसके कारण हम पहले भी बता चुके हैं। वह यह है कि पहले की प्रवृत्तियों के प्रतिनिधियों के विचारों से कोई लेनिनवादी निश्चित तौर पर असहमति रखेगा, लेकिन यह भी सच है कि पुराने अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और विसर्जनवादी कम से कम पढ़कर लिखते थे! लेकिन सुजीत दास ने तथ्यों और ऐतिहासिक विवरणों के प्रति जो अवहेलना का रुख़ अपनाया है, उसके कारण उनका लेख सोवियत समाजवाद के आलोचनात्मक विश्लेषण की श्रेणी में नहीं आता, बल्कि उसके बारे में कुत्साप्रचार की श्रेणी में आता है। और इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि सारा कीचड़ उछालने के बाद अन्त में श्री दास स्तालिन और सोवियत समाजवाद के गौरव के बारे में कुछ वाक्य अलग से चेंप देते हैं। अब हम आपको दिखाना चाहेंगे कि सुजीत दास ने जो खिचड़ी तैयार की है, उसमें न सिर्फ़ उन्होंने उपरोक्त प्रवृत्तियों से उधार लिया है, बल्कि ट्रॉट्स्कीपन्थ की सबसे निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी और पतित धाराओं और यहाँ तक कि कुछ कुख्यात मार्क्सवाद-विरोधी और प्रतिक्रान्तिकारी प्रवृत्तियों के विचारों की भी छौंक लगायी है। आइये देखें यह उपलब्धि सुजीत दास ने किस तरह से हासिल की है।

इन लोगों में से जो व्यक्ति सुजीत दास के सबसे करीब दिखलायी पड़ता है वह है **गावरिल मियास्निकोव** जो कि एक मज़दूर था और शुरुआती दौर में 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' जैसे "वामपन्थी" भटकावों से सहमति रखता था। 1928 में मियास्निकोव सोवियत संघ से भागकर फ्रांस चला गया था। उसकी 1931 में एक पुस्तिका *दि करेण्ट डिसेप्शन* प्रकाशित हुई, जिसे डच "वामपंथियों" ने अपनी पत्रिका में छापा भी था। मियास्निकोव हूबहू वही बात करता है, जो कि सुजीत दास कर रहे हैं। मियास्निकोव कहता है कि सोवियत संघ में प्रतिक्रान्ति की प्रक्रिया तभी शुरू हो गयी थी जब मज़दूर फैक्टरी काउंसिलों के हाथ से उत्पादन के साधनों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण ले लिया गया था। लेकिन सुजीत दास की तरह मियास्निकोव इस प्रक्रिया की तिथि ग़लत नहीं बताता, और इसे स्तालिन के दौर की परिघटना नहीं मानता है, बल्कि उसे लेनिन के दौर से ही जारी प्रक्रिया मानता है। मियास्निकोव का मानना है कि **"उद्योग अश्मीभूत हो गया था, मज़दूर विसंगठित हो गये थे और इसलिए मज़दूर परिषदें नष्ट हो गयी थीं। सर्वहारा अब शासक वर्ग नहीं रह गया था, जिसके पास राजनीतिक और आर्थिक वर्चस्व हो...।"** (मियास्निकोव, 1931, **'डे ग्राण्डस्लैगेन वॉन डेन रुसिस्चेन सोवजेट-स्टाट'**, *डे न्यूवे वेग*, संख्या-7, पेरिस) देखिये कि मियास्निकोव, सुजीत दास की ही तरह ठीक उन्हीं चीज़ों की आलोचना कर रहे हैं, जिन्हें लेनिन और स्तालिन दोनों ने ही समाजवादी संक्रमण के दौर की ज़रूरत बताया था, यानी कि

श्रम अनुशासन और हिरावल व ट्रेड यूनियन द्वारा मज़दूर वर्ग पर इस व्यवस्था को लागू करने और उसमें उन्हें शिक्षित-प्रशिक्षित करने की ज़रूरत। मियास्निकोव कहता है, **"सोवियत संघ की पूरी राजकीय अर्थव्यवस्था ऐसी है जैसे कि एक विशाल कारखाना, जिसमें अलग-अलग कार्यस्थलों के बीच एक व्यवस्थित सहकार और श्रम विभाजन है।"** (*वही*) यह तथ्य कि मियास्निकोव धातु उद्योग में काम करने वाला एक मज़दूर था, बताता है कि मज़दूर वर्ग की चेतना हर-हमेशा और स्वत:स्फूर्त रूप से सर्वहारा नहीं होती। वह अराजकतावादी भी हो सकती है।

सुजीत दास की बात जिस एक अन्य आलोचक से काफ़ी मिलती है, वह हैं **हेल्मुट वैग्नर** जो कि एक "वामपन्थी" भटकाव का शिकार एक सामाजिक जनवादी पत्रकार थे। 1934 में उन्होंने 'थीसीज़ ऑन बोल्शेविज़्म' प्रकाशित की। उनकी यह थीसिस वास्तव में 'रोटे कैम्फर' नामक एक काउंसिल कम्युनिस्ट ग्रुप से हुई उनकी बातचीत से प्रभावित थी। सुजीत दास की तरह वैग्नर भी सोवियत राज्यसत्ता को इतिहास की पहले की राज्यसत्ताओं से गुणात्मक तौर पर अलग नहीं मानते हैं। उनका भी मानना था कि सोवियत राज्यसत्ता भी एक समूह द्वारा वर्ग के नाम पर हथिया ली गयी सत्ता थी, और इस मामले में वह ज़ारशाही की सत्ता या आरज़ी सरकार की सत्ता से भिन्न नहीं थी। वैग्नर कहते हैं कि ज़ार का राज्य सामन्ती और पूँजीपति वर्ग के बीच सन्तुलन कायम रखने की प्रक्रिया में अपने वर्ग मूल से स्वायत्त हो गया था, और यह इसीलिए एक निरंकुश राज्य था (हालाँकि निरंकुश राज्यसत्ता का यह सिद्धान्त की उसका वर्ग मूल या वर्ग चरित्र नहीं होता है, प्रभावी तरीके से एंगेल्स द्वारा और आधुनिक युग में **पेरी एण्डरसन** द्वारा ख़ारिज किया जा चुका है); इसी तरीके से वैग्नर सोवियत राज्यसत्ता को किसान वर्ग और मज़दूर वर्ग के बीच सन्तुलन कायम रखने वाली राज्यसत्ता मानते हैं, और मानते हैं कि इसीलिए वह मज़दूर वर्ग से स्वायत्त हो गयी और एक निरंकुश सत्ता बन गयी। यह निरंकुश राज्यसत्ता मज़दूर वर्ग के नाम पर वास्तव में पूँजीवाद को संगठित कर रही थी। यानी कि पूँजीपति वर्ग के बिना ही पूँजीवाद। सुजीत दास के नतीजे भी कम तीखे शब्दों में कुछ ऐसे ही हैं। यहाँ हम वैग्नर का एक छोटा-सा उद्धरण देकर आगे बढ़ेंगे, **"रूसी राज्यसत्ता निश्चित रूप से किसी वर्ग के लोगों को प्रदर्शित नहीं करती, जो कि व्यक्तिगत तौर पर या प्रत्यक्ष रूप से अधिशेष के उत्पादन के लाभार्थी हों, बल्कि यह राज्य सत्ता अपने नौकरशाहाना, परजीवी उपकरण द्वारा इस अधिशेष को अपनी जेब में डालती है।"** (हेल्मुट वैग्नर, 1934, 'थीसिस ऑन बोल्शेविज़्म', *इण्टरनेशनल काउंसिल करेस्पॉण्डेंस, 1, 3 (दिसम्बर 1934): 1-18*)। सुजीत दास सोवियत राज्यसत्ता द्वारा फसल वसूली के सवाल पर यही अवस्थिति अपनाते हैं।

कुछ ऐसी ही अवस्थिति अपनाते हैं ऑस्ट्रेलायाई ट्रॉट्स्कीपन्थी **रायन वॉरेल** जिन्होंने 1939 में एक अमेरिकी पत्रिका 'मॉडर्न क्वार्टरली' में एक लेख लिखा था: 'सोवियत संघ: सर्वहारा राज्य या पूँजीवादी राज्य'। इसमें उन्होंने लिखा कि मार्क्स के अनुसार उत्पादन के साधनों पर एक अल्पसंख्या का नियन्त्रण पूँजीवादी उत्पादन की एक ख़ासियत है। सुजीत दास की ही तरह वॉरेल ने इस बात का अर्थ समझे बग़ैर यह नतीजा निकाल लिया था कि चूँकि सोवियत संघ में प्रत्यक्ष उत्पादक का उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं है, इसलिए वह ज़्यादा से ज़्यादा राजकीय पूँजीवाद है। जो बात वॉरेल भी नहीं समझ पाये थे और सुजीत दास से तो हम ऐसी उम्मीद करने की नादानी बिल्कुल नहीं करते, वह यह थी कि मार्क्स यहाँ

जिस अल्पसंख्या की बात कर रहे हैं, वह कुछ लोगों का समूह नहीं बल्कि एक वर्ग है–पूँजीपति वर्ग। समूचा पूँजीपति वर्ग भी उत्पादन के साधनों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं करता है। उसका अच्छा-ख़ासा हिस्सा अधिशेष विनियोजन में हिस्सेदार होता है, और अक्सर वह उत्पादन, उत्पादन के साधन आदि से बहुत दूर होता है और उसके बारे में अक्सर कुछ भी नहीं जानता। **पूँजीपति वर्ग को जो चीज़ पूँजीवाद के तहत शासक वर्ग बनाती है वह उस पूरे के पूरे वर्ग का उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं, बल्कि सबसे पहले अधिशेष विनियोजन, यानी कि अधिशेष हस्तगत करने का उसका अधिकार होता है। यही बात मार्क्स ने भी अलगाव का ज़िक्र करते हुए कही थी, जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं।** वॉरेल, एक बार फिर बिल्कुल सुजीत दास की तरह, यह हवाला देते हैं कि अधिकांश देशों में रेलवे राजकीय सम्पत्ति है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं वहाँ समाजवाद है। निश्चित तौर पर! लेकिन यहाँ वॉरेल और सुजीत दास, दोनों ही यह बात भूल गये कि राजकीय सम्पत्ति का चरित्र इससे निर्धारित होता है कि राज्य पर कौन काबिज़ है। यह तो एंगेल्स ने बहुत पहले ही बता दिया था कि पूँजीवाद के तहत राजकीय सम्पत्ति पूँजीपति वर्ग की 'सामूहिक पूँजी' से ज़्यादा कुछ नहीं होती। इस मामले में वॉरेल और सुजीत दास कोई नया आविष्कार नहीं कर रहे हैं। मूल प्रश्न राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र, यानी राज्यसत्ता का प्रमुख उपकरण कौन-सी पार्टी है, इससे तय होता है। क्योंकि कोई भी वर्ग अपने सभी सदस्यों के साथ कोरस में अभ्यास करके राज्यसत्ता पर अपना वर्चस्व कायम नहीं करता है, बल्कि अपने हिरावल के जरिये राज्यसत्ता पर अपना नियन्त्रण स्थापित करता है। न तो बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही इस नियम का अपवाद है और न ही सर्वहारा वर्ग की तानाशाही। वॉरेल एक और बात करते हैं, जो सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की याद दिला देती है। उनका मानना है कि सोवियत नौकरशाही पूँजीपति वर्ग नहीं है, लेकिन यह उसकी तरह से बर्ताव कर रही है। अगर यह नौकरशाही मज़दूर वर्ग के मातहत होती तो यह समाजवादी होती, लेकिन चूँकि ऐसा नहीं था इसलिए सोवियत राज्यसत्ता का चरित्र बुर्जुआ हो जाता है।

एक अन्य धारा जिससे सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की करीबी बनती है वह है **फ्रैंकफर्ट स्कूल** की धारा। फ्रैंकफर्ट स्कूल के अर्थशास्त्री फ्रेडरिक पोलक ने सोवियत संघ की आलोचना 'स्टेट कैपिटलिज़्म: इट्स पॉसिबिलिटीज़ एण्ड लिमिटेशंस' नामक लेख में की थी, जो कि 1941 में प्रकाशित हुआ था। पोलक अपनी सोच में पूरी तरह से मैक्स होर्कहाइमर (फ्रैंकफर्ट स्कूल के संस्थापकों में से एक) का अनुसरण करते है। और फ्रैंकफर्ट स्कूल की पूरी सोच इस उद्धरण से साफ़ हो जाती है: **"निजी पूँजीपति समाप्त हो चुके हैं। इसके बाद, लाभांश सरकारी बॉण्ड के रूप में संग्रहित होते हैं। शासन के क्रान्तिकारी अतीत के कारण अधिकारियों और विभागों के बीच निम्न स्तर के संघर्ष नौकरशाहाना स्टाफ के सामाजिक मूल और सम्बन्धों के कारण जटिल नहीं बनते, जैसा कि फासीवाद के साथ होता है। इस चीज़ ने फासीवादी राज्यों के भीतर काफी घर्षण पैदा किया है। समेकित राज्यवाद कदम पीछे हटाना नहीं बल्कि सत्ता का विकास है। यह बिना नस्लवाद के भी मौजूद रह सकता है। लेकिन, उत्पादक जिनका कानूनी तौर पर पूँजी पर मालिकाना है, वह 'उजरती मज़दूर - सर्वहारा' ही बना रहता है, चाहें उसके लिए कितना कुछ भी क्यों न किया जाता हो। कारखाने के रेजिमेण्टेशन को पूरे समाज तक विस्तारित कर दिया जाता है।"** (मैक्स होर्कहाइमर, 1942, **'दि अथॉरिटैरियन स्टेट'**, *दि*

एसेंशियल फ्रैंकफर्ट स्कूल रीडर, न्यूयॉर्क, उरिज़ेन बुक्स, 1978, पृ. 102)। यहाँ भी सुजीत दास की इस स्कूल के विचारों से करीबी साफ़ है और उसकी व्याख्या करने की कोई ज़रूरत नहीं है।

अब हम उस आख़िरी प्रभाव स्रोत पर आते हैं जिनके विचारों की छाया सुजीत दास पर स्पष्ट तौर पर नज़र आती है। इस धारा को अक्सर **ब्रूनो रिज़ी** और **सिमोन वील** के चिन्तन का नतीजा माना जाता है, लेकिन वास्तव में इसके मूल भूतपूर्व ऑस्ट्रियाई-जर्मन कम्युनिस्ट **लूसियेन लॉरेट** में ही खोजे जा सकते हैं। लूसियेन लॉरेट ने 1927 में मार्क्सवाद का परित्याग कर दिया था। 1931 में उनकी एक पुस्तक आयी थी जिसका नाम था 'दि सोवियत इकॉनमी'। **लॉरेट का मानना था कि सोवियत संघ न तो पूँजीवादी है और न समाजवादी (सुजीत दास के 'मिश्रित' संरचना वाली बात का यहाँ पर स्मरण हो आना स्वाभाविक है)।** उनका मानना था कि यह एक नयी सामाजिक-आर्थिक संरचना है और इसमें एक नया नौकरशाह शासक वर्ग पैदा हुआ है। लॉरेट कहते हैं कि सोवियत संघ में कानूनी तौर पर उत्पादन के साधनों का सामूहिक मालिकाना था, लेकिन वास्तव में इन साधनों का निर्देशन एक परजीवी नौकरशाह वर्ग या जाति (कास्ट) करती थी। मज़दूर वर्ग अधिशेष का उत्पादन करता था और यह नौकरशाही मज़दूर वर्ग के ही नाम पर उसका उपभोग और संचय करती थी। और यह संचय वास्तव में उद्योग के लिए पूँजी का संचित भण्डार था। आर्थिक नियोजन को सोवियत संघ और नात्सी जर्मनी, दोनों ने ही इस्तेमाल किया। एक जगह इस नियोजन के शीर्ष पर नौकरशाह-तकनोशाह (ब्यूरो-टेक्नोक्रेसी) वर्ग था (सोवियत संघ) जबकि दूसरी जगह इसके शीर्ष पर एक अल्पसंख्यक-तकनोशाह (प्लूटो-टेक्नोक्रेसी) वर्ग था (यानी जर्मनी और एक हद तक इटली)। पहले मामले में एक समाजवादी 'करेक्टिव' की ज़रूरत थी, यानी कि राज्यसत्ता और अर्थव्यवस्था पर प्रत्यक्ष उत्पादकों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण को स्थापित करने की, और दूसरे मामले में एक पूँजीवादी 'करेक्टिव' की ज़रूरत थी, यानी कि मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था की। और चूँकि दोनों मामलों में यह करेक्टिव अनुपस्थित था, इसलिए दोनों जगह नौकरशाही का शासन था। लॉरेट बिल्कुल सुजीत दास की ही तरह यह बताने की कोई ज़रूरत नहीं समझते कि इस नौकरशाही का क्या वर्ग चरित्र था। लॉरेट इस चीज़ का वैधीकरण अपनी इस मान्यता के आधार पर दे सकते हैं, कि नौकरशाही को ही वह नया शासक वर्ग मानते हैं, हालाँकि मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के अनुसार यह मूर्खतापूर्ण बात है, क्योंकि वर्ग होने की पूर्वशर्तों को यह समूह, यानी कि नौकरशाही, पूरा नहीं करती। लेकिन सुजीत दास इसके लिए कोई वैधीकरण नहीं दे सकते क्योंकि वह कम-से-कम इस लेख में ऐसा नहीं लिखते कि नौकरशाही एक वर्ग है।

सिमोन वील भी 1933 में आई अपनी रचना 'आर वी गोइंग टुवर्ड्स ए प्रोलेतारियन रिवोल्यूशन' में यही विचार रखती हैं कि अगर पूँजीवाद समाप्त भी हो जाये तो मानसिक मज़दूरों और शारीरिक मज़दूरों के बीच का अन्तर अनिवार्य रूप से नौकरशाही को जन्म देगा जो कि एक नया शासक वर्ग बन जायेगी। यहाँ हम सिमोन वील की व्यापक आलोचना में नहीं जायेंगे, क्योंकि वह जो कह रही हैं, उसके अवधारणात्मक मूल लूसियन लॉरेट में पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। इसलिए हम लॉरेट के एक उद्धरण के साथ यह बात ख़त्म करेंगे: **"(नौकरशाही) सर्वहारा जनसमुदायों के साथ अपने सम्बन्धों को लगातार खोती गयी। इसने अपने आपको सम्पत्तिहीन बना दी गयी बुर्जुआज़ी की सम्पत्ति के निरीक्षक, और**

उन मज़दूरों के शिक्षक के रूप में खड़ा कर दिया जो अभी भी अपने प्रबन्धन में पर्याप्त रूप से सक्षम नहीं थे। तानाशाही को वर्ग पर पार्टी के शासन के बोल्शेविक सिद्धान्त के जरिये परिवर्तित कर दिया गया और एक ऐतिहासिक रूप से अपवादस्वरूप परिस्थिति में आकस्मिक सर्वशक्ति से लैस होकर नौकरशाही ने अपने आपको चिरकाल के लिए एक शिक्षक के रूप में खड़ा कर लिया।।" (लूसियन लॉरेट, 1931, *'ला इकोनोमी सोवियेतीक, सा डाईनेमीक, सोन मेकानिस्मे,* पेरिस: लाइब्रेरी वालोआ, पृ. 162)।

इन सभी सिद्धान्तों का बहुत करीबी से विश्लेषण करने का यहाँ हमारे पास स्थान नहीं है। वास्तव में इसकी ज़रूरत भी नहीं है। यहाँ हम इन संशोधनवादी, नवमार्क्सवादी, मार्क्सवाद-विरोधी, "वामपन्थी" कम्युनिस्ट, अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और ट्रॉट्स्कीपन्थी व्याख्याओं की चर्चा सिर्फ़ दो कारणों से कर रहे थे। **पहला कारण यह कि आप इन सभी व्याख्याओं में बिल्कुल साफ़ तौर पर एक साझा थीम देख सकते हैं। वह साझा थीम है परिघटना (फेनॉमेना) के स्तर पर विकासों और परिवर्तनों की सूची तैयार करने और उनके सारतत्व (एसेंस) का विश्लेषण नहीं करने की।** लेनिन और स्तालिन ने बार-बार बताया था कि सोवियत संघ का समाजवादी राज्य कोई अमोघ-अचूक समाजवादी राज्य नहीं है और उसमें नौकरशाहाना विकृतियाँ और बुर्जुआ विरूपताएँ मौजूद हैं और सच तो यह है कि कोई समाजवादी राज्यसत्ता अचूक और अमोघ हो ही नहीं सकती। जो यह बुनियादी बात नहीं समझता वह यह भूल जाता है कि समूचा समाजवादी संक्रमण बेहद तीव्र और जटिल वर्ग संघर्ष की एक प्रक्रिया है; अभी समाज में पूँजीवाद के तत्व मौजूद हैं और बुर्जुआ वर्ग परास्त हुआ है, किन्तु ख़त्म नहीं। ऐसे में, समाज में उत्पादन, विचारधारा, संस्कृति, शिक्षा, राजनीति और मनोविज्ञान के धरातलों पर जो वर्ग संघर्ष चलेगा उसका प्रतिबिम्बन कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष के रूप में, नौकरशाही के ख़िलाफ़ और अन्य विजातीय गैर-सर्वहारा प्रवृत्तियों के ख़िलाफ संघर्ष के रूप में दिखलायी पड़ेगा और इस वर्ग संघर्ष का प्रतिबिम्बन राज्यसत्ता में मौजूद संघर्ष के रूप में भी दिखलायी पड़ेगा। लेकिन उपरोक्त सभी धाराएँ एक बुनियादी मार्क्सवादी सबक को भूलने के चलते सोवियत समाजवाद के अध्ययन में मतिभ्रम और दृष्टिभ्रम का शिकार हो गयी हैं–यानी, **वर्ग विश्लेषण।** किसी सामाजिक संरचना का वर्ग विश्लेषण, किसी राज्यसत्ता का वर्ग विश्लेषण, पार्टी का वर्ग विश्लेषण और किसी भी राजनीतिक निकाय का वर्ग विश्लेषण। अगर इन बुनियादी चीज़ों को भूल जायें तो यह मानना होगा कि दुनिया में कभी कहीं समाजवादी व्यवस्था (संक्रमण के तौर पर भी) मौजूद नहीं थी। इस नतीजे तक सुजीत दास नहीं पहुँचते, लेकिन उन्हीं के शब्दों का इस्तेमाल करें, यह सुजीत दास के विश्लेषण में "सचेतनता" की भूमिका है **(पता नहीं अधिकांश जगहों पर सुजीत दास पार्टी, हिरावल, वर्ग, और चेतना जैसे शब्दों को उद्धरण चिन्हों के बीच क्यों रखते हैं, क्योंकि वह ट्रेड यूनियन या सोवियत को तो वह कभी भी उद्धरण चिन्ह में नहीं रखते; कहीं ऐसा वह उसी तरह से तो नहीं करते जैसे लेनिन ने वामपन्थी शब्द को "वामपन्थी" कम्युनिज़्म की आलोचना करते हुए उद्धरण चिन्ह में रखते हुए किया था? अगर यह काम "अचेतनता" या "अवचेतनता" के कारण सुजीत दास कर बैठे हैं, तो भी उनको सोचना चाहिए!)!** जहाँ पर भी सुजीत दास "नैसर्गिक स्वत:स्फूर्तता" (जिसके कि सुजीत दास दीवाने हैं!) से चलते हैं, वहाँ उनके सारे विश्लेषण में क्या

दिखलायी देता है? यहीं से हम अपने दूसरे कारण पर आते हैं।

हमने उपरोक्त तमाम धाराओं का यहाँ ज़िक्र और संक्षिप्त विश्लेषण इसलिए किया है, क्योंकि 1917 से लेकर 1953 तक सोवियत समाजवाद के जो भी आलोचक इन धाराओं से आये थे, उनकी आलोचनाओं का पूरा प्रभाव सुजीत दास के विश्लेषण में नज़र आता है। कहा जा सकता है कि सुजीत दास ने अपनी "नैसर्गिक वर्ग स्वत:स्फूर्तता" से इन तमाम अधकचरी गैरमार्क्सवादी आलोचनाओं का एक ऐसा मिश्रण तैयार किया है, जो इन सभी आलोचनाओं से ज़्यादा अधकचरा और दरिद्र साबित हुआ है। इन सभी धाराओं से सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की गहरी मित्रता को दिखलाने का बाद अब हम लेनिन, स्तालिन और माओ के विचारों से इन गैर-सर्वहारा विजातीय प्रवृत्तियों की एक तुलना कर सकते हैं और अपना विश्लेषण पाठकों के सम्मुख रख सकते हैं।

अब पहले हम सुजीत दास की पूरी अवस्थिति पर अपना विश्लेषण रखेंगे, और उसके बाद पार्टी और वर्ग के सम्बन्धों के बारे में लेनिन, स्तालिन और माओ के विचारों को देखेंगे। हम अपना विश्लेषण टुकड़ों में उपरोक्त धाराओं के आलोचनात्मक विवेचन में रखते हुए आए हैं, लेकिन हम यहाँ एक बार उसके मूल बिन्दुओं को रेखांकित करना चाहेंगे।

हमने ऊपर बोल्शेविक पार्टी में 1919 से लेकर 1921 तक ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर हुए विवाद पर लम्बी चर्चा की थी। हमने यह भी दिखलाने का प्रयास किया था कि विभिन्न धड़ों के बीच जो बहस चली उसका आलोचनात्मक समाहार करते हुए लेनिन ने कहा था कि यह बहस वास्तव में सिर्फ़ ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर नहीं थी बल्कि सर्वहारा अधिनायकत्व की समूची मशीनरी, उसमें पार्टी की प्राथमिक और प्रधान भूमिका, ट्रेड यूनियनों और सोवियतों की भूमिका, और पार्टी के साथ राज्य, सोवियत और ट्रेड यूनियनों के रिश्ते, और साथ ही पार्टी और वर्ग के रिश्तों पर केन्द्रित थी। लेनिन ने यह भी दिखलाया था कि ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर ट्रॉट्स्की-बुखारिन धड़े और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' दोनों की ही अवस्थिति की समस्या यह थी कि वे अर्थवाद के अलग-अलग संस्करण थे। **एक अर्थवाद का दक्षिणपन्थी भटकाव था, तो दूसरा उसका "वामपन्थी" भटकाव।** और इसी के बरक्स लेनिन ने सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी संरचना के बाबत अपनी वैकल्पिक समझदारी पेश की। हम इसी समझदारी से अपनी बात की शुरुआत करेंगे और इस चर्चा से ही कुछ बुनियादी नतीजे निकालेंगे।

हम जानते हैं कि लेनिन ने ट्रॉट्स्की के इस प्रस्ताव की सख़्त आलोचना 1919-20 के दौरान की थी कि ट्रेड यूनियनों को पूरी तरह राज्य का उपकरण बना दिया जाना चाहिए, उनकी किसी भी प्रकार की सापेक्षिक स्वायत्तता भी नहीं रहने दी जानी चाहिए, और उन्हें शासन के कार्य सौंप दिये जाने चाहिए। लेनिन का मानना था कि मज़दूर वर्ग को सजातीय या एकाश्मीय श्रेणी नहीं माना जा सकता है। यह विभाजित है, इसके व्यापक हिस्से टटपुँजिया चेतना से भ्रष्ट हैं। ट्रेड यूनियनें इस समूची आबादी को समेटती हैं, और इसलिए अगर उनका राजकीयकरण किया गया तो यह सर्वहारा राज्य को भी भ्रष्ट कर देगा और ट्रेड यूनियनों को भी। लेनिन का विचार था कि ट्रेड यूनियनों को हिरावल और मज़दूर वर्ग को जोड़ने वाली कड़ी का काम करना चाहिए। ट्रेड यूनियनों को सापेक्षिक स्वायत्ता दी जानी चाहिए, ताकि वे मज़दूर वर्ग के हितों की उन सूरतों में हिफ़ाज़त कर सकें, जब बुर्जुआ और नौकरशाह विकृतियों और विरूपताओं से प्रभावित सर्वहारा राज्यसत्ता उसके हितों के विपरीत कदम उठाये,

और साथ ही तभी वे सर्वहारा राज्यसत्ता की भी रक्षा कर पायेंगी, जब वे राज्यसत्ता से *सापेक्षिक तौर पर* स्वायत्त होंगी। लेनिन ने यहीं से अपने हमले का निशाना दूसरे छोर, यानी कि "वामपन्थी" और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी छोर के भटकाव पर केन्द्रित किया। लेनिन का मानना था कि अगर ट्रेड यूनियनों का राजकीयकरण नहीं किया जा सकता तो राज्य का भी ट्रेड यूनियनीकरण नहीं किया जा सकता, जैसा कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का मानना था। इस धड़े का भी यही मानना था कि ट्रेड यूनियनों को सरकार चलाने के कार्य दे दिये जाने चाहिए। लेकिन वे इसमें पार्टी की कोई भूमिका नहीं चाहते थे। वे पार्टी को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के प्रधान उपकरण के रूप में स्वीकार नहीं करते थे और मानते थे कि ट्रेड यूनियनों में पार्टी का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। लेनिन का मानना था कि यह पूरी थीसिस पार्टी को वर्ग के विपरीत खड़ा कर देती है, मानो कि दोनों शत्रुतापूर्ण शक्तियाँ हों। यह वास्तव में पार्टी की ज़रूरत को नकारने के समान था, और इसीलिए लेनिन ने इस धड़े को अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद का शिकार करार दिया। इसके नेता कोलोन्ताई और श्ल्याप्निकोव पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका को नहीं समझते थे। ट्रेड यूनियनों को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र बनाकर सरकार के काम सौंपने का अर्थ होगा मज़दूर वर्ग के राजनीतिक हितों और सत्ता के ऊपर उसके आर्थिक हितों को प्रधानता देना। ऐसे में मज़दूर वर्ग समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में अपने सामाजिक आधार, यानी कि अपने मित्र वर्गों से रिश्ता तोड़ बैठेगा, और यह सर्वहारा अधिनायकत्व के पतन की ओर ले जायेगा। यह क्रान्ति में हिरावल वर्ग के तौर पर सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व को खण्डित कर देगा क्योंकि ट्रेड यूनियनें नैसर्गिक तौर पर मज़दूर वर्ग के हितों को ही प्रधानता देंगी। वास्तव में, 'वर्कर्स अपोज़ीशन' नेप का और किसानों को रियायतें दिये जाने की मजबूरी को नहीं समझ रहा था और उसका विरोध कर रहा था और लेनिन "युद्ध कम्युनिज़्म" के बाध्यताकारी कदमों से मज़दूर-किसान संश्रय के बेहद कमज़ोर हो जाने के ख़तरे को समझ रहे थे और यह भी समझ रहे थे कि अभी पूँजीवादी तत्वों को छूट देकर रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाये बग़ैर सर्वहारा सत्ता को बचाया नहीं जा सकेगा। लेकिन 'वर्कर्स अपोज़ीशन' सर्वहारा वर्ग की नेतृत्वकारी भूमिका को बनाये रखने की इस मजबूरी को नहीं समझता था। अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी यह नहीं समझते हैं कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के पूरे ऐतिहासिक दौर में सर्वहारा वर्ग को कई बार अपने मित्र वर्गों के हितों के आगे अपने तात्कालिक हितों को त्यागना पड़ता है, ताकि सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता को कायम रखा जा सके। लेनिन ने बताया कि ट्रेड यूनियनें पूँजीवाद के दौर में अस्तित्व में आती हैं। पूँजीवाद के दौरान उनका प्रमुख काम होता है पूँजी के हमलों के समक्ष मज़दूर वर्ग के हितों की हिफ़ाज़त करना। जाहिर है, समाजवादी संक्रमण के दौरान यह उनका कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि राज्यसत्ता मज़दूर वर्ग के हाथ में आ चुकी है, और जो भी अधिशेष विनियोजित होता है वह राज्य के ज़रिये लौटकर सर्वहारा वर्ग के कल्याण में ही लगता है। इस रूप में मार्क्स के अलगाव के पहले अर्थ का उन्मूलन हो जाता है। समाजवाद के दौरान मज़दूर वर्ग ने अपनी जो पहलकदमी और नायकत्वपूर्ण प्रयास दिखाये वे इसी कारक के चलते सम्भव हुए थे, किसी ज़ोर-ज़बर्दस्ती से नहीं, जैसा कि सुजीत दास पूर्वाग्रहपूर्ण चयन प्रणाली से उद्धरण छाँटकर अपने लेख में दिखलाना चाहते हैं, जिनका खण्डन हम आगे तथ्यों और प्रमाणों के साथ करेंगे।

तो फिर समाजवाद के दौर में ट्रेड यूनियनों का मुख्य कार्य क्या होता है? लेनिन

इसके बारे में स्पष्ट हैं और उनके सम्बन्धित उद्धरणों को हम ऊपर पेश कर चुके हैं। उनका मानना है कि समाजवाद के अन्तर्गत ट्रेड यूनियनें 'कम्युनिज़्म का स्कूल' और 'प्रबन्धन का स्कूल' होंगी। इसका अर्थ यह है कि यह सर्वहारा अधिनायकत्व के राज्य की मशीनरी के लिए कम्युनिज़्म की स्पिरिट और विश्व दृष्टिकोण को आत्मसात कर चुके मज़दूर कार्यकर्ताओं, प्रबन्धकों और कमिसारों को तैयार करेगी। इसीलिए लेनिन ने आगे इसे सर्वहारा वर्ग की 'राज्यसत्ता का आरक्षित संचित भण्डार' कहा। और इसीलिए लेनिन ने कहा कि ट्रेड यूनियनें सर्वहारा वर्ग को उसके उन्नत दस्ते, उसके हिरावल यानी कि पार्टी से जोड़ने वाली कड़ी है और समाजवादी संक्रमण के दौर में उसकी यह भूमिका प्रमुख है, और यह भूमिका समाजवादी संक्रमण की मंज़िल के अनुसार अलग-अलग रूप धारण कर सकती है। अगर ट्रेड यूनियनों को पूर्णत: स्वतन्त्र और स्वायत्त बनाकर जनवाद की किसी बुर्जुआ अवधारणा को हम सर्वहारा जनवाद समझ बैठते हैं, तो इसका अर्थ होगा ट्रेड यूनियनों को समस्त मज़दूर आबादी की अचेत सामूहिक स्वत:स्फूर्तता पर छोड़ देना। यह एक तरह से अपने हाथों से पहल को टटपुँजिया वर्ग के हाथों में सौंपने के समान होगा, और चूँकि टटपुँजिया वर्ग की अपनी कोई विचारधारा नहीं होती, और वह बुर्जुआ विचारधारा का ही पुच्छल तारा होता है, इसलिए इसका अर्थ असल में समूची पहल को बुर्जुआजी के हाथ में सौंपना होगा। सर्वहारा वर्ग पूँजीवाद के पूरे दौर में टटपुँजिया विचारों का बुरी तरह से शिकार होता है। किसी भी देश में क्रान्ति से पहले हिरावल पार्टी सर्वहारा वर्ग के बेहद छोटे, सबसे उन्नत और सबसे जुझारू हिस्से को ही समेट सकती है। वास्तव में, समाजवादी क्रान्ति से पहले उन्नत से उन्नत देश में ट्रेड यूनियनें तक कुल सर्वहारा आबादी के महज 15 से 30 प्रतिशत आबादी को समेट पाती हैं। रूस में तो यह आँकड़ा और भी कम था। सर्वहारा वर्ग की आबादी में ज़्यादातर आबादी ऐसी थी जो अभी पिछली पीढ़ी तक ही, या शायद कुछ समय पहले तक ही किसान थी। उसके अन्दर छोटे मालिक, दस्तकार और किसान की मानसिकता गहरे से जड़ जमाये हुए थी। **ऐसे में रूस में ट्रेड यूनियनों ने सर्वहारा आबादी के एक छोटे हिस्से को अपने में समेटा था, और पार्टी ने तो और भी छोटे हिस्से को। ऐसे में, समूची सर्वहारा आबादी की स्वत:स्फूर्तता स्वयं में सर्वहारा होगी, यह सोचना नादानी है।** आगे हम लेनिन के कुछ ज़रूरी उद्धरणों को आपके सामने पेश करेंगे। लेकिन अभी मूल चर्चा पर आते हैं।

चूँकि ट्रेड यूनियनों को स्वायत्त और स्वतन्त्र तरीके से राज्यसत्ता के काम नहीं दिये जा सकते हैं, इसलिए वे सर्वहारा अधिनायकत्व को लागू करने की प्रमुख उपकरण नहीं हो सकतीं। लेनिन ने ज़ोर देकर कहा कि सर्वहारा अधिनायकत्व को केवल सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी ही लागू कर सकती है (आश्चर्य है कि सुजीत दास यह दावा करते हैं कि सोवियत राजनीतिक साहित्य में कहीं ऐसा नहीं लिखा गया है, क्योंकि ऐसा बार-बार कहा गया है और स्पष्ट किया गया है कि सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी ही सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को लागू करेगी।)। मज़दूर वर्ग समूचे वर्ग के तौर पर नहीं जानता है कि शासन करने का क्या अर्थ है। यह मज़दूर वर्ग का उन्नत दस्ता जानता है, जिसने सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण और विचारधारा को लम्बे वर्ग संघर्षों में जुझारू हिस्सेदारी करते हुए नि:सृत और आत्मसात किया है। और लेनिन आगे किसी भी भ्रम की सम्भावना को ख़त्म करते हुए कहते हैं कि पार्टी की यह नेतृत्वकारी भूमिका केवल "विचारधारात्मक मार्गदर्शक" की नहीं होगी, जैसा कि सुजीत दास समझते हैं। ऐसा सोचना पार्टी को प्रवचन देने वाले बुद्धिजीवियों का

गिरोह बना देगा, जिसकी आँखों के सामने और प्रवचनों के दौरान सर्वहारा सत्ता विखण्डित हो जायेगी। इसीलिए लेनिन ने कहा कि पार्टी को प्रबन्धन, शासन और उत्पादन के कार्यों में 'उदाहरण पेश करके नेतृत्व देना होगा'; **उन्होंने स्पष्ट कहा कि पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांस्कृतिक ही नहीं होगी, बल्कि यह आर्थिक प्रबन्धन, तकनीकी कार्यों और उत्पादन सम्बन्धी अन्य सभी कार्यों में 'संस्थाबद्ध नेतृत्व' के रूप में सामने आयेगी।** और यही कारण था कि लेनिन के जीवन काल में ही सोवियत संघ में सरकार की भूमिका को **सोवनार्कोम (जन कमिसार परिषद)** निभाने लगी, जिसके सदस्यों को मुख्य तौर पर पार्टी नियुक्त करती थी; यही कारण था कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के कार्यों को पहले **सोवियतों की केन्द्रीय कार्यकारी परिषद (वी.टी.एस.आई.के.)** के हाथों में सौंपा और फिर उसके अधिकांश कार्यों को सोवनार्कोम के हाथों में। यह प्रक्रिया 1918 का अन्त होते-होते पूरी हो चुकी थी। अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन का काम पूरी तरह से **सर्वोच्च आर्थिक परिषद (वेसेंखा)** के हाथों में केन्द्रित हो चुका था, जिसके कार्यों को अंजाम देने में ट्रेड यूनियनों का सहकार होता था। लेकिन सुजीत दास के पूरे लेख को पढ़ने के बाद हम उनसे यह उम्मीद नहीं कर सकते हैं कि वह अपने पाठकों को इस पूरी तस्वीर और इसके पीछे की राजनीतिक समझदारी से अवगत कराएँ। इसका कारण यह है कि पहले खुद इस तस्वीर से अवगत होना ज़रूरी है!

ख़ैर, आगे बढ़ते हैं। लेनिन ने इन भटकावों के बरक्स अपनी वैकल्पिक समझदारी पेश की और वह समझदारी आज भी प्रासंगिक है। इस वैकल्पिक तस्वीर में ट्रेड यूनियनें मज़दूर वर्ग और मज़दूर वर्ग के उन्नत दस्ते के बीच की कड़ी हैं। पार्टी के सक्रिय और संस्थाबद्ध नेतृत्व के तहत वे सर्वहारा अधिनायकत्व के कार्यभारों को पूरा करती हैं, लेकिन सरकार के कार्य ट्रेड यूनियनों को नहीं सौंपे जा सकते हैं, और इसके लिए एक विशेष संस्था, यानी कि सोवियतों की ज़रूरत होगी। इसका कारण यह है कि सोवियतें सिर्फ़ मज़दूर वर्ग के जनसमुदायों को नहीं समेटती हैं, बल्कि समूचे मेहनतकश जनसमुदायों को समेटती हैं। **लेकिन सोवियतें भी यह कार्य पार्टी के संस्थागत नेतृत्व के तहत ही कर सकती हैं।** 1917 से 1919 तक के दो वर्षों के सोवियतों के शासन के अनुभव का समाहार करते हुए लेनिन ने इण्टरनेशनल में कहा कि 'राज्य और क्रान्ति' की थीसिस में परिवर्तन की ज़रूरत है; पेरिस कम्यून मॉडल तुरन्त लागू नहीं किया जा सकता है। लेनिन ने बताया कि रूस में पार्टी ने दो वर्षों के सोवियतों के शासन का समाहार करते हुए पाया है कि सोवियतों को स्वायत्त रूप से शासन के कार्य आने वाले लम्बे समय तक नहीं सौंपे जा सकते हैं। यह काम पार्टी के ज़रिये ही हो सकता है और पार्टी को लम्बे समय तक सोवियतों के भीतर सर्वहारा विचारधारा के वर्चस्व को कायम करने और बुर्जुआ विचारधारा के वर्चस्व को निर्णायक तौर पर तोड़ने के लिए राजनीतिक कार्य करना होगा। इस पार्टी कार्य की सफलता या असफलता पर ही यह निर्भर करेगा कि सोवियतें मेहनतकश जनता की सच्ची सत्ता की संस्था के रूप में सर्वहारा अधिनायकत्व के शासनात्मक कार्यों को अंजाम देने की स्थिति में कब पहुँचती हैं। इसलिए सुजीत दास को सोवियतों को तत्काल सत्ता देने और ट्रेड यूनियनों को तत्काल उत्पादन व्यवस्था का नियन्त्रण देने की अपनी सोच के बारे में पुनर्विचार करना चाहिए। वे इसके लिए 'राज्य और क्रान्ति' और एंगेल्स के 'अराज्य' वाले उद्धरणों पर काफ़ी ज़ोर देते हैं। लेकिन वह यह नहीं समझ पाते कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की पूरी प्रणाली के बारे में क्रान्ति और

क्रान्तिकारी सर्वहारा सत्ता के अनुभवों के बग़ैर सामान्य दूरगामी लक्ष्यों के अनुसार कुछ आधे-अधूरे प्रेक्षण ही किये जा सकते थे। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि लेनिन ने इस बारे में अपनी थीसिस को दुरुस्त कर लिया और यह लेनिन की अद्वितीय प्रतिभा का ही द्योतक था कि कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल में उन्होंने इस सैद्धान्तिक परिवर्तन के बारे में बताया। **लेनिन ने बताया कि समाजवादी संक्रमण के दौरान यदि ट्रेड यूनियन का काम सर्वहारा वर्ग और सर्वहारा वर्ग के उन्नत दस्ते, यानी पार्टी, के बीच कड़ी का काम करना है, तो सोवियतों का काम है सर्वहारा अधिनायकत्व को तृणमूल धरातल तक ले जाना।** यानी कि सोवियतों का कार्य है सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को समूची मेहनतकश जनता के जनसमुदायों तक ले जाना। लेकिन सोवियतें यह कार्य पार्टी के सक्रिय और संस्थागत नेतृत्व के तहत ही कर सकती हैं।

यहाँ ग़ौर करने की बात यह है कि लेनिन ट्रेड यूनियनों और सोवियतों को कोई *आद्यरूपीय (आर्किटाइपल)* संगठन नहीं मानते थे जो एक बार बन जाने के बाद तय भूमिकाओं को निभाते चले जाते हैं। वह इन निकायों को निरन्तर बेहद तीव्र और जटिल वर्ग संघर्ष का मंच मानते हैं। समाजवादी संक्रमण के दौर में इन मंचों पर जारी तीखे वर्ग संघर्ष को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के तहत संचालित करना होगा। और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण पार्टी है। सुजीत दास की आलोचना के ठीक विपरीत यह दावा किया जा सकता है कि पार्टी अपनी नेतृत्वकारी भूमिका को स्तालिन काल में उस तरीके से नहीं निभा पायी जिस तरीके से उसे निभाया जाना था। इसके पीछे कौन-से कारक थे, इसके बारे में हम आगे चर्चा करेंगे, जब हम स्तालिन के तहत बोल्शेविक पार्टी का एक आलोचनात्मक मूल्यांकन रखेंगे। **लेकिन इतना तय है कि सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की सोवियतों और ट्रेड यूनियनों को लेकर जो अवधारणा है वह इन निकायों का एक ग़ैर-द्वन्द्वात्मक आदर्शीकरण करती है।** सुजीत दास के लेख में वास्तव में मार्क्सवादी दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र और सिद्धान्त की सभी श्रेणियों का यही हश्र होता है—मूर्खतापूर्ण आदर्शीकरण। मिसाल के तौर पर, हमने अलगाव के प्रश्न, मज़दूर नियन्त्रण के प्रश्न और ट्रेड यूनियन व सोवियतों के प्रश्न को अभी तक पाठकों के समक्ष रखा है। सुजीत दास की यह समझदारी है कि अगर सोवियत सत्ता तत्काल कोई कानून या आज्ञप्ति पास करके तत्काल सारी शासन-सत्ता सोवियतों को और समस्त उत्पादन तन्त्र का नियन्त्रण ट्रेड यूनियनों को सौंप देती तो प्रत्यक्ष उत्पादक का उत्पादन के साधनों से अलगाव दूर हो जाता। यहाँ पर श्री दास हरेक चीज़ का अहमकाना ढंग से आदर्शीकरण कर रहे हैं। मार्क्सवाद हर परिघटना और उसके सारतत्व का अध्ययन उसकी गति में करता है। यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का मूल सिद्धान्त है।

लेकिन 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के इस लेख को उठाते ही आप स्थैतिक श्रेणियों के ढेर में जा गिरते हैं और फिर श्री दास आपके गिरते ही अपनी नसीहत शुरू कर देते हैं कि किस श्रेणी के साथ क्या करना है; ट्रेड यूनियन के साथ क्या करना है, सोवियतों के साथ क्या करना है, वगैरह। बस पार्टी के साथ क्या करना है यह वह नहीं बताते! इसका कारण यह है कि उनके सरीखे विसर्जनवादी पार्टी की ज़रूरत को ही नहीं समझ पाते हैं। इसे एक दूसरे रूपके से ज़्यादा बेहतर तरीके से समझा जा सकता है। ***सुजीत दास के ब्लॉक वाले खिलौने के सेट में ट्रेड यूनियन और सोवियत आदि के ब्लॉक तो हैं, और***

वह खिलौने के डिब्बे पर दिये हुए मैनुअल (जिसे कि हॉर्नर, गॉर्टर, मात्तिक, रूले, कोर्श, श्ल्याप्निकोव, आदि जैसे लोगों ने लिखा है!) में पढ़-पढ़कर सही ब्लॉक को सही जगह पर लगाना शुरू कर देते हैं, लेकिन अन्त में जो बनता है वह किसी म्युनिसिपैलिटी के कूड़ेदान जैसी आकारहीन, आकृतिहीन संरचना होती है। इसका कारण यह है कि उनके ब्लॉक के डिब्बे में पार्टी वाला ब्लॉक ग़ायब है। ख़ैर, जब सुजीत दास सारे ब्लॉक जोड़कर यह आकारहीन, आकृतिहीन संरचना बना लेते हैं तो हम उनसे पूछते हैं यह क्या बना है? तो हमें किलकारियों के साथ बताया जाता है कि यह मज़दूर जनवाद है! सुजीत दास के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और अराजकतावाद के लिए इससे उपयुक्त रूपक हमें नहीं मिला।

ख़ैर, लेनिन यह स्पष्ट तौर पर समझते थे कि सर्वहारा अधिनायकत्व की संरचना कोई ब्लॉकों का सेट नहीं है, जिसे एक बार सही ढंग से जोड़कर अलगाव की समस्या का हल किया जा सकता है और सीधे कम्युनिज़्म में संक्रमण किया जा सकता है। लेनिन इस पूरी प्रक्रिया की जटिलता, सतत् तरलता को पूरी तरह समझते थे क्योंकि वह इसे लगातार जारी वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया के तौर पर देखते थे, जिसमें सर्वहारा वर्ग की विजय सुनिश्चित करने के लिए जहाँ एक ओर सर्वहारा अधिनायकत्व को कायम रखना सबसे बड़ी चुनौती थी, तो वहीं समाज में हर मोर्चे पर बुर्जुआ विचारधारा के वर्चस्व को निर्णायक तौर पर तोड़ना भी पार्टी के समक्ष राजनीतिक कार्य और विचारधारात्मक प्रचार का एक दीर्घकालिक कार्यक्रम को रखता था।

लेनिन ने कहा कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का प्राथमिक और प्रधान उपकरण सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी है और वर्ग अपनी हिरावल पार्टी के ज़रिये ही शासन करता है। पूरे समाजवादी संक्रमण के दौरान पार्टी ही सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रमुख उपकरण बनी रहेगी, और अगर यह क्रान्ति रूस जैसे पिछड़े पूँजीवादी समाज में हुई है तब तो यह अवधि और भी ज़्यादा लम्बी होगी। इस लम्बी अवधि के दौरान सोवियतों को शासन की ज़िम्मेदारी पार्टी धीरे-धीरे स्वायत्त तौर पर सौंपेगी। इस पूरे दौर में पार्टी सोवियतों में जारी वर्ग संघर्ष में सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के वर्चस्व को स्थापित करेगी और बुर्जुआ विचारों के वर्चस्व को निर्णायक तौर पर ध्वस्त करेगी। जिस हद तक कम्युनिस्ट विचारधारा सोवियतों में संगठित मेहनतकश आबादी के लिए प्राधिकार बनती जायेगी, उस हद तक पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व की भूमिका कम होती जायेगी, जिसे सुजीत दास "हस्तक्षेप" कहते हैं। मज़दूर वर्ग के जनवाद को किसी कानून और निर्णय को पास करके नहीं लागू किया जा सकता है। यह पूरे वर्ग के राजनीतिक तौर पर एक वर्ग के रूप में संगठित होने, उसके द्वारा क्रान्तिकारी सर्वहारा अवस्थिति को अपनाने पर निर्भर करता है, और यह सारी चीज़ें वर्ग संघर्ष का मसला हैं, पार्टी द्वारा पास किये जाने वाले प्रस्तावों और निर्णयों का नहीं। **इसीलिए लेनिन ने कहा कि अगर सोवियतों को पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व के बिना आर्थिक नियोजन और शासन-सम्बन्धी निर्णय लेने की ज़िम्मेदारी दे दी गयी तो जनता की सोवियतों के बुर्जुआ सोवियतों में तब्दील होने में ज़्यादा वक्त नहीं लगेगा।** बुर्जुआ वर्ग मेहनतकश जनता के बीच मौजूद अपने विचारधारात्मक प्रभाव के बूते अपने पक्ष में राय तैयार करने में सफल हो जायेगा। और इसके लिए बुर्जुआज़ी को किसी पार्टी की आवश्यकता नहीं है। इसका कारण यह है कि बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा, मूल्यों-मान्यताओं, आदतों और यहाँ तक कि चार हज़ार वर्षों के समूचे वर्ग

समाज के इतिहास में पैदा हुई आदतों, मूल्यों और मान्यताओं का असर लम्बे समय तक समाजवादी संक्रमण के दौरान जनता के मस्तिष्क पर बना रहता है। क्रान्ति हो जाने के बाद भी जनता के बीच मौजूद इस विचारधारात्मक प्रभाव का बुर्जुआज़ी को फायदा मिलता है और उसके आवाहनों की अनुगूँज जन-मनोविज्ञान में तत्काल ही और आसानी से सुनायी पड़ती है। इसलिए विचारधारात्मक वर्ग संघर्ष में अभी भी सर्वहारा वर्ग का पलड़ा हल्का होता है और बुर्जुआजी का पलड़ा भारी। इस स्थिति को एक ही सूरत में बदला जा सकता है, और वह है सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व को बुर्जुआज़ी पर लागू करके और अधिरचना के धरातल पर सतत् क्रान्ति करके। और इस ऐतिहासिक कार्यभार को पूरा करने का काम समूचा सर्वहारा वर्ग एक साथ नहीं करता, बल्कि अपने उन्नत तत्वों के दस्ते के ज़रिये करता है। और यही कारण है कि जब तक यह कार्यभार पूरा नहीं हो जाता, यानी कि बुर्जुआ विचारधारा के वर्चस्व को निर्णायक तौर पर ध्वस्त नहीं कर दिया जाता, तब तक सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को लागू करने में पार्टी को संस्थाबद्ध नेतृत्व की भूमिका निभानी ही होगी। **मेहनतकश जनता की स्वतःस्फूर्तता सर्वहारा होती, तो फिर इतिहास में क्रान्ति के पहले या क्रान्ति के बाद भी पार्टी की ज़रूरत ही क्यों होती?** लेनिन ने लगातार इस स्वतःस्फूर्ततवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष किया जिसकी छूत 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' जैसे सभी अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों को लगी होती है।

इसीलिए लेनिन की अवस्थिति यह थी कि मेहनतकश जनसमुदायों को अधिक से अधिक राजनीतिक तौर पर सचेत बनाना कम्युनिस्ट पार्टी के तत्वों द्वारा सतत्, अविरत राजनीतिक कार्य की माँग करता है और हर जगह यह माँग करता है, चाहे वे सोवियतें हों या ट्रेड यूनियनें। और यह राजनीतिक कार्य केवल प्रचार का रूप नहीं लेता बल्कि ठोस कार्यों में नेतृत्व का रूप लेता है। सर्वहारा अधिनायकत्व को इस तरीके से ही लागू किया जा सकता है। एक लम्बे कालखण्ड में जब कई सांस्कृतिक क्रान्तियों और समाजवादी शिक्षा आन्दोलनों के ज़रिये पार्टी इस वर्ग संघर्ष को सचेतन तौर पर सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में चलाती है, और साथ ही उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण और उत्पादक शक्तियों के तीव्र विकास के काम को जारी रखती है, केवल तभी बुर्जुआ वर्ग के विचारधारात्मक वर्चस्व को निर्णायक तौर पर तोड़ा जा सकता है, केवल तभी उत्पादक वर्ग के उत्पादन के साधनों से अलगाव, और साथ ही आम तौर पर उसके अलगाव का क्रमिक प्रक्रिया में विलोपन (एलिमिनेशन) हो सकता है। अलगाव का किसी निर्णय या कानून के ज़रिये नाश या अन्त (एबॉलिशन) नहीं किया जा सकता है, जैसा कि सुजीत दास सोचते हैं।

सुजीत दास का यह सोचना भी उनके भ्रम को दिखलाता है कि सोवियतों और ट्रेड यूनियनों के "निष्क्रिय" होने के कारण मज़दूर वर्ग के अपने सत्ता के केन्द्र और राजनीतिक शक्ति के केन्द्र समाप्त हो गये, उनके अपने वर्ग संगठन समाप्त हो गये। **सुजीत दास के वर्ग संगठन, वर्ग के राजनीतिक शक्ति केन्द्र, वर्ग के सत्ता के केन्द्र में पार्टी कहीं भी नहीं आती। सुजीत दास के लिए सर्वहारा वर्ग के शुद्ध मंच या संस्थाएँ सोवियतें और ट्रेड यूनियनें हैं; पार्टी तो ऊपर से थोपी गयी एक परायी चीज़ है!** इससे पता चलता है कि सुजीत दास पार्टी की लेनिनवादी अवधारणा के बारे में क्या समझदारी रखते हैं। वास्तव में, सुजीत दास यहाँ वही ग़लती कर रहे हैं जो एक समय में रूसी पार्टी में एक्सेलरोद ने की थी, जब उन्होंने मज़दूर कांग्रेस के रूप में मज़दूर वर्ग के 'जनराजनीतिक केन्द्र' के निर्माण की बात

की थी। **इसका लेनिन ने पुरज़ोर विरोध करते हुए कहा था कि मज़दूर वर्ग का राजनीतिक केन्द्र केवल पार्टी ही हो सकती है, और उसका चरित्र कभी जनसंगठन जैसा नहीं हो सकता है।** अगर ऐसा कोई भी संगठन बनाया जाता है तो वह पार्टी की सौत में तब्दील हो जायेगा। वास्तव में, 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' इसी सोच पर खड़ा है–यानी कि जनराजनीतिक केन्द्र की सोच पर। लेकिन अभी हम उनकी आम राजनीतिक अवस्थिति पर नहीं लिखेंगे, यह काम कभी भविष्य के लिए सुरक्षित रखते हैं। लेकिन अभी इतना समझ लेना पर्याप्त है कि वर्ग के कमज़ोर, विसंगठित हो जाने के पीछे सुजीत दास जो भी तर्क दे रहे हैं, उसके आधार में वही विसर्जनवादी सोच मौजूद है जो कि एक्सेलरोद की थी। जहाँ तक वर्ग के राजनीतिक केन्द्र की बात है, तो वह हिरावल पार्टी ही हो सकती है, सोवियतें या ट्रेड यूनियनें नहीं। दूसरी बात, ट्रेड यूनियनें वर्ग की व्यापक आबादी को समटने वाले जनसंगठन हैं, जबकि पार्टी वर्ग के उन्नत तत्वों को आत्मसात करने वाला संगठन है। दोनों ही सर्वहारा वर्ग के विशिष्ट किस्म के संगठन हैं, और दोनों की ही भूमिकाएँ अलग और विशिष्ट हैं। **यह कहना कि ट्रेड यूनियनें वर्ग का संगठन हैं, और पार्टी नहीं, एक मूर्खतापूर्ण बात है जो न तो ट्रेड यूनियन की ही भूमिका को समझती है और न ही पार्टी की।**

अभी तक की हमारी अवस्थिति का एक सार-संक्षेप करके आगे बढ़ना उपयोगी होगा। हमारा मानना है कि **सर्वहारा अधिनायकत्व की शुरुआती मंज़िलों में सोवियतों और ट्रेड यूनियनों की पूर्ण स्वतन्त्रता की बात करना या उन्हें सर्वहारा सत्ता का शुद्ध उपकरण मानना सम्भव नहीं है। ये निकाय सर्वहारा सत्ता का उपकरण केवल पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व के तहत ही बन सकते हैं।** इस पूरे दौर में लेनिन के शब्दों में सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी मशीनरी की तुलना दन्तचक्रों और संरचरण पट्टियों के एक जटिल ताने-बाने से की जा सकती है, जो कि पार्टी से मेहनतकश जनसमुदाय तक जाती हैं। सर्वहारा वर्ग का राजनीतिक केन्द्र और सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण पार्टी है, और पार्टी के नेतृत्व में ही सोवियतें और ट्रेड यूनियनें इस मशीनरी में कोई भूमिका निभाती हैं। इस पूरे संक्रमण के शुरू होते ही अगर कोई पार्टी की भूमिका को कम या कमज़ोर करने की बात करता है, तो वह अराजकतावाद, विसर्जनवाद, संघाधिपत्यवाद और "वामपन्थी" बचकानेपन के पक्ष में खड़ा है, मार्क्सवाद के पक्ष में नहीं। शुरुआती लम्बे दौर तक 'अराज्य' का पहलू मज़बूत नहीं होता और न ही पार्टी की भूमिका कमज़ोर होती है, जैसा कि लेनिन और एंगेल्स के 'अराज्य' वाले उद्धरण को सन्दर्भ से काटकर सुजीत दास सिद्ध करना चाहते हैं। वह यह भी नहीं बताते कि इस समझदारी को लेनिन ने सोवियत सत्ता के दो वर्षों के अनुभव के बाद संशोधित और उन्नत बनाया। लेनिन ने स्पष्ट किया कि सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना के बाद एक लम्बे ऐतिहासिक कालखण्ड में सर्वहारा वर्ग के राज्य में 'अराज्य' का पहलू हावी नहीं होता, बल्कि सर्वहारा राज्य और ज़्यादा मज़बूत बनाया जाता है और पार्टी के नेतृत्व में सर्वहारा विचारधारा के वर्चस्व को और ज़्यादा मज़बूत बनाया जाता है। **जब तक बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा के समाज में वर्चस्व को निर्णायक तौर पर ध्वस्त नहीं किया जाता, जब तक जनता की स्वतःस्फूर्त चेतना और पहलकदमी का सर्वहाराकरण एक मुकम्मिल मंज़िल तक नहीं पहुँचता, तब तक पार्टी और राज्य की भूमिका कम या कमज़ोर नहीं होती, बल्कि बढ़ती और मज़बूत होती है।** जिस हद तक यह सर्वहाराकरण उन्नत होता है, उसी हद तक पार्टी और राज्य की भूमिका कम हो सकती है। इसके अलावा किसी भी चीज़ की कल्पना करना

"वामपन्थी" कल्पनालोक में विचरण करना है।

ग) पार्टी का प्रश्न और सर्वहारा अधिनायकत्व की मशीनरी में उसकी भूमिका

यहीं पर यह सवाल भी आता है कि क्या पार्टी अचूक और अमोघ होती है, जैसा कि ट्रॉट्स्की का मानना था? क्या पार्टी भ्रष्ट होकर पूँजीवादी पथगामी नहीं बन सकती? बिल्कुल बन सकती है और लेनिन ने इसके बारे में भी कुछ ज़रूरी बातें कहीं हैं, और माओ ने उन सिरों को पकड़कर आगे एक सांगोपांग सिद्धान्त के रूप में विकसित किया है। लेकिन उस पर हम आगे आएँगे। पहले यह सवाल की पार्टी की समाजवादी संक्रमण में ऐसी भूमिका क्यों होती है?

यह समझने के लिए **विचारधारा की भूमिका** को समझना ज़रूरी है, जिसे सुजीत दास "चेतना" का नाम देते हैं और उसे दैवीय रूप से प्रदत्त कोई चीज़ समझते हैं। लेनिन ने पूछा कि पार्टी क्या है? और इसका जवाब उन्होंने इस प्रकार दिया: पार्टी सर्वहारा वर्ग के विश्व-दृष्टिकोण और विचारधारा का मूर्त रूप है; पार्टी सर्वहारा वर्ग का अगुआ दस्ता है। इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि पार्टी ने सर्वहारा वर्ग के सबसे उन्नत और जुझारू तत्वों को आत्मसात किया है। वर्ग और वर्ग के उन्नत हिस्से के बीच के फर्क को सुजीत दास समझ नहीं पाते हैं। सर्वहारा वर्ग के उन्नत दस्ते और सर्वहारा वर्ग के व्यापक जनसमुदाय तथा पूरे सर्वहारा वर्ग और व्यापक मेहनतकश जनता के जनसमुदायों के बीच एक अन्तर मौजूद रहता है। यह अन्तर भी किसी कानून या आज्ञप्ति से नहीं ख़त्म हो सकता, बल्कि उत्पादन सम्बन्धों के सतत् क्रान्तिकारी रूपान्तरण (यानी कि तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं को मिटाने) और उत्पादक शक्तियों के द्रुत विकास के साथ ही ख़त्म हो सकता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह पूरी प्रक्रिया भी अविरत वर्ग संघर्ष और राजनीतिक-विचारधारात्मक संघर्ष की प्रक्रिया होती है। सोवियतों, ट्रेड यूनियनों, कम्यूनों या क्रान्तिकारी कमेटियों में जारी वर्ग संघर्ष पर सर्वहारा विचारधारा के वर्चस्व को स्थापित करने का उपकरण पार्टी ही हो सकती है। इन सभी निकायों में पार्टी के राजनीतिक और आर्थिक कार्यभार और कुछ नहीं बल्कि क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू करना है। सोवियतें या कम्यून जनता की क्रान्तिकारी ऊर्जा के फलस्वरूप अस्तित्व में आये निकाय थे और उनका चरित्र विचारधारात्मक तौर पर क्षणभंगुर और अस्थिर होता है। **इसलिए सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के लिए एक सचेतन, विशिष्ट रूप से सर्वहारा विचारधारात्मक और राजनीतिक संरचना की ज़रूरत होती है। यही भूमिका पार्टी अदा करती है। पार्टी की इस भूमिका को नकारना वास्तव में पार्टी की ज़रूरत को नकारना है।** इसका अर्थ होगा जनता की स्वत:स्फूर्तता की अनालोचनात्मक पूजा या अन्धभक्ति (फेटिश), लोकरंजकतावाद, मज़दूरवाद और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद। वास्तव में, ऐसी बात करने वाले सभी लोग यह समझते हैं कि क्रान्ति के अगले दिन से ही पेरिस कम्यून मॉडल लागू किया जा सकता है, या कम्युनिज़्म में सीधे छलाँग लगायी जा सकती है। अगर ऐसा सम्भव होता तो न तो समाजवादी संक्रमण की दीर्घकालिक अवधि की, और न ही इस अवधि में पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व की अनिवार्यता की बात लेनिन, स्तालिन और माओ ने की होती। **पार्टी सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रमुख**

और प्राथमिक उपकरण होती है और सर्वहारा वर्ग अपने हिरावल के ज़रिये अपना अधिनायकत्व लागू करता है और शासन करता है; इसका अर्थ यह नहीं है कि सर्वहारा वर्ग नहीं बल्कि पार्टी शासन कर रही है। इसको समझने के लिए यह समझना ज़रूरी है कि समाजवादी संक्रमण के दौर में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में आम मेहनतकश जनता का शासन वास्तविक होता है, लेकिन निरपेक्ष नहीं। यह सापेक्षिक होता है, और इसके भीतर अन्तरविरोध मौजूद होते हैं। यह शासन सर्वप्रथम पार्टी और राज्य द्वारा *मीडियेट* होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह पार्टी का शासन है। इसका अर्थ सिर्फ़ इतना होता है कि वर्ग अपने शासन को अपने हिरावल के नेतृत्व में ही लागू करता है। वास्तव में इसके अलावा और कुछ हो भी नहीं सकता है। यह संघाधिपत्यवादी रुझान है जो कि पार्टी के नेतृत्व और वर्ग की तानाशाही के बीच की एकता को नहीं देख पाता है। लेनिन ने कहा था, **"पार्टी हिरावल को आत्मसात करती है और यह हिरावल सर्वहारा तानाशाही को लागू करता है।"** यह एक शानदार उद्धरण है जो पार्टी और वर्ग के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। स्तालिन ने एक जगह लिखा कि सोवियतें और ट्रेड यूनियनें पार्टी के नेतृत्व के तहत निर्णय लेंगी। स्तालिन ने कुछ यूँ लिखा है मानो वह सुजीत दास जैसे लोगों को ही जवाब दे रहे हैं। स्तालिन कहते हैं कि दिखने में ऐसा लग सकता है कि पार्टी की तानाशाही लागू हो गयी है। लेकिन यह सिर्फ़ आभासी यथार्थ है। स्तालिन चेतावनी देते हैं कि पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को एक ही चीज़ नहीं समझ लिया जाना चाहिए। पार्टी अपने नेतृत्व को स्थापित करने और उसे लागू करने में सर्वहारा वर्ग को नेतृत्व देती है। स्तालिन कहते हैं कि अगर पार्टी जनता के साथ एक जीवन्त रिश्ता कायम रखती है, तो एक सही लाइन पर बने रहते हुए वह इस काम को अंजाम दे सकती है। माओ ने भी इसी बात को दुहराया है। वे कहते हैं कि सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रमुख और प्रधान उपकरण पार्टी है और यह बात समाजवाद के समूचे संक्रमणकाल पर लागू होती है।

संक्षेप में हम कहना चाहेंगे कि पेरिस कम्यून मॉडल क्रान्ति के अगले दिन से लागू नहीं किया जा सकता है। जिस रूप में सुजीत दास ने सोवितयों, ट्रेड यूनियनों आदि की भूमिका को देखा है, वह लेनिनवादी तरीका नहीं है। उनका यह कहना भी सटीक नहीं है कि 1930 के दशक में सोवियतों और ट्रेड यूनियनों की कोई भूमिका नहीं रह गयी थी। यह ज़रूर है कि ट्रेड यूनियनों और सोवियतों में वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया का जीवन्त राजनीतिक रूप में संचालन करने में इस दौर में बोल्शेविक पार्टी असफल रही। नतीजतन, सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के वर्चस्व को इन निकायों में स्थापित नहीं किया जा सका। ज़ाहिर है, कि अगर ऐसा होगा तो पार्टी भी अपना समुचित राजनीतिक विकास सर्वहारा तरीके से नहीं कर पायेगी। राज्य और पार्टी दोनों में ही सोवियतों और ट्रेड यूनियनों में जनसमुदायों से सही रिश्ता कायम न कर पाने के कारण नौकरशाहाना विकृतियों और बुर्जुआ विरूपताओं का विकास होगा। लेकिन ऐसा नहीं है कि पार्टी ने स्तालिन के नेतृत्व में ट्रेड यूनियनों और सोवियतों को इरादतन अपना गुलाम बना दिया था।

ऐसा क्यों हुआ इसके कारणों पर हम आगे विस्तृत चर्चा करेंगे। लेकिन स्तालिन काल की ग़लतियों और समस्याओं के बारे में सुजीत दास की तरह कोई सरलीकृत व्याख्या हमारे पास नहीं है। यह कह देना कि वर्ग की तानाशाही की जगह पार्टी की तानाशाही ने ले ली थी, व्यर्थ और नुकसानदेह है। क्योंकि फिर सुजीत दास के सामने ढेर सारे असुविधाजनक प्रश्न

खड़े हो जाते हैं, जैसे कि पार्टी का चरित्र क्या था, वगैरह। संक्षेप में वही सवाल जो प्रतिस्थापनवाद आदि का आरोप लगाने वाले सारे बचकाने "वामपंथियों" और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के सामने खड़े हो जाते हैं। और यही सवाल उनके सामने अलगाव आदि के मुद्दे पर भी खड़े हो जाते हैं। मिसाल के तौर पर, सुजीत दास ने बार-बार अपने लेख में एक निहायत मूर्खतापूर्ण बात को दुहराया है–समाजवाद की पहचान करने का पैमाना यह है कि प्रत्यक्ष उत्पादकों के नियन्त्रण में उत्पादन के साधन हैं या नहीं! यह बुनियादी मार्क्सवादी विश्लेषण को भूलने के समान है। राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र का सवाल सबसे पहला पैमाना होता है; इसके बारे में हम पहले बात रख चुके हैं, इसलिए यहाँ दुहराने की कोई ज़रूरत नहीं है।

पहली बात तो यह है कि राज्यसत्ता किसी भी सामाजिक-आर्थिक संरचना की पहचान करने का पहला पैमाना है। दूसरी बात यह राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र की पहचान इस बात से होती है कि कौन-सी पार्टी उस पर काबिज़ है। कोई भी पार्टी ऐसी नहीं हो सकती जिसका कोई वर्ग चरित्र नहीं हो। इसलिए हमें इस प्रश्न का जवाब देना पड़ेगा कि स्तालिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी का वर्ग चरित्र क्या था? क्या वह पूँजीवादी रास्ते पर चली गयी थी? क्या वह संशोधनवादी हो चुकी थी? अगर नहीं तो सबसे पहले कदम के तौर पर आपको यह मानना होगा कि स्तालिन के तहत सोवियत राज्य एक समाजवादी राज्य था जिसकी चारित्रिक आभिलाक्षणिकता थी सर्वहारा वर्ग की तानाशाही। लेकिन सुजीत दास यहाँ शर्मनाक विरोधाभास में फँस गये हैं। और इसके लिए वह किसी और को दोष नहीं दे सकते हैं, उन्होंने स्वयं अपने साथ ऐसा किया है–पैर पर कुल्हाड़ी मारने की बजाय कुल्हाड़ी पर पैर दे मारा है! एक जगह वह कहते हैं कि स्तालिन के दौर में समाजवाद के लक्ष्य के लिए काम करने वाले क्रान्तिकारी समूह में थे और दूसरी कई जगहों पर उन्होंने लिखा है कि सर्वहारा अधिनायकत्व महज़ कागज़ों पर रह गया था। **यह किस किस्म का विश्लेषण है?** इसके बाद, सुजीत दास ने सभी प्रकार के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों को पीछे छोड़ते हुए साबित कर दिया है कि वह जितने बेहतरीन तरीके से वर्ग विश्लेषण को भूल सकते हैं, उससे तो काऊत्स्की जैसे संशोधनवादी और पॉल मात्तिक जैसे काउंसिल कम्युनिस्ट भी बगलें झाँकने लगें। सुजीत दास कहते हैं कि इन अर्थों में सोवियत राज्यसत्ता भी इतिहास की पहले की शोषक राज्यसत्ताओं के ही समान थी क्योंकि इसमें एक वर्ग से सहमति लेकर एक गिरोह राज्यसत्ता पर सवार हो गया था और फिर उसने उसी वर्ग की इच्छाओं की अवहेलना शुरू कर दी थी! अब इसका जवाब देना हमारे लिए सम्भव नहीं है, और पाठक इस तर्क प्रणाली की बेहतर समीक्षा कर सकते हैं **क्योंकि अगर कोई यह नहीं समझ पा रहा है कि इतिहास में पहली बार सोवियत संघ में बहुसंख्या ने अल्पसंख्या पर (निश्चित तौर पर अपने हिरावल के ज़रिये) तानाशाही स्थापित की थी; कि इसीलिए लेनिन, स्तालिन और माओ ने और तमाम मार्क्सवादी और ग़ैर-मार्क्सवादी अकादमिकों ने भी बोल्शेविक क्रान्ति को मानव इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात माना है; तो हम यही कह सकते हैं कि हम इस पर बहस नहीं कर सकते हैं।** **मार्क ट्वेन** का एक उद्धरण बरबस ही याद आ रहा है। एक बार उन्होंने कहा था, *"मूर्खों से कभी बहस मत करो! पहले वे तुम्हें घसीटकर अपने स्तर पर ले जाते हैं, और फिर तुम्हें अपने तजुरबे के बूते पर हरा देते हैं!"*

घ) स्तालिन के दौर की समस्याएँ और बोल्शेविक पार्टी की विचारधारात्मक ग़लतियाँ

हमारा मानना है कि तमाम समस्याओं और दिक्कतों के बावजूद स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत राज्य एक सर्वहारा राज्य था जिसकी पहचान सर्वहारा वर्ग की तानाशाही से होती है। हमारा यह मानना कतई नहीं है कि इस दौर में कोई समस्या या दिक्कत नहीं थी। उल्टे हमारा मानना है कि इस दौर में कुछ गम्भीर विचारधारात्मक भूलें हुई और इन तमाम समस्याओं पर भी एक संक्षिप्त चर्चा ज़रूरी है। सुजीत दास ने संयोग से कुछ उधार के जुमले उठाये हैं, जो कि एक सत्यांश को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे कि एक जगह वह लिखते हैं कि ख्रुश्चेव जैसे लोग एक दिन में नहीं पैदा होते। 1956 में बीसवीं पार्टी कांग्रेस में जो कुछ हुआ उसके बीज पहले से पार्टी में पड़े हुए थे। स्तालिन काल में बोल्शेविक पार्टी की असफलताएँ क्या रहीं, इस पर हम उस समय विस्तार से चर्चा करेंगे जब हम 1924 से लेकर 1953 तक के इतिहास की सकारात्मक तौर पर समीक्षा करेंगे। लेकिन अभी हम संक्षेप में कुछ बुनियादी अवधारणात्मक बातें कहना चाहेंगे।

लेनिन की मृत्यु के बाद बोल्शेविक पार्टी द्वारा समाजवादी संक्रमण के ऐतिहासिक कालखण्ड में मौजूद अन्तरविरोधों को हल करने में दो बुनियादी ग़लतियाँ रहीं। **चार्ल्स बेतेलहाइम** ने अपनी पुस्तक 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड की प्रस्तावना में इन ग़लतियों का आंशिक रूप से सही चित्रण किया है, हालाँकि बाकी किताब लिखते वक्त उन्हें क्या हो गया था, यह अभी भी एक गम्भीर शोध का विषय है! और अगर उस प्रस्तावना में भी बेतेलहाइम ने इस समस्याओं को कमोबेश ठीक ढंग से पकड़ा है, तो इसका कारण यह है कि इस प्रस्तावना में उन्होंने माओ के सांस्कृतिक क्रान्ति के सिद्धान्त का करीबी से अनुसरण करने का प्रयास किया है। लेकिन बाकी किताब वह अपने पूरे विश्लेषण को गड्ड-मड्ड कर बैठे हैं। **इसका एक कारण सम्भवतः यह था कि बेतेलहाइम माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और "वामपन्थी" कम्युनिज़्म के खेमे में जा खड़े हुए हैं।** इस पूरे शोध में हम आगे बेतेलहाइम की एक सांगोपांग आलोचना के काम को हाथ में लेंगे, क्योंकि कम-से-कम उनकी रचना 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड को कई लोग माओवादी पहुँच और पद्धति से लिखी गयी रचना मानते हैं, जबकि ऐसा नहीं है। लेकिन अभी हम मूल मुद्दे पर वापस लौटते हैं।

स्तालिन काल में बोल्शेविक पार्टी द्वारा जिन **दो प्रमुख ग़लतियों** की हम पहचान कर सकते हैं, उनमें से पहली वास्तव में बोल्शेविक पार्टी का आविष्कार या नवोन्मेष नहीं थी, बल्कि यह ग़लती यूरोप के मज़दूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट आन्दोलन में पहले से मौजूद थी और लेनिन ने काऊत्स्की की आलोचना करते हुए मूलतः इसी ग़लती पर चोट की थी। इस ग़लती के मूल में मार्क्स के **'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना में योगदान'** के एक पैराग्राफ़ की ग़लत व्याख्या मौजूद थी। मार्क्स ने अपनी उक्त रचना में एक जगह लिखा है कि सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ जिसमें सबसे प्रमुख उत्पादन की स्थितियाँ हैं, मनुष्य की चेतना का निर्माण करती हैं; किसी भी समाज में मनुष्य अपनी इच्छा से स्वतन्त्र उत्पादन में सहकार करते हुए कुछ निश्चित उत्पादन सम्बन्ध स्थापित करते हैं; इन उत्पादक सम्बन्धों का

कुल योग समाज का आर्थिक आधार होता है; हर आर्थिक आधार अपनी सेवा करने वाली अधिरचना का निर्माण करता है; उत्पादक शक्तियों का विकास जब पुराने आर्थिक आधार में अवरुद्ध होने लगता है तो क्रान्तिकारी स्थिति पैदा होती है। यह एक प्रसिद्ध उद्धरण है, जो अब तक पाठक के दिमाग़ में आ चुका होगा। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों से लेकर अकादमिकों के लेखन तक में यह मार्क्स के सबसे ज़्यादा उद्धृत किये जाने वाले कथनों में से एक है। इस कथन की तमाम लोगों ने इस तरह से व्याख्या की है कि मानो मार्क्स का यह मानना था कि आर्थिक कारक अन्य सभी चीज़ों को निर्धारित कर देते हैं; कि उत्पादक शक्तियाँ इतिहास की प्राथमिक 'प्राइम मूवर' होती हैं और जब उनका विकास दिये गये उत्पादन सम्बन्धों के ढाँचे में बाधित होने लगता है तो वे उत्पादन सम्बन्धों के उस ढाँचे को तोड़कर नये उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना कर देती हैं जो कि उनके लिए अनुकूल हों; उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच का अन्तरविरोध समाज में वर्ग संघर्ष के रूप में प्रकट होता है, जिसमें कि क्रान्तिकारी वर्ग उन्नत उत्पादन शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और शासक वर्ग पिछड़े हुए उत्पादन सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करते हैं। **यह समझदारी ग़लत नहीं है, बल्कि अधूरी है और सत्य के केवल एक पहलू को देखती है। मार्क्स के उक्त उद्धरण का यह पूर्ण अर्थ भी नहीं है। यह बात उनके कथन में अन्तर्निहित है कि उत्पादक शक्तियाँ भी तभी सही ढंग से विकसित हो सकती हैं, जब उत्पादन सम्बन्ध उनके लिए सापेक्षिक रूप से अनुकूल हों।** लेकिन इस कथन की आम तौर पर जो व्याख्या की जाती है वह इस बात को भूल जाती है कि उत्पादक शक्तियों का विकास तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसके विकास के अनुकूल उत्पादन सम्बन्ध न मौजूद हों और इसीलिए समाजवादी क्रान्ति के बाद उत्पादन सम्बन्धों के सतत् क्रान्तिकारी रूपान्तरण का पहलू प्रमुखता ग्रहण कर लेता है। यह सच है कि जब तक उत्पादक शक्तियों का विकास प्रचुरता की मंज़िल तक न हो जाये, तब तक कम्युनिज़्म की कल्पना करना व्यर्थ हैं, क्योंकि तब तक 'सभी को उनकी ज़रूरत के अनुसार और सभी से उनकी क्षमता के अनुसार' का कम्युनिस्ट सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता। लेकिन प्रचुरता की मंज़िल तक उत्पादक शक्तियों का विकास कोई एकरेखीय प्रक्रिया नहीं है। जब तक कि उत्पादन सम्बन्धों का निरन्तर और सतत् क्रान्तिकारी रूपान्तरण नहीं होगा तब तक कम्युनिज़्म की दिशा में उत्पादक शक्तियों का प्रचुरता की मंज़िल तक विकास नहीं हो सकता। उत्पादन सम्बन्धों के इस सतत् क्रान्तिकारी रूपान्तरण के बिना अगर उत्पादक शक्तियों के विकास पर एकतरफ़ा तरीके से बल दिया गया तो यह समाज में पूँजीवादी विकास को जन्म देगा और तमाम बुर्जुआ अधिकारों और असमानताओं को जन्म देगा।

निजी सम्पत्ति के उन्मूलन के साथ उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की पहली मंज़िल पूरी होती है, यानी सम्पत्ति सम्बन्धों का समाजवादी रूपान्तरण। लेकिन सम्पत्ति सम्बन्ध ही उत्पादन सम्बन्ध नहीं होते हैं। उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का अर्थ है वितरण के सम्बन्धों, पूँजीवादी श्रम विभाजन, उत्पादन प्रक्रिया और श्रम प्रक्रिया का क्रान्तिकारी रूपान्तरण। यह कैसे हो सकता है और इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि जब तक, माओ के शब्दों में, तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ, यानी कि मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम, गाँव और शहर और उद्योग और कृषि के बीच की असमानताएँ नहीं मिटतीं, तब तक पूँजीवादी श्रम विभाजन की ज़मीन मौजूद रहेगी। जब तक पूँजीवादी श्रम

विभाजन मौजूद रहेगा, तब तक विनिमय सम्बन्ध बने रहेंगे; जब तक विनिमय सम्बन्ध बने रहेंगे तब तक वस्तु का विनिमय मूल्य बना रहेगा; जब तक वस्तु का विनिमय मूल्य बना रहेगा तब तक उसका माल के रूप में अस्तित्व बना रहेगा; जब तक वस्तु का माल के रूप में अस्तित्व बना रहेगा, तब तक माल उत्पादन भी जारी रहेगा और उजरती श्रम के तत्व भी बने रहेंगे; जब तक उजरती श्रम कायम रहेगा तब तक अधिशेष के हस्तगतीकरण के तत्व भी बने रहेंगे; और जब तक हस्तगतीकरण के तत्व बरकरार रहेंगे तब तक अलगाव की परिघटना के शत्रुतापूर्ण रूप को खत्म करने के बावजूद एक आर्थिक परिघटना के तौर पर उसका अस्तित्व बना रहेगा। और यह शत्रुतापूर्ण अलगाव दोबारा पैदा हो सकता है अगर पार्टी और राज्य का चरित्र बुर्जुआ हो जाता है।

बेतेलहाइम ने ग़ैर-द्वन्द्वात्मक तरीके से इस पूरी सोच को एक दूसरे छोर पर खींच दिया है और उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को महज़ राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रचार का मसला बना दिया है। इस क्रान्तिकारी रूपान्तरण का एक दूसरा पहलू यह भी है कि अगर पूँजीवादी श्रम विभाजन को ख़त्म करना है तो राजनीतिक, सांस्कृतिक, शिक्षणात्मक और विचारधारात्मक प्रचार के अलावा लगातार उत्पादक शक्तियों का भी गुणात्मक तौर पर विकास करना पड़ेगा। **मिसाल के तौर पर, जब तक छोटे पैमाने का माल उत्पादन जारी रहेगा तब तक उसमें लगी हुई मज़दूर आबादी के बीच से पूँजीवादी श्रम विभाजन को महज़ राजनीतिक प्रचार से नहीं ख़त्म किया जा सकता है। यही कारण था कि लेनिन ने भारी उद्योग को समाजवाद की पूर्वशर्तों में से एक बताया था। सिर्फ राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रचार पूँजीवादी श्रम विभाजन को ख़त्म नहीं कर सकते हैं। ऐसा दावा करना एक हेगेलवादी प्रत्ययवादी सोच का नतीजा होगा।** मार्क्सवाद बताता है कि श्रम विभाजन भी उत्पादन के विकास की एक निश्चित मंज़िल में पैदा होता है और इसका विलोप भी उत्पादन के विकास की एक विशिष्ट मंज़िल में ही होगा। हाँ, यह ज़रूर है कि उत्पादन के विकास की यह मंज़िल केवल उत्पादक शक्तियों का विकास करके नहीं हासिल की जा सकती है। इसीलिए माओ ने सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान नारा दिया कि **"क्रान्ति पर पकड़ बनाये रखो और उत्पादन को आगे बढ़ाओ"।** यह एक सटीक द्वन्द्ववादी अवस्थिति है। इसलिए, बेतेलहाइम के जैसा "माओवाद" हमें नहीं चाहिए जो क्रमिक प्रक्रिया में हेगेलवादी प्रत्ययवाद के गड्ढे में गिर जाता है। ऐसा "माओवाद" माओ की युगान्तरकारी शिक्षाओं को माओ के विरोधियों से ज़्यादा नुकसान पहुँचाता है।

श्रम विभाजन को क्रमिक प्रक्रिया में ख़त्म करने का प्रश्न सतत् सांस्कृतिक-विचारधारात्मक संघर्ष और क्रान्ति का प्रश्न भी है, और साथ ही उत्पादक शक्तियों के विकास का प्रश्न भी है। ये दोनों हर मौके पर एक-दूसरे से अन्तर्गुंथित होते हैं। किसी क्षण पर कोई पहलू प्रधान होता है, तो किसी क्षण पर कोई पहलू। लेनिन एक एक ऐसे सर्वहारा राजनीतिज्ञ थे जो इस द्वन्द्वात्मकता को सबसे अधिक सटीकता के साथ समझते थे। इसीलिए हमें लेनिन यह कहते हुए भी मिलेंगे कि विद्युतीकरण और भारी उद्योग के बिना समाजवादी समाज और अर्थव्यवस्था की कल्पना करना व्यर्थ है और यह भी कहते हुए मिलेंगे कि समाजवादी रूपान्तरण का प्रश्न महज़ उत्पादक शक्तियों के विकास का प्रश्न नहीं बल्कि सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रश्न भी है। एक जगह लेनिन लिखते हैं कि नौकरशाही के पैदा होने का एक कारण वास्तव में सर्वहारा वर्ग के बीच उन्नत संस्कृति का अभाव भी है।

ऐसे में, सर्वहारा वर्ग की चेतना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के लिए सांस्कृतिक क्रान्तियों और समाजवादी शिक्षा तन्त्र की आवश्यकता है। अगर ऐसा न किया जाय तो समाज में वर्ग संघर्ष एक ग़लत दिशा में जायेगा और उसका प्रतिबिम्बन पार्टी में भी होगा। अगर इन दोनों पहलुओं पर द्वन्द्वात्मक ज़ोर नहीं दिया जायेगा, तो पार्टी में एक बुर्जुआज़ी पैदा होगी और उस सूरत में, बिना निजी पूँजी, बिना पारम्परिक पूँजीवादी श्रम बाज़ार और पूँजी बाज़ार के पूँजीवादी सम्बन्धों की पुनर्स्थापना हो जायेगी, और इन पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के शीर्ष पर निजी पूँजीपति वर्ग नहीं बल्कि राजकीय पूँजीपति वर्ग होगा।

यहाँ पर भी सुजीत दास एक कीन्सीय मार्क्सवादी पैराडाइम में फँसे हुए हैं, जो कि समाजवादी संक्रमण पर चली बहस में पॉल स्वीज़ी ने प्रस्तुत किया था। यह सोच पूँजी को एक सामाजिक सम्बन्ध के रूप में नहीं देखती, जैसा कि मार्क्स और लेनिन ने बताया है, बल्कि उसकी ठोस ऐतिहासिक अभिव्यक्तियों की खोज में लगी रहती है, जैसे कि श्रम बाज़ार, पूँजी बाज़ार, निजी सम्पत्ति आदि। इस पर हम आगे लिखेंगे। अभी हम बोल्शेविक पार्टी की ग़लतियों के सवाल पर लौटते हैं।

उत्पादक शक्तियों की प्रमुखता के पूरे सिद्धान्त का प्रभाव बोल्शेविक पार्टी के भीतर भी शुरू से ही मौजूद था और लेनिन ने इसके ख़िलाफ़ सतत् संघर्ष चलाया था। यही समझदारी **बुखारिन** और **प्रियोब्रेज़ेंस्की** ने "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान पेश की थी और तब भी लेनिन ने इन दोनों की रचनाओं के कुछ सकारात्मकों की चर्चा के बावजूद, इनकी मूल ग़लतियों की तरफ़ इशारा किया था। यहाँ पर यह ज़िक्र करना भी ज़रूरी है उत्पादक शक्तियों को परिभाषित करने के बारे में भी उस दौर में पार्टी की समझदारी असन्तुलित थी। उत्पादक शक्ति के अंग के तौर पर तकनोलॉजी और यंत्रों पर ज़ोर था लेकिन उसके सबसे केन्द्रीय और कुंजीभूत हिस्से पर ध्यान नहीं था, यानी कि स्वयं मनुष्य। मनुष्य उत्पादक शक्तियों का केन्द्रीय संघटक अंग होता है और यह मनुष्य ही उत्पादन सम्बन्धों में बँधा होता है। ऐसे में, उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच एक जटिल द्वन्द्वात्मकता का होना लाज़िमी है। लेकिन इस पहलू पर पार्टी की समझदारी कमज़ोर थी, और उत्पादक शक्तियों के अजैविक हिस्सों पर ज़ोर ज़्यादा था।

लेनिन की मृत्यु के बाद अर्थवाद और एक किस्म के 'उत्पादक शक्ति-वाद' के ख़िलाफ बोल्शेविक पार्टी में जारी संघर्ष एक प्रकार से थम गया। इसका प्रमुख कारण यह था कि उस समय का बोल्शेविक पार्टी का नेतृत्व स्वयं इस अर्थवाद का शिकार था। चूँकि स्तालिन और अन्य नेतृत्व भी इस अर्थवादी सोच के मामले में समान विचार रखते थे, इसलिए समाजवाद से कम्युनिज़्म की तरफ़ संक्रमण के लिए उत्पादक शक्तियों के विकास को ही प्रमुख कारक माना गया। सम्पत्ति सम्बन्धों को उत्पादन सम्बन्धों के साथ गड्ड-मड्ड कर दिया गया। इसीलिए पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्धों के हर रूप के अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र से सामूहिकीकरण के पूरे होने के साथ समाप्ति के बाद 1936 में स्तालिन ने यह घोषणा की कि सोवियत संघ में *शत्रुतापूर्ण* वर्ग नहीं हैं। क्योंकि यह मान लिया गया था कि पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्धों के रूपान्तरण के साथ पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण का कार्यभार पूरा हो चुका है, और अब मज़दूरों, किसानों और बुद्धिजीवियों को समाजवाद की तरक्की के लिए मिलकर काम करना है। यानी कि उत्पादकता और उत्पादन का विकास करते जाना है; इसी के ज़रिये प्रचुरता की मंज़िल आयेगी और इसी के ज़रिये कम्युनिस्ट समाज में

संक्रमण की पूर्वशर्तें पूरी होंगी।

ऐसा नहीं था कि बोल्शेविक पार्टी अलगाव की समस्या के ख़ात्मे के प्रति सचेत नहीं थी। लेकिन उसका मानना था कि उत्पादक शक्तियों के लगातार और द्रुत विकास के ज़रिये ही प्रचुरता की मंज़िल आयेगी और तभी 'सभी से सबकी क्षमता के अनुसार, और सभी को उनकी ज़रूरत के अनुसार' के कम्युनिस्ट सिद्धान्त को लागू किया जा पायेगा, और तभी अलगाव समाप्त होगा। **यह बोल्शेविक पार्टी की पहली बड़ी भूल थी: अर्थवाद का प्रभाव।** स्तालिन एक क्रमिक प्रक्रिया में इस कमी को समझने की तरफ़ आगे बढ़ रहे थे और उनके आख़िरी लेखनों से ऐसा लगता है, कि वह समस्या के मूल के काफ़ी करीब थे। लेकिन मानवीय जीवन की एक भौतिक-जैविक सीमा होती है। स्तालिन का पूरा दौर सोवियत संघ के लिए निहायत गम्भीर आन्तरिक समस्याओं और बाह्य दबावों का दौर था। उस दौर ने बिरले ही स्तालिन को कभी गम्भीरता से इन सवालों पर सोचने का मौका दिया हो। इसके बावजूद आनुभविक तौर पर इस अर्थवाद के परिणाम के तौर पैदा होने वाले लक्षणों पर स्तालिन हमला करते थे। मिसाल के तौर पर, स्तालिन 1924 से 1953 तक के पूरे दौर में पार्टी के भीतर जो नौकरशाही मौजूद थी उसके ख़िलाफ़ लड़ते रहे। लेकिन चूँकि वह बुनियादी समस्या के मूल तक नहीं पहुँच सके थे, इसलिए इन समस्याओं का उनका उपचार लाक्षणिक ही बना रहा, मूल तक पहुँचकर उसका निवारण नहीं कर सका। इस प्रश्न पर हम आगे और विस्तार से विचार करेंगे। लेकिन अभी फिलहाल दूसरी बुनियादी ग़लती की चर्चा पर वापस लौटते हैं।

उत्पादक शक्तियों के विकास पर गैर-द्वन्द्वात्मक ज़ोर की इसी कमी से ही **बोल्शेविक पार्टी की दूसरी बड़ी ग़लती निकलती है।** यह ग़लती थी स्तालिन और बोल्शेविक पार्टी द्वारा यह नहीं समझ पाना कि समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में भी वर्ग संघर्ष ही कुंजीभूत कड़ी और सामाजिक विकास का मूल कारक होता है। जैसा कि हमने पहले बताया, यही कारण था कि 1936 में स्तालिन ने सामूहिकीकरण के अभियान के ख़त्म होने के साथ यह एलान किया कि अब सोवियत संघ में शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं हैं; केवल मज़दूर, किसान और बुद्धिजीवी हैं, जिन्हें समाजवाद के विकास के लिए काम करना है। लेकिन अगर शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं थे, तो सोवियत संघ को एक विराट राज्य व्यवस्था के ताने-बाने की ज़रूरत क्यों थी? यह सिर्फ़ विदेशी साम्राज्यवादी षड्यन्त्रों का मुकाबला करने के लिए नहीं था। **वास्तव में, स्तालिन आनुभविक तौर पर वर्ग संघर्ष को समझ भी रहे थे, और उसमें हिस्सा भी ले रहे थे।** वह प्रतिक्रियावादियों और प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियों के ख़िलाफ़ दमन की मुहिम भी चला रहे थे (जिसकी चपेट में पार्टी में मौजूद नौकरशाही के कारण कई बार बेगुनाह भी आ गये), लेकिन अवधारणात्मक धरातल पर वर्ग संघर्ष की कुंजीभूत कड़ी को भूलने का पार्टी को भारी नुकसान उठाना पड़ा। **क्योंकि जब आप यह बात कहते हैं कि अब कोई शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं है, और आपका समूची जनता के बीच ज़बर्दस्त प्राधिकार हो, तो फिर पार्टी कतारें और जनता, दोनों ही उस क्रान्तिकारी चौकसी को खो बैठते हैं जिसकी ज़रूरत समूचे समाजवादी संक्रमण के दौरान होती है। क्योंकि समूचे समाजवादी संक्रमण के दौरान पूँजीवादी पुनर्स्थापना का ख़तरा मौजूद रहता है, जिसके कारणों की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं।** ऐसे में, ऐसी कोई भी घोषणा और वह भी मेहनतकश जनता के ऐसे निर्विवाद और प्राधिकार-सम्पन्न नेता की तरफ़ से जनता को राजनीतिक और विचारधारात्मक तौर पर नि:शस्त्र कर देती है।

ऐसे में चूँकि पार्टी का पूरा ज़ोर उत्पादक शक्तियों के तीव्रतम सम्भव विकास पर था इसलिए समाजवादी आर्थिक नियोजन को एक विशिष्ट ज़ोर के साथ लागू किया गया, और उसमें समस्याएँ थीं। और ट्रेड यूनियनों और सोवियतें निश्चित तौर पर इसके कारण राजनीतिक रूप से आंशिक तौर पर निष्क्रिय हुईं; **वे मृत या राज्य की गुलाम नहीं बनीं, बल्कि वे वर्ग संघर्ष और राजनीतिक और विचारधारात्मक संघर्ष का वैसा जीवन्त मंच नहीं रह गयीं, जैसा कि विशेष तौर पर उन्हें समाजवादी संक्रमण के दौर में होना चाहिए। यह वर्ग संघर्ष सोवियतों और ट्रेड यूनियनों में ठीक इसी कारण से नहीं चल पाया क्योंकि पार्टी अपने नेतृत्वकारी काम को उस तरीके से करने में असफल रही जिस तरीके से उसे किया जाना चाहिए था, जैसा कि लेनिन ने सुझाया था और बाद में माओ ने भी बताया। पार्टी का नेतृत्व राजनीतिक नेतृत्व से ज़्यादा आर्थिक नियोजन में नेतृत्व में तब्दील हो गया।** इससे जो दिक्कतें पैदा हो रही थीं, उनमें विशेष तौर पर राज्य और पार्टी में नौकरशाह बुर्जुआ वर्ग की गहरी होती जड़ें थीं; स्तालिन की मृत्यु के ठीक पहले भी स्तालिन ने इस नौकरशाही के ख़िलाफ़ एक तीखा संघर्ष छेड़ रखा था। लेकिन यह लाक्षणिक धरातल पर ज़्यादा था, और अवधारणात्मक धरातल पर कम। नतीजतन, पार्टी सोवियतों में और ट्रेड यूनियनों में क्रमिक प्रक्रिया में अपना राजनीतिक और विचारधारात्मक नेतृत्व खोती गयी। इस ख़ाली होती जगह को भरने का काम पार्टी के नाम पर नौकरशाही कर रही थी। इसलिए सोवियतें और ट्रेड यूनियनें बोल्शेविक पार्टी के प्रति दासवत नहीं बनीं, और न ही उनकी उपकरण बनीं; **कहना यह चाहिए कि पार्टी और सोवियतों और साथ ही पार्टी और ट्रेड यूनियनों के बीच का सम्बन्ध गतिमान रहने की बजाय स्थैतिक बन गया और पार्टी का राजनीतिक नेतृत्व उसमें कमज़ोर होता गया। राजनीतिक नेतृत्व की अनुपस्थिति की क्षतिपूर्ति नौकरशाहाना फरमानशाही से हुई, जो कि वास्तव में क्षतिपूर्ति नहीं बल्कि स्वयं एक क्षति था।**

इन कमज़ोरियों के ही चलते स्तालिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी सांस्कृतिक क्रान्ति के सिद्धान्त तक भी नहीं पहुँच सकी। इसके कारण पार्टी कभी भी अधिरचना के धरातल पर सतत् क्रान्ति के दीर्घकालिक कार्यक्रम को नहीं ले सकी; न ही पार्टी तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं को समाप्त करने में उत्पादक शक्तियों के विकास को तेज़ करने के साथ-ही-साथ सचेतन राजनीतिक और विचारधारात्मक कार्य की ज़रूरत को समझ पायी। यह मान लिया गया कि उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ जब प्रचुरता की मंज़िल आ जायेगी तो ये सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ खुद-ब-खुद मिट जायेंगी। लेकिन ऐसा न तो होना था और न ही हुआ। और ये असमानताएँ बढ़ती गयीं, जिसने समाज में नौकरशाह बुर्जुआ वर्ग और बुर्जुआ विचारधारा की पकड़ को और मज़बूत किया। **चूँकि स्तालिन मृत्यु तक इन तमाम विकृतियों, विरूपताओं और विजातीय प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ अपने सर्वहारा स्वभाव के कारण आनुभविक तरीके से संघर्ष चलाते रहे, और चूँकि पार्टी की कतारें उनके साथ खड़ी थीं, इसलिए पार्टी और राज्य में पैदा हो चुकी बुर्जुआज़ी के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह पार्टी में नेतृत्व का तख़्तापलट कर समाजवादी नीतियों का त्याग कर दे और पूँजीवादी रास्ते को अपना ले। लेकिन पार्टी में मौजूद यह नौकरशाही भी अपनी अवस्थिति बाँधकर पार्टी के भीतर बैठी रही और इन्तज़ार करती रही। स्तालिन उनके लिए एक प्रकार से आख़िरी बाधा थे। और स्तालिन की मृत्यु के साथ ही पार्टी के भीतर मौजूद पूँजीवादी पथगामियों ने अपने कुकृत्यों का ठीकरा**

स्तालिन के सिर फोड़कर, अपने द्वारा पैदा की गयी ग़ैर-जनवादी प्रवृत्तियों की ज़िम्मेदारी स्तालिन पर डालकर "लोकतान्त्रीकरण", "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व" आदि जैसी लफ्फाज़ियाँ करनी शुरू कर दीं। बीसवीं कांग्रेस में यही प्रक्रिया अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची, जब संशोधनवादियों ने अपने सारे कुकर्मों को स्तालिन के सिर मढ़कर, अपने आपको उदार और लोकतान्त्रिक प्रदर्शित किया। चूँकि सोवियतें और ट्रेड यूनियनें उस प्रकार के जीवन्त राजनीतिक निकाय नहीं रह गये थे, जिसकी कल्पना लेनिन ने की थी, इसलिए उनमें संगठित जनता, जो कुछ हो रहा था उसे जल्दी समझ नहीं पायी और इस पूरे प्रतिक्रियावादी परिवर्तन की निष्क्रिय दर्शक बनी रही। और जब तक वह समझ पाती तब तक वह प्रक्रिया इतनी आगे बढ़ चुकी थी, कि अब उसे उल्टी दिशा में नहीं मोड़ा जा सकता था।

स्तालिन के दौर बोल्शेविक पार्टी की ग़लतियों के इस आलोचनात्मक विवेचन के अन्त में पहुँचने से पहले हम दो बातों की ओर पाठकों का ध्यान खींचना चाहेंगे।

पहली बात, सोवियत संघ समाजवादी सत्ता और समाजवादी संक्रमण का पहला प्रयोग था। इसके पास कोई उदाहरण मौजूद नहीं था, जिसका वह अनुसरण करता या जिसकी ग़लतियों और सफलताओं से वह सीख पाता। बोल्शेविक पार्टी पहली बार एक ऐसा प्रयोग कर रही थी, जो कि इतिहास में पैमाने में और गुणवत्ता में अद्वितीय था। और यह प्रयोग भी वह सोवियत संघ जैसे विशाल और वैविध्यपूर्ण देश में कर रही थी। ऐसे में, सोवियत संघ ने 35 वर्षों में जो कुछ हासिल किया, मज़दूर वर्ग के जीवन को जहाँ तक पहुँचा दिया, पूरे देश को मध्ययुगीन बर्बरता से निकालकर जहाँ पहुँचा दिया, वह आज भी अचम्भित कर देता है। यह केवल किसी दमनकारी पार्टी की ज़ोर-ज़बर्दस्ती से नहीं हो सकता है, न ही उसके द्वारा किये गये सामूहिक सम्मोहन से हो सकता है। **यह मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता की रचनात्मक ऊर्जा और पहल पर ही हो सकता है। सुजीत दास का यह दावा कि मज़दूर वर्ग एक वर्ग के रूप में विसंगठित हो गया, पार्टी पर से उसका भरोसा उठ गया, उसकी कोई पहलकदमी नहीं रही, पार्टी की ज़ोर-ज़बर्दस्ती से ज़्यादा काम हुए और राजनीतिक-विचारधारात्मक प्रेरणा से कम, नेशनल जियोग्राफिक, डिस्कवरी चैनल या हिस्ट्री चैनल और रॉय मेदवेदेव और मार्क फेरो आदि जैसे लोगों द्वारा किया जाने वाला प्रचार ज़्यादा लगता है और एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी द्वारा सोवियत संघ का विश्लेषण कम।** और सोवियत संघ को अन्य शोषणकारी, दमनकारी यहाँ तक कि फासीवादी राज्य के साथ एक लाइन में गिन देना सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' जैसे राजनीतिक नौदौलतियों के अहंकारी और खोखले चिन्तन के वर्ग चरित्र को काफ़ी हद तक साफ़ कर देता है।

एक अन्य कारक भी है जिसकी ओर ज़रूर ध्यान दिया जाना चाहिए और वह यह है कि स्तालिन के पूरे जीवनकाल में सोवियत संघ कभी भी आन्तरिक संकटों और बाह्य दबावों से मुक्त नहीं था, जैसा कि सुजीत दास मानते हैं। यह उनकी कल्पना है कि 1930 के दशक में ऐसे दबाव काम नहीं कर रहे थे, क्योंकि उन्हें सोवियत संघ में समाजवाद के इतिहास का कोई ऐसा कालखण्ड चुनना था जिसमें कि लेनिन न हों, और स्तालिन काल में हुए "अतिरेकों" के ज़रिये मूल लेनिनवादी उसूलों पर ही हमला बोला जा सके। इस पूरे दौर में कौन-से दबाव काम कर रहे थे, उनका हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं। एक बात स्पष्ट है कि स्तालिन काल में हुई ग़लतियों को अलग से नहीं समझा जा सकता है। उन्हें देश-काल के

पूरे सन्दर्भ में रखकर ही देखा जा सकता है। और जब हम ऐसा करते हैं, तो तमाम सीमाओं और ग़लतियों के बावजूद स्तालिन की महानता समझ में आती है।

इसलिए हमारा मानना है कि स्तालिन काल और विशेष तौर पर 1930 में हुई जिन-जिन चीज़ों के लिए स्तालिन और बोल्शेविक पार्टी की आलोचना सुजीत दास ने अपने लेख में की है, ठीक उन्हीं चीज़ों के लिए स्तालिन की प्रशंसा की जानी चाहिए और माना जाना चाहिए कि इस मामले में स्तालिन लेनिन की विरासत के सच्चे वाहक थे। वास्तव में, जो वास्तविक कमियाँ थीं, उन्हें समझने और उनके सन्दर्भों को समझने में सुजीत दास बुरी तरह असफल रहे हैं। स्तालिन के दौर में ग़लती यह नहीं थी कि पार्टी का हस्तक्षेप ज़्यादा था। कहना चाहिए कि सच्चाई इसके ठीक विपरीत है। पार्टी का जितना और जैसा हस्तक्षेप होना चाहिए था वैसा स्तालिन काल में पार्टी नहीं कर पायी और इसके कारणों की हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। लेकिन इन सबके बावजूद इतना तय है कि स्तालिन काल तक बोल्शेविक पार्टी एक कम्युनिस्ट पार्टी बनी रही और सोवियत राज्य सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को अभिव्यक्त करता रहा। पार्टी के वर्ग चरित्र का फैसला सर्वप्रथम उसके नेतृत्व और नीतियों से होता है और राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र का फैसला उस पर काबिज़ पार्टी के वर्ग चरित्र से होता है। अगर मार्क्सवाद की इन बुनियादी शिक्षाओं को मानें तो स्तालिन काल में सोवियत समाजवाद की सफलताओं और असफलताओं, दोनों को ही समझा जा सकता है।

लेकिन ऐसा करने की बजाय सुजीत दास ने पार्टी को हर दिक्कत का ज़िम्मेदार ठहराने का आसान रास्ता चुना है। वे अलगाव को धाँय से ख़त्म नहीं कर देने के लिए पार्टी से रूठ गये हैं और कह रहे हैं कि 'प्रत्यक्ष उत्पादकों को उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण' क्यों नहीं दिया! वह कह रहे हैं कि पार्टी ने ट्रेड यूनियनों और सोवियतों के मामलों में टाँग क्यों अड़ाई? पार्टी सर्वहारा अधिनायकत्व को क्यों लागू क्यों करने लगी? ऐसा तो आपने कभी नहीं कहा था कि आप ऐसा करेंगे! इसी प्रकार की बचकानी शिकायतों और टिप्पणियों से उनका लेख भरा हुआ है। हमने हरेक बचकानेपन का यहाँ खण्डन नहीं किया है, क्योंकि वह सम्भव ही नहीं है। लेकिन उनका मूल तर्क वही है जो अराजकतावाद, संघाधिपत्यवाद, गैर-पार्टी क्रान्तिवाद, विसर्जनवाद, मज़दूरवाद और "वामपन्थी" कम्युनिस्टों का होता है। पार्टी, ट्रेड यूनियन, सोवियतों, राज्यसत्ता और वर्ग के बारे में और साथ ही इन सबके अन्तर्सम्बन्धों के बारे में 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की पूरी समझदारी यही दिखलाती है। हम अब आपके सामने लेनिन, स्तालिन और माओ के कुछ उद्धरण रखेंगे, जैसे कि हमने पहले वायदा किया था, जिससे कि यह साफ़ हो जाये कि सुजीत दास कहाँ खड़े हैं, उनके सच्चे मित्र कौन हैं (जो हम ऊपर देख आये हैं) और उनके तथा उनके मित्रों के बरक्स मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद की अवस्थिति इन सारे कुंजीभूत प्रश्नों पर क्या है।

ङ) पार्टी, वर्ग और राज्यसत्ता के प्रश्न पर लेनिन, स्तालिन और माओ के विचार

आगे पार्टी, वर्ग और राज्यसत्ता के आपसी रिश्तों के बारे में लेनिन, स्तालिन और माओ के कुछ उद्धरण रखेंगे और यह काम पाठकों पर छोड़ देंगे कि वे सुजीत दास की अवस्थिति की

तुलना लेनिन, स्तालिन और माओ की अवस्थिति से करें। यहाँ हम कुछ उद्धरणों के उन प्रासंगिक हिस्सों को भी रखेंगे, जिन्हें हमने ऊपर भी उद्धृत किया है। शुरुआत में लेनिन का यह कथन सबसे मुफीद होगा:

"सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की पूरी व्यवस्था में, ट्रेड यूनियनें पार्टी और सरकार के बीच में खड़ी हैं। समाजवाद की ओर संक्रमण में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही अपरिहार्य है, लेकिन यह किसी ऐसे संगठन के ज़रिये लागू नहीं की जा सकती है, जो कि समूचे औद्योगिक मज़दूरों को अपने में समेटता हो। क्यों नहीं?...दरअसल होता यह है कि पार्टी, हम कह सकते हैं, सर्वहारा वर्ग के हिरावल को अपने में आत्मसात करती है, और यह हिरावल सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को लागू करता है। यह तानाशाही या सरकार के कार्यों को ट्रेड यूनियन जैसे आधार के बिना नहीं लागू किया जा सकता है। लेकिन, इन कार्यों को एक विशेष संस्था के माध्यम से किया जाना होता है, जिसे हम सोवियत कहते हैं। ...सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को किसी ऐसे संगठन के द्वारा लागू नहीं किया जा सकता है जो कि इस पूरे वर्ग को समेटता हो, क्योंकि सभी पूँजीवादी देशों में सर्वहारा वर्ग अभी भी इतना विभाजित, इतना विकृत, और कई हिस्सों में इतना भ्रष्ट (कुछ देशों में साम्राज्यवाद के द्वारा) है कि सम्पूर्ण सर्वहारा वर्ग को समेटने वाला कोई भी संगठन सीधे सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को लागू नहीं कर सकता है। यह केवल एक हिरावल के ज़रिये लागू किया जा सकता है, जिसने कि पूरे वर्ग की क्रान्तिकारी ऊर्जा को आत्मसात किया हो। यह सबकुछ एक दन्त-चक्रों की व्यवस्था के समान है।" (लेनिन, **'ट्रेड यूनियनें, मौजूदा स्थिति और ट्रॉट्स्की की ग़लतियाँ'**, *ऑन ट्रेड यूनियंस*, छठाँ मुद्रण, अंग्रेज़ी संस्करण, 1986 प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 371-72) सुजीत दास का दावा है कि पूरे सोवियत राजनीतिक साहित्य में कभी भी यह नहीं लिखा गया था कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को पार्टी लागू करेगी। अब हम इस बारे में केवल अटकलबाज़ी कर सकते हैं कि "सोवियत राजनीतिक साहित्य" से श्री दास का क्या अर्थ है, क्योंकि आप उपरोक्त उद्धरण में देख सकते हैं कि लेनिन को इस बारे में कोई दुविधा नहीं है। वह स्पष्ट हैं कि सर्वहारा अधिनायकत्व पार्टी के ज़रिये लागू किया जायेगा और पार्टी ही सर्वहारा अधिनायकत्व की प्रमुख उपकरण होगी; ट्रेड यूनियनें मज़दूर वर्ग के व्यापक जनसमुदायों और पार्टी के बीच एक कड़ी होंगी; और सोवियतें वे संस्थाएँ होंगी जिससे कि सर्वहारा अधिनायकत्व का शासन व्यापक मेहनतकश जनसमुदायों तक पहुँचेगा। इसी पूरी व्यवस्था को लेनिन "दन्तचक्रों" और "संचरण पट्टियों" की व्यवस्था कहते हैं, जो कि पार्टी और समूची मेहनतकश आबादी के बीच सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत काम करती है। आगे देखें:

"यह कम्युनिज़्म से सीधे तौर पर रिश्ता तोड़ना है और संघाधिपत्यवाद की ओर संक्रमण है। सारतः, यह श्ल्याप्निकोव के उसी नारे "राज्य का यूनियनीकरण कर दो" का दुहराव है, और इसका अर्थ है टुकड़े-टुकड़े में सर्वोच्च आर्थिक परिषद (वेसेंखा) के पूरे ढाँचे को सम्बन्धित ट्रेड यूनियनों के हवाले कर देना...कम्युनिज़्म कहता है: कम्युनिस्ट पार्टी सर्वहारा वर्ग की हिरावल है, वह ग़ैर-पार्टी मज़दूर जनसमुदायों का नेतृत्व करती है, शिक्षित करते, तैयार करते, ज्ञान और प्रशिक्षण देते हुए जनसमुदायों को–पहले मज़दूरों और फिर किसानों को–नेतृत्व देती है, ताकि वह उन्हें पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रशासन को अपने हाथों में केन्द्रित करने के योग्य बना सके।

"संघाधिपत्यवाद उद्योगों में विखण्डित गैर-पार्टी मज़दूर जनसमुदायों को उनके उद्योगों के प्रबन्धन का काम सौंप देता है, और इस प्रकार पार्टी को ग़ैर-ज़रूरी बना देता है, और इस प्रक्रिया में वह जनसमुदायों को प्रशिक्षित करने का कोई लम्बा अभियान चला पाने में भी असफल हो जाता है है, और वास्तव में उनके हाथों में पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन को केन्द्रित कर पाने में भी असफल हो जाता है।....अगर औद्योगिक प्रबन्धन के लोगों को ट्रेड यूनियनों के ही द्वारा, जिनके हर दस सदस्यों में से नौ ग़ैर-पार्टी मज़दूर हैं, नियुक्त करना है ("बाध्यताकारी नामांकन"), तो पार्टी की क्या ज़रूरत है?" (लेनिन, **दि पार्टी क्राइसिस**, *'ऑन ट्रेड यूनियंस'*, छठाँ मुद्रण, 1986, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, पृ. 399-400)

सुजीत दास पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन में नकारते हैं। उनकी यह माँग कि 'प्रत्यक्ष उत्पादकों को उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण दिया जाय,' दो स्तरों पर ग़लत है। एक तो यह कि पार्टी के ज़रिये सर्वहारा राज्य का पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण सर्वहारा वर्ग द्वारा उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण की शुरुआत है और इसके लिए पार्टी और राज्य के वर्ग चरित्र को समझने की ज़रूरत है। दूसरी बात यह कि अगर प्रत्यक्ष उत्पादकों (इस शब्द पर लेनिन ने आपत्ति करते हुए श्ल्याप्निकोव की सख़्त आलोचना की थी और कहा था कि समस्त प्रत्यक्ष उत्पादकों में टटपुँजिया उत्पादकों की एक बहुत बड़ी आबादी आती है और उनके किसी एक निकाय की रूस जैसे देश में नियन्त्रक और संचालक निकाय के रूप में बात नहीं की जा सकती है, क्योंकि उसमें सर्वहारा वर्ग अल्पसंख्या में होगा) का तत्काल उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण स्थापित किया जाय, तो वह क्या रूप लेगा? जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं, वह बिना सर्वहारा अधिनायकत्व और सर्वहारा विचारधारा के वर्चस्व के स्थापित हुए, कारखानों और खानों-खदानों को अलग-अलग कारखाना समितियों या अलग-अलग ट्रेड यूनियनों को सौंपने के रूप में अस्तित्व में आयेगा। इसी चीज़ का लेनिन ने सख़्त विरोध किया था और इसी के चलते बोल्शेविक पार्टी ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन के लिए सर्वोच्च आर्थिक परिषद (वेसेंखा) बनायी थी, जो कि पार्टी और सोवनार्कोम (जनकमिसार परिषद) के निर्देशन में काम करती थी। लेनिन ने स्पष्ट किया कि सर्वोच्च आर्थिक परिषद में कारखाना कमेटियों, ट्रेड यूनियनों और सोवियतों के प्रतिनिधियों के अलावा, पार्टी के प्रतिनिधि, प्रबन्धक, तकनीशियन आदि शामिल होंगे। कुल मिलाकर, पार्टी, ट्रेड यूनियनों और कारखाना समितियों के प्रतिनिधि उसमें बहुसंख्या में थे, और पार्टी का नियन्त्रण सर्वोच्च था। समाजवादी निर्माण के पूरे आरम्भिक दौर में, ख़ास तौर पर पिछड़े पूँजीवादी देशों में क्रान्ति के बाद, सर्वहारा अधिनायकत्व इसी रूप में काम कर सकता है। लेनिन इस बात को समझते थे और इसीलिए श्ल्याप्निकोव द्वारा राज्य और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को ट्रेड यूनियनों के हाथों मे सौंप देने के प्रस्ताव को अराजकतावादी और संघाधिपत्यवादी प्रस्ताव मानते थे। लेकिन सुजीत दास सोवियत इतिहास और राजनीतिक लेखन का अध्ययन करने की बजाय उसका आविष्कार करने पर आमादा हैं। उनका दावा है कि सोवियत राजनीतिक लेखन में पार्टी की ऐसी नेतृत्वकारी भूमिका के बारे में कहीं नहीं लिखा गया और यह कहते हुए वह पूरी तरह अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी अवस्थिति पर जाकर खड़े हो जाते हैं। और इस अवस्थिति के बारे में लेनिन का ही क्या कहना है, उस पर ग़ौर करें:

"इस भटकाव की सैद्धान्तिक रूप से सबसे पूर्ण और स्पष्ट रूप से परिभाषित

अभिव्यक्ति तथाकथित 'वर्कर्स अपोज़ीशन' ग्रुप की थीसिसें और साहित्यिक उत्पाद हैं। मिसाल के तौर पर, इसको इस ग्रुप द्वारा प्रतिपादित निम्न थीसिस इसको पर्याप्त साफ तरीके से चित्रित कर देती है: "राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन को संगठित करने का काम एक अखिल-रूसी उत्पादक कांग्रेस का है जो कि औद्योगिक यूनियनों में संगठित होगी, जो कि वास्तव में गणराज्य की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को संचालित करने के लिए एक केन्द्रीय निकाय का चुनाव करेंगी।" इस और कई ऐसे ही कथनों की बुनियाद में जो विचार हैं वे सिद्धान्ततः मूल रूप में ग़लत हैं, और वास्तव में वे मार्क्सवाद और कम्युनिज़्म से एक सम्पूर्ण विच्छेद को दिखलाते हैं...

"मार्क्सवाद बताता है...कि केवल मज़दूर वर्ग की राजनीतिक पार्टी, यानी कम्युनिस्ट पार्टी ही सर्वहारा वर्ग के हिरावल और साथ ही समूची मेहनतकश आबादी को एकजुट करने, प्रशिक्षित करने और संगठित करने में सक्षम है, जो कि एकमात्र शक्ति है जो इस जनसमुदाय के अपरिहार्य टटपुँजिया दोलनों और सर्वहारा वर्ग के भीतर मौजूद संकीर्ण पेशा-केन्द्रित यूनियनवाद या पेशागत पूर्वाग्रहों का प्रतिरोध करने, और साथ ही समूचे सर्वहारा वर्ग की एकजुट गतिविधियों को निर्देशित करने में सक्षम होगी, यानी कि उसे राजनीतिक रूप से नेतृत्व देने, और इसके जरिये समूची मेहनतकश आबादी के सभी जनसमुदायों को नेतृत्व देने में सक्षम होगी। इसके बिना सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व असम्भव है।...संघाधिपत्यवादी और अराजकतावादी एक तात्कालिक नारे के तौर पर कहते हैं "उत्पादकों की कांग्रेस या कांग्रेसें" जो कि आर्थिक प्रबन्धन के निकायों का "चुनाव करें"। इस प्रकार, सर्वहारा वर्ग की ट्रेड यूनियनों के सम्बन्ध में, ट्रेड यूनियनों के मेहनतकश जनता के अर्द्ध-टटपुँजिया या यहाँ तक कि पूरी तरह से टटपुँजिया जनसमुदायों से सम्बन्ध में, पार्टी की शिक्षणात्मक और संगठनात्मक भूमिका को पूरी तरह से गोल कर दिया गया है, ख़त्म कर दिया गया है, और अर्थव्यवस्था के नये रूपों के निर्माण के उस व्यावहारिक कार्य को जारी रखने और उसे सही करने की बजाय, जिसे कि सोवियत राज्यसत्ता ने पहले से ही शुरू कर दिया है, हमें इस काम में टटपुँजिया अराजकतावादी विघ्न मिलता है, जो कि केवल बुर्जुआ प्रतिक्रान्ति की तरफ़ ही ले जा सकता है।" (लेनिन, **प्रिलिमिनरी ड्राफ्ट रिज़ोल्यूशन ऑफ दि टेन्थ कांग्रेस ऑफ आर.सी.पी. ऑन दि सिंडिकलिस्ट एंड एनार्किस्ट डेविऐशन इन अवर पार्टी**, *ऑन ट्रेड यूनियंस,* छठां मुद्रण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1986, पृ. 458-60) लेनिन ने स्पष्ट तौर पर यहाँ भी हिरावल पार्टी को ही वह प्रमुख उपकरण बताया है जिसके ज़रिये सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व समाजवादी संक्रमणकाल के दौरान अर्थव्यवस्था और राजनीति में लागू होगा। अगले उद्धरण में लेनिन इस बारे में शक़ की सभी गुंजाइशों को ख़त्म कर देते हैं:

"राज्य एक दमन का उपकरण है। दमन को छोड़ने की बात भी करना पागलपन होगा, ख़ास तौर पर, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के युग में, क्योंकि प्रशासनात्मक पहुँच और "जहाज़ का संचालन" अपरिहार्य हैं। पार्टी सर्वहारा वर्ग की नेता है, उसकी हिरावल है, जो कि प्रत्यक्ष रूप में शासन करती है।...ट्रेड यूनियनें राज्यसत्ता की शक्ति का भण्डार हैं, एक कम्युनिज़्म का स्कूल हैं, प्रबन्धन की कला का स्कूल हैं।" (लेनिन, **'एक बार फिर से ट्रेड यूनियनों, वर्तमान स्थिति और ट्रॉट्स्की व बुखारिन की ग़लतियों के बारे में'**, *ऑन ट्रेड यूनियंस,* छठाँ मुद्रण, अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को,

1986, पृ. 447-48)

मार्च 1919 में आठवीं पार्टी कांग्रेस में पार्टी का जो इस बारे में नज़रिया था वह और भी साफ़ था:

"कम्युनिस्ट पार्टी वह संगठन है जो अपनी कतारों के सिर्फ़ सर्वहारा वर्ग और निर्धनतम किसान आबादी के हिरावल को एकजुट करता है – इन वर्गों के वे हिस्से जो सचेतन तौर पर कम्युनिस्ट कार्यक्रम को व्यवहार में एक असलियत में तब्दील करने के लिए संघर्ष करते हैं।

"कम्युनिस्ट पार्टी मज़दूरों के सभी संगठनों: ट्रेड यूनियनों, सहकारी संघों में, गाँव के कम्यूनों आदि में, निर्णायक प्रभाव और पूर्ण नेतृत्व स्थापित करने को अपना लक्ष्य बनाती है। कम्युनिस्ट पार्टी विशेष तौर पर अपने कार्यक्रम और पूर्ण नेतृत्व को समकालीन राज्य संगठनों, यानी कि सोवियतों, में स्थापित करने के लिए संघर्ष करती है।

"...रूसी कम्युनिस्ट पार्टी को सोवियतों में अविभाजित राजनीतिक प्रभुत्व हासिल करना ही होगा और इसके सभी कार्यों पर व्यावहारिक नियन्त्रण कायम करना ही होगा।" (मार्च, 1919, आठवीं पार्टी कांग्रेस के दस्तावेज, ई.एच. कार द्वारा *'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन 1917-1923'* के पहले खण्ड में उद्धृत, पृ. 219) यहाँ देखा जा सकता है कि पार्टी किसी भी रूप में ट्रेड यूनियनों या सोवियतों की स्वत:स्फूर्तता की पूजक नहीं थी। वह जानती थी कि वह स्वयं सर्वहारा वर्ग के उन्नततम और जुझारू तत्वों का दस्ता है, और केवल ऐसा दस्ता ही वर्ग की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व कर सकता है। ऐसे में, व्यापक आबादी को समेटने वाले सभी निकायों में पार्टी को अपना राजनीतिक और विचारधारात्मक वर्चस्व स्थापित करना ही होगा, अन्यथा वह स्वयं सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को नष्ट करने की तरफ़ आगे बढ़ जायेगी। लेकिन सुजीत दास के नज़रिये से यह सब पार्टी नामक शैतानी शक्ति द्वारा सोवियतों और ट्रेड यूनियनों जैसी पवित्र जनसंस्थाओं में कुत्सित हस्तक्षेप है! उनका प्रदूषण है! लेकिन कम-से-कम लेनिन और बोल्शेविक पार्टी का ऐसा नज़रिया नहीं था।

जब कोमिण्टर्न में 1920 में ट्रॉट्स्की बोल्शेविक पार्टी की नुमाइन्दगी कर रहे थे तो उन्होंने एक बयान दिया जो कि उस समय की स्थिति और लेनिनवादी अवस्थिति की ओर इंगित करता है। निश्चित तौर पर, इस बात को अगर लेनिन को कहना होता तो वह इन शब्दों में नहीं कहते, वह इसे अधिक द्वन्द्वात्मक तरीके से रखते। लेकिन ट्रॉट्स्की के अपने पूर्वाग्रह भी इस कथन में आ गये हैं, जो कि वास्तव में जनता और पार्टी के बीच में रिश्तों की उनकी गैर-द्वन्द्वात्मक समझदारी को दिखलाते हैं। लेकिन इन सभी चीज़ों के बावजूद यहाँ ट्रॉट्स्की के अन्दाज़े-बयाँ पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया जा सकता है। इसमें मुख्य बात यह है कि पार्टी के नेतृत्वकारी कार्य को किसी भी रूप में कम करके नहीं आँका जा सकता और सर्वहारा राज्य के नीति-निर्धारण के काम को मेहनतकश जनसमुदायों की स्वत:स्फूर्तता पर नहीं छोड़ा जा सकता है। इसलिए, ट्रॉट्स्की ने 1920 में कोमिण्टर्न की दूसरी कांग्रेस को बोल्शेविक पार्टी की तरफ से बताया:

"आज हमें पोलिश सरकार की ओर से शान्ति समझौता करने के प्रस्ताव प्राप्त हुए हैं। इस प्रश्न पर कौन फैसला लेगा? हमारे पास सोवनार्कोम है, लेकिन इसे किसी न किसी नियन्त्रण के अधीन होना चाहिए। किस नियन्त्रण के? क्या मज़दूर वर्ग के एक बिना किसी आकृति वाले और अराजकतापूर्ण जनसमुदाय के नियंत्रण के तहत?

नहीं। पार्टी की केन्द्रीय कमेटी को इस प्रस्ताव पर विचार करने और इस पर विचार करने कि इसका जवाब दिया जाय या नहीं, के लिए बुलाया गया है।" (कार के *'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'*, खण्ड-1 में उद्धृत, पृ. 220)। नवीं पार्टी कांग्रेस में कामनेव ने भी पार्टी की इस समझदारी को फिर से रेखांकित किया, **"रूस में व्यवस्था को हम चलाते हैं, और कम्युनिस्टों के ज़रिये ही हम इस काम को कर सकते हैं।"** (कार के *'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'*, खण्ड-1 में उद्धृत, पृ. 222)। लेकिन साथ ही बोल्शेविक पार्टी इस ख़तरे के प्रति भी सचेत थी कि पार्टी सोवियतों का स्थान न लें क्योंकि इससे सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता के बीच का फर्क ख़त्म हो जायेगा और पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका समाप्त हो जायेगी। आठवीं कांग्रेस में कहा गया कि यह पार्टी का कर्तव्य है कि वह **"सोवियतों की गतिविधि की अगुवाई करे, लेकिन यह उनकी जगह नहीं ले सकती।"** (*वही*, पृ. 222-3)। लेनिन ने भी एक अन्य स्थान पर स्पष्ट किया, **"शासक पार्टी के तौर पर, हम सोवियत 'प्राधिकारी संस्थाओं' को पार्टी 'प्राधिकारों' को मिलाने से नहीं बच सकते – वे हमारे साथ संलयित हैं, और ऐसा तो होगा ही।"** (*वही*, पृ. 223)

1919 में लेनिन ने उन सभी लोगों की सख़्त आलोचना की जो रूस में पार्टी की तानाशाही की बात कर रहे थे (जैसा कि आज भारत में सुजीत दास और उनके जैसे तमाम अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी कर रहे हैं)। उन्होंने लिखा: **"हाँ, एक पार्टी की तानाशाही! हम इस पर कायम हैं और इससे हट नहीं सकते, क्योंकि यह पार्टी ही है जिसने कई दशकों में समूचे कारखाना और औद्योगिक सर्वहारा के हिरावल की स्थिति को हासिल किया है।"** (*वही*, पृ. 230)। उन्होंने आगे कहा कि **"मज़दूर वर्ग की तानाशाही को बोल्शेविकों की पार्टी की ज़रिये प्रभाव में लाया जाता है, जो कि 1905 से या उससे भी पहले से समूचे क्रान्तिकारी सर्वहाराओं के साथ एकजुट हो चुकी है।"** (*वही*, पृ. 230)। इसी विषय में एक अन्य स्थान पर लेनिन मानो सुजीत दास जैसे छद्म बुद्धिजीवियों को ही जवाब देते हुए लिखते हैं: **"इस सवाल–"पार्टी की तानाशाही या वर्ग की तानाशाही, नेताओं की तानाशाही (पार्टी) या जनसमुदायों की तानाशाही (पार्टी)?"–को पेश करना ही सबसे अविश्वस्नीय और हताशापूर्ण दिमाग़ी वहम का सबूत है। लोग साधारण चीज़ों में से ही कुछ आविष्कार करने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देते हैं, और समझदार बनने के प्रयास में वे हास्यास्पद बन जाते हैं। हर कोई जानता है कि जनसमुदाय वर्गों में विभाजित हैं; कि जनसमुदायों का वर्गों से अन्तर आम तौर पर व्यापक बहुसंख्या का, उत्पादन के सामाजिक तन्त्र में उनकी अवस्थिति के अनुसार विभाजित किये बग़ैर, उन श्रेणियों से अन्तर बताकर ही किया जा सकता है, जो कि उत्पादन की सामाजिक व्यवस्था में एक निश्चित अवस्थिति पर काबिज़ होते हैं; कि आम तौर पर, अधिकांश मामलों में, कम-से-कम आधुनिक सभ्य समाजों में, वर्गों का नेतृत्व राजनीतिक पार्टियों द्वारा किया जाता है; कि राजनीतिक पार्टियाँ एक सामान्य नियम के रूप में सबसे प्राधिकार-सम्पन्न, प्रभावशाली और अनुभवी सदस्यों के कमोबेश स्थायी समूहों द्वारा निर्देशित होती हैं, जिनका सबसे ज़िम्मेदार पदों पर चुनाव होता है और जिन्हें नेता कहा जाता है। यह सब 'क ख ग' के समान है। यह सब एकदम सरल और स्पष्ट है।"** (लेनिन, *लेनिन एण्ड स्तालिन ऑन दि पार्टी* में उद्धृत, राहुल फाउण्डेशन, 2008, पृ. 30) इसी बात को स्पष्ट करते हुए लेनिन

आगे लिखते हैं: **"दूसरी तरफ, हम यहाँ अब "फैशनेबल" शब्दों जैसे "जनता" और "नेता" का बिना सोचे-समझे किया जाने वाला और बेमेल इस्तेमाल देखते हैं। लोगों ने "नेताओं" पर ऐसे हमलों के बारे काफी सुना है और अब वे उसके आदी हो गये हैं, जिसमें उन्हें "जनता" के विरोध में खड़ा कर दिया जाता है; लेकिन ऐसी बातें करने वाले लोग यह सोचने और अपने आपको ही यह समझा पाने में असफल थे कि इस सबका मतलब क्या है।"** (*वही*, पृ. 31)

सुजीत दास जैसे तमाम लोगों के इस भ्रम को लेनिन तोड़ देते हैं कि मज़दूर वर्ग उत्पादन और शासन सम्बन्धी निर्णयों को तुरन्त लेने लगेगा और समाजवादी राज्य शुरू से ही 'अराज्य' में तब्दील होने लगेगा। लेनिन का स्पष्ट मानना था कि समाजवादी संक्रमण के पूरे आरम्भिक कालखण्ड में राज्य न सिर्फ़ मौजूद रहेगा, बल्कि यह और ज़्यादा ताक़तवर बनाया जायेगा, ताकि बुर्जुआ वर्ग के प्रतिरोध और उसकी विचारधारा के वर्चस्व को निर्णायक रूप से ध्वस्त किया जा सके। सातवीं पार्टी कांग्रेस में, जो कि 1918 में हुई थी, लेनिन ने कहा:

"वर्तमान रूप में हम बिना शर्त एक राज्यसत्ता के पक्ष में हैं; और जहाँ तक उन्नत रूप में समाजवाद के वर्णन दिये जाने के सवाल है, जिसमें कोई राज्य नहीं होगा–उसके बारे में सिवाय इस बात के और कुछ भी कल्पना नहीं की जा सकती कि तब "सभी से उनकी क्षमता के अनुसार और सभी को उनकी आवश्यकता के अनुरूप" का सिद्धान्त एक हक़ीक़त बन चुका होगा। लेकिन अभी हम उस मंज़िल से बहुत दूर हैं...उससे पहले राज्य के ख़त्म होते जाने की बात करना ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का उल्लंघन होगा।" (कार के *'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'*, खण्ड-1 में उद्धृत, पृ. 246) आगे लेनिन इसी बात को और खोलकर कहते हैं, **"क्या हर मज़दूर जानता है कि राज्य का संचालन कैसे करना है? व्यावहारिक लोग जानते हैं कि यह बस एक परिकथा है...ट्रेड यूनियनें कम्युनिज़्म और प्रशासन का स्कूल हैं। जब वे (यानी मज़दूर) इस स्कूल में कई वर्ष बिताएँगे, तो ही वे सीखेंगे, लेकिन यह सब कुछ बहुत धीमे-धीमे होता है...कितने मज़दूर अभी प्रशासन के कामों में लगे हैं? पूरे रूस में कुछ हज़ार, इससे ज़्यादा नहीं।"** (कार के *'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'*, खण्ड-1 में उद्धृत, पृ. 247)

लेनिन ने स्पष्ट किया कि इसीलिए सोवियतों को तत्काल राज्य के सारे कार्य नहीं सौंपे जा सकते। यह काम लम्बे समय तक पार्टी को सोवियतों की अगुवाई करते हुए करना होगा। बिना पार्टी के नेतृत्व के अगर सोवियतों को राज्यसत्ता का प्रमुख उपकरण बना दिया गया तो उनके बुर्जुआ सोवियतों में तब्दील होने में ज़्यादा वक्त नहीं लगेगा। लेनिन के पास भी यह नतीजा बने-बनाये तौर पर मौजूद नहीं था। रूस में समाजवाद के प्रयोग के पहले दो वर्षों में लेनिन इस नतीजे पर पहुँचे कि पेरिस कम्यून के मॉडल को तत्काल नहीं लागू किया जा सकता। 1921 में दसवीं पार्टी कांग्रेस में वह कहते हैं, **"सोवियत सत्ता के ढाई वर्षों के बाद हम कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल में आये और हमने दुनिया को बताया कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व पार्टी के ज़रिये न लागू किया जाय तो वह काम ही नहीं करेगा।"** (लेनिन, *संग्रहीत रचनाएँ*, खण्ड-32, अंग्रेज़ी संस्करण, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ.199)।

लेनिन ने साथ में यह भी स्पष्ट किया कि इसका अर्थ यह नहीं होगा कि वर्ग शासन नहीं कर रहा है, और पार्टी शासन कर रही है। लेनिन ने कहा कि पार्टी और वर्ग की एकजुटता को देखने की बजाय उन्हें एक-दूसरे के ख़िलाफ़ खड़ा कर देने की

अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी प्रवृत्ति वास्तव में सर्वहारा अधिनायकत्व और समाजवादी संक्रमण के दीर्घकालिक चरित्र के बारे में कुछ भी नहीं समझती है। अगर पूँजीवादी पुनर्स्थापना को रोकना है तो सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण पार्टी ही हो सकती है और उसकी संस्थाबद्ध नेतृत्वकारी भूमिका के बिना सर्वहारा अधिनायकत्व टिक ही नहीं सकता है। ऐसे में, निश्चित तौर पर कई बार ऐसे मौके आ सकते हैं जब हिरावल पार्टी और व्यापक मेहनतकश आबादी के किसी हिस्से के बीच के सम्बन्ध दमन के सम्बन्ध बन जायें। कुछ मौकों पर इनसे बचा सकता है और कुछ मौकों पर नहीं। इस बात का कोई बना-बनाया फार्मुला नहीं हो सकता कि समाजवादी संक्रमण के दौर में ऐसा न हो। क्रोंस्टाट विद्रोह के कुचले जाने पर लेनिन के विचारों को देखा जा सकता है और साथ ही सुजीत दास जैसे सभी अराजकतावादियों को किसान प्रश्न के समाधान के बारे में भी लेनिन के विचारों का अध्ययन करना चाहिए। **जो यह मानकर चलता है कि समाजवादी संक्रमण के दौरान ऐसी स्थितियाँ नहीं पैदा हो सकतीं, उसने समाजवाद के बारे में बेहद गुलाबी सपने सजा रखे हैं, जिनका टूटना अवश्यम्भावी है।**

लेनिन निश्चित तौर पर पार्टी को अचूक और अमोघ नहीं मानते थे। उनका मानना था कि पार्टी वर्ग की सामूहिक इच्छा के प्रतिनिधित्व का दावा तभी कर सकती है जबकि वह सर्वहारा वर्ग के सबसे उन्नत और जुझारू तत्वों को अपने में शामिल करती हो, जब वह सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण (यानी, मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलों) को आत्मसात करती हो, उसका मूर्त रूप हो, और जब वह आम मेहनतकश जनता से एक जीवन्त रिश्ता बरकरार रखती हो। इसीलिए अपनी प्रसिद्ध रचना 'पार्टी का शुद्धीकरण' में वह लिखते हैं, **"...पार्टी को उन लोगों से शुद्ध कर दिया जाना चाहिए जो जनसमुदायों से सम्पर्क खो चुके हों...स्वाभाविक है, कि हम हर उस बात को नहीं मानेंगे जोकि जनता कहती है, क्योंकि जनता भी–खास तौर पर अपवादस्वरूप थकान और श्रान्ति की अवधियों में, जो कि अत्यधिक कठिनाइयों और तकलीफ़ों से पैदा होती है–ऐसी भावनाओं के सामने समर्पण कर देती है, जो कि किसी भी रूप में उन्नत नहीं होतीं।"** (लेनिन, **'पर्जिंग दि पार्टी'**, *कलेक्टेड वर्क्स*, दूसरा अंग्रेज़ी संस्करण, खण्ड-33, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 39-41)। स्तालिन ने इसी सोच के सिरे को आगे बढ़ाते हुए लिखा है कि सोवियत संघ में ट्रेड यूनियनें और सोवियतें ही निर्णय लेती थीं, लेकिन ऐसा वह पार्टी के नेतृत्व में करती थीं। इस रूप में देखा जाय तो सर्वहारा वर्ग की तानाशाही वास्तव में पार्टी की तानाशाही दिख सकती है। लेकिन यह वास्तव में पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका है और इस नेतृत्वकारी भूमिका के बिना सर्वहारा अधिनायकत्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है, हालाँकि दोनों के बीच 'बराबर' का चिन्ह कभी नहीं लगाया जा सकता है। स्तालिन कहते हैं कि मूल समस्या यह है कि पार्टी अपने सर्वहारा चरित्र को कायम रखने के लिए मार्क्सवाद-लेनिनवाद को अपना मार्गदर्शक सिद्धान्त बनाये और जनसमुदायों के साथ करीबी रिश्ता बनाये रखे। वास्तव में, स्तालिन ने इसके लिए पार्टी में लगातार नौकरशाही के विरुद्ध संघर्ष किया और कई बार वह सफल नहीं हो पाये। लेकिन स्वयं स्तालिन का दृष्टिकोण इस सवाल पर बिल्कुल साफ़ था। देखिये स्तालिन क्या लिखते हैं:

"...पार्टी को करीबी से जनता की आवाज़ पर ध्यान देना चाहिए; उसे जनसमुदायों के क्रान्तिकारी स्वभाव पर ध्यान देना चाहिए; इसे जनसमुदायों के संघर्ष के व्यवहार का

अध्ययन करना चाहिए और इस आधार पर अपनी नीति के सहीपन की जाँच करनी चाहिए; और परिणामतः इसे केवल जनता को सिखाना ही नहीं चाहिए बल्कि उससे सीखना भी चाहिए।" (स्तालिन, **'लेनिनवाद के सवालों के विषय में'** *'वर्क्स'* खण्ड-8, फॉरेन लैंग्वेजेज़ प्रेस, मॉस्को, 1954, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 46)। एक अन्य स्थान पर स्तालिन लिखते हैं, **"क्या पार्टी के नेतृत्व को वर्ग के ऊपर बलपूर्वक स्थापित किया जा सकता है? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। किसी भी सूरत में, ऐसा नेतृत्व टिकाऊ बिल्कुल नहीं हो सकता। अगर पार्टी सर्वहारा वर्ग की पार्टी बने रहना चाहती है, तो इसे यह समझना होगा कि वह प्राथमिक और प्रमुख तौर पर, मज़दूर वर्ग की मार्गदर्शक, नेता, और शिक्षक है...क्या कोई पार्टी को वर्ग का वास्तविक नेता मान सकता है, अगर उसकी नीति ग़लत है, अगर उसकी नीति वर्ग के हितों के साथ टकराती हैं? जाहिरा तौर पर नहीं। किसी भी सूरत में अगर पार्टी को नेता बने रहना है, तो इसे अपनी नीति पर पुनर्विचार करना चाहिए, उसे सही करना चाहिए और अपनी ग़लती मानकर उसे सही करना चाहिए।"** (*वही*, पृ. 52-53)। 'लेनिनवाद के मूलभूत सिद्धान्त' में स्तालिन पार्टी के बारे में लिखते हैं: **"पार्टी मज़दूर वर्ग की हिरावल होती है...पार्टी मज़दूर वर्ग का उन्नत संगठित दस्ता होती है। पार्टी सर्वहारा वर्ग के वर्ग संगठन का उन्नततम रूप होती है। पार्टी मज़दूर वर्ग की राजनीतिक नेता है।...(पार्टी) सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को हासिल करने, और (समाजवाद की विजय के बाद) सर्वहारा अधिनायकत्व के सुदृढ़ीकरण और विस्तार करने के लिए सर्वहारा वर्ग का उपकरण है।"** (स्तालिन, **'फाउण्डेशंस ऑफ लेनिनिज़्म'**, *वर्क्स*, खण्ड-6, फॉरेन लैंग्वेजेज़ प्रेस, मॉस्को, 1953, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 177-89)।

पार्टी के चरित्र और प्रकृति को लेकर सभी अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी भयंकर विभ्रमों के शिकार होते हैं। उनकी यह आम प्रवृत्ति होती है कि वे पार्टी और वर्ग को एक-दूसरे के ख़िलाफ़ खड़ा कर देते हैं। इस विभ्रम बारे में लेनिन ने बार-बार लिखा और 'क्या करें?' और 'एक कदम आगे, दो कदम पीछे' उनके इस विषय में विचारों को देखने के लिए सर्वश्रेष्ठ स्रोत हैं। लेनिन लिखते हैं, **"मज़दूर वर्ग के हिरावल के तौर पार्टी को कभी भी समूचे वर्ग के साथ गड्ड-मड्ड नहीं किया जाना चाहिए...ठीक इसलिए चूँकि गतिविधि के स्तरों में फर्क हैं, पार्टी से करीबी के स्तर में एक फर्क किया जाना चाहिए। हम एक वर्ग की पार्टी हैं, और इसलिए लगभग समूचे वर्ग को (और युद्ध के दौर में, गृहयुद्ध के दौर में, पूरे वर्ग को) पार्टी के नेतृत्व के तहत काम करना चाहिए, हमारी पार्टी के साथ निकटतम सम्भव तरीके से जुड़ जाना चाहिए।"** (लेनिन, *एक कदम आगे, दो कदम पीछे*, मॉस्को, 1969, पृ. 122-23)। लेनिन ने कोमिण्टर्न की दूसरी कांग्रेस में कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका पर अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी भटकाव का खण्डन करते हुए कहा, **"टैनर का कहना है कि वह सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के पक्ष में है, लेकिन इस अधिनायकत्व की उसी प्रकार परिकल्पना नहीं की गयी है, जैसे कि हम करते हैं। वह कहते हैं कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व से हमारा मतलब सर्वहारा वर्ग की संगठित और वर्ग सचेत अल्पसंख्या की तानाशाही से है।**

"और तथ्यतः पूँजीवाद के युग में जब मज़दूरों की व्यापक आबादी शोषण के निरन्तर अधीन होती है और अपनी मानवीय सम्भावनाओं का विकास नहीं कर पाती, तो

मज़दूर वर्ग की राजनीतिक पार्टियों का सबसे चारित्रिक गुण यह होता है कि वे वर्ग की एक छोटी सी अल्पसंख्या को ही समेटती हैं। एक राजनीतिक पार्टी केवल वर्ग की अल्पसंख्या को ही समेट सकती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि हर पूँजीवादी समाज में वर्ग सचेत मज़दूर कुल मज़दूर आबादी की एक छोटी सी अल्पसंख्या ही हो सकते हैं। इसीलिए हमें मानना ही चाहिए कि केवल यह वर्ग सचेत अल्पसंख्या ही मज़दूरों के व्यापक जनसमुदायों को नेतृत्व दे सकती है और उनका मार्गदर्शन कर सकती है।" (लेनिन, *संग्रहीत रचनाएँ*, खण्ड 32, अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 235)। सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी सर्वहारा वर्ग के सर्वश्रेष्ठ तत्वों को अपने में शामिल करती है, सर्वहारा वर्ग के संघर्षों में सतत् भागीदारी करती है, मार्क्सवाद को अपने मार्गदर्शक सिद्धान्त के तौर पर अपनाती है और सर्वहारा वर्ग के विश्व दृष्टिकोण का मूर्त रूप होती है। इसका सीधा अर्थ यह है कि पार्टी सर्वहारा वर्ग की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। निश्चित तौर पर, क्रान्ति से पूर्व पार्टी में सर्वहारा वर्ग का एक बेहद छोटा हिस्सा शामिल होता है, जो कि सर्वहारा वर्ग का सबसे वर्ग सचेत, उन्नत और जुझारू हिस्सा है। लेकिन ठीक इसी कारण से यह उन्नत दस्ता सर्वहारा वर्ग की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व कर सकता है। इसके अलावा आप और किसी भी रूप में क्रान्तिकारी राजनीतिक की कल्पना नहीं कर सकते।

जाहिर तौर पर, ऐसी सूरत में पार्टी में जो नौकरशाही प्रवृत्तियाँ पैदा होंगी, उनके ख़ात्मे का सवाल पार्टी द्वारा किसी कार्यकारी निर्णय का सवाल नहीं है। पार्टी निर्णय पास करके या प्रस्ताव पास करके इन विकृतियों को दूर नहीं कर सकती है। क्योंकि उसने निर्णय पास करके इन विकृतियों को पालना भी नहीं शुरू किया था। यह समाज में जनता के उन्नत और पिछड़े हिस्सों के बीच मौजूद अन्तर का ही एक प्रतिबिम्बन होता है। यह अन्तर वर्ग समाज के भीतर ख़त्म हो ही नहीं सकता। समाजवादी संक्रमण के दौरान यह तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं के दूर होने के साथ ही क्रमिक प्रक्रिया में विलोपित हो सकता है। इसके पूरे विलोपन की मंज़िल कम्युनिस्ट समाज में ही आ सकती है। लेकिन तब तक न तो पार्टी की ज़रूरत होगी और न ही राज्य की! इसलिए एक वर्ग समाज (जिसमें कि समाजवादी संक्रमणशील समाज शामिल है) के रहते हुए अगुआ और पिछड़े के बीच का फर्क, आम जनसमुदायों और नेतृत्व के बीच का फर्क और हिरावल और वर्ग के पिछड़े हिस्सों के बीच का फर्क मौजूद रहेगा। और यदि अन्तर मौजूद होगा तो निश्चित तौर पर दोनों के बीच एक सम्बन्ध स्थापित होगा। दोनों के बीच अन्तरविरोध का भी एक तत्व ऐतिहासिक-दार्शनिक तौर पर मौजूद होगा। जाहिर तौर पर, समूचा वर्ग यदि स्वत:स्फूर्त रूप से सर्वहारा अवस्थिति पर पहुँच जाता तो, क्रान्ति के पहले और बाद में भी पार्टी की कोई आवश्यकता नहीं होती। और चूँकि पार्टी या हिरावल सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण का मूर्त रूप है और सर्वहारा वर्ग का उन्नत दस्ता है, इसलिए सर्वहारा वर्ग की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करने के कार्य पर उसका दावा ऐतिहासिक और राजनीतिक तौर पर पूर्णत: वैध है। इस दावे पर मज़दूर वर्ग को अपने आपमें कोई असुविधा या आपत्ति नहीं होती है, न कभी हुई है! इस पर दिक्कत होती है ट्रेड यूनियनवादियों, अराजकतावादियों और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी टटपुँजिया बुद्धिजीवियों को, जैसे कि श्री सुजीत दास! ऐसे लोग ही मज़दूर वर्ग में यह प्रदूषण फैलाते हैं, और जो ऐतिहासिक तौर पर वैध और नैसर्गिक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है, उसे अवैध और अनैसर्गिक बना देते हैं। निश्चित तौर पर, सर्वहारा वर्ग के हिरावल के लिए अपनी इस विशिष्ट ज़िम्मेदारी

और कार्य के कारण अपने भीतर पैदा होने वाली नौकरशाहाना विकृति से संघर्ष करना एक गम्भीर मुद्दा है, जिसे जनसमुदायों से जीवन्त रिश्ता बनाये रखकर और उसने सीखते हुए उन्हें सिखाने के दृष्टिकोण को अपनाकर ही हल किया जा सकता है। यह एक सतत् विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष का मसला है। जिन्होंने इन्हें आनन-फानन में दूर कर देने का दावा किया उनकी लेनिन ने खूब खिल्ली उड़ाई:

"हमारे 1919 के कार्यक्रम में हमने लिखा था कि नौकरशाहाना प्रथाएँ मौजूद हैं। जो भी आता है और इन नौकरशाहाना प्रवृत्तियों पर रोक लगाने की माँग करता है, वह जनोत्तेजक नेता बन रहा है। जब आपने "नौकरशाही प्रथाओं पर रोक लगाने" का आह्वान किया, तो वास्तव में यह जनोत्तेजक भाषणबाज़ी थी। हम आने वाले कई वर्षों तक नौकरशाही की बुराइयों के ख़िलाफ़ लड़ते रहेंगे, और जो कोई भी कुछ और सोचता है वह जनोत्तेजक नेता बन रहा है और धोखा दे रहा है, क्योंकि नौकरशाही की बुराइयों को दूर करने के लिए सैकड़ों कदमों की आवश्यकता होगी, पूर्ण साक्षरता और संस्कृति और मज़दूर-किसान जाँच की गतिविधियों में भागीदारी की ज़रूरत होगी। श्ल्याप्निकोव उद्योग व व्यापार के जनकमिसार और श्रम के जनकमिसार रहे हैं। क्या उन्होंने नौकरशाहाना प्रथाओं पर रोक लगा दी है?" (लेनिन, **'दि सेकेण्ड ऑल रशिया कांग्रेस ऑफ माइनर्स'**, *ऑन ट्रेड यूनियंस,* छठाँ मुद्रण, अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ.)। लेनिन ने अन्य जगहों पर स्पष्ट लिखा है कि जब तक व्यापक मेहनतकश जनता का सांस्कृतिक स्तर और राजनीतिक चेतना का स्तर नीचे रहेगा तब तक कानून या आज्ञप्तियों को पास करके नौकरशाहाना विकृतियों और बुर्जुआ विरूपताओं को दूर कर देने की बात करना कोरी बकवास है। जब तक मानसिक और शारीरिक श्रम, गाँव और शहर और उद्योग और कृषि का विभेद कायम रहेगा, तब तक यह सम्भव ही नहीं है। तब तक पार्टी के ज़रिये ही सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व लागू हो सकता है, और अन्य किसी भी चीज़ की बात करना अनर्गल बकबक है, जो कि सुजीत दास और उनके समान सभी अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी लगातार ही करते रहते हैं। और जब ये विभेद मिट जायेंगे, पूँजीवादी श्रम विभाजन, बुर्जुआ विशेषाधिकार, विनिमय सम्बन्ध आदि ख़त्म हो जायेंगे तो वर्ग विभेद भी ख़त्म हो चुके होंगे, और किसी राज्य या तानाशाही की आवश्कयता नहीं होगी। इसलिए कहा जा सकता है कि पूरे समाजवादी संक्रमण के दौरान पार्टी के नेतृत्व में ही सोवियतें (या उनके जैसा कोई भी निकाय) सर्वहारा सत्ता का उपकरण बन सकता है और सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रमुख उपकरण पार्टी ही रहेगी। जैसा कि हमने पहले भी लिखा है, जैसे-जैसे सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक चेतना उन्नत होगी, जैसे-जैसे व्यापक मेहनतकश जनता के बीच सर्वहारा विचारधारा का वर्चस्व निर्णायक रूप में स्थापित होगा वैसे-वैसे पार्टी की संस्थागत नेतृत्व की भूमिका कम होती जायेगी, और पार्टी अधिक से अधिक विचारधारात्मक मार्गदर्शक की भूमिका में आती जायेगी। लेकिन बुर्जुआ विचारधारा के वर्चस्व के निर्णायक रूप से टूटे बगैर जो भी पार्टी की भूमिका के वज़न को कम करने की कोशिश करता है, वह वास्तव में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की जड़ें खोदने का काम कर रहा है।

माओ त्से तुंग ने भी इस सवाल को स्पष्ट दृष्टि से देखा और लेनिन और स्तालिन की पार्टी-विषयक समझदारी को ही आगे बढ़ाया। माओ लिखते हैं: **"सोवियत राजनीतिक सत्ता के रूप के बारे में, जैसे ही वह असलियत में आयी, लेनिन प्रफुल्लित हुए और उसे**

मज़दूरों, किसानों और सैनिकों की एक विलक्षण रचना माना, और साथ ही सर्वहारा अधिनायकत्व का एक नया रूप माना। लेकिन फिर भी लेनिन ने तब इस बात का पूर्वानुमान नहीं लगाया था कि हालाँकि मज़दूर, किसान और सैनिक राजनीतिक सत्ता के इस रूप का इस्तेमाल कर सकते हैं, लेकिन इसका बुर्जुआज़ी और ख्रुश्चेव जैसे लोगों द्वारा भी इस्तेमाल किया जा सकता है।" (माओ त्से तुंग, *माओ मिसलेनी*, खण्ड-2, पृ. 452) 'सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना' में माओ लिखते हैं, **"(सत्ता के) उपकरणों और उद्यमों के नियन्त्रण में कौन लोग हैं इसका जनता के अधिकारों को सुनिश्चित करने पर ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ता है। अगर मार्क्सवादी-लेनिनवादी इनके नियन्त्रण में हैं, तो व्यापक बहुसंख्या के अधिकारों को सुनिश्चित किया जा सकता है। अगर दक्षिणपन्थी या दक्षिणपन्थी अवसरवादी नियन्त्रण में हैं, तो ये उपकरण और उद्यम गुणात्मक रूप से बदल सकते हें, और उनके सम्बन्ध में जनता के अधिकारों को सुनिश्चित नहीं किया जा सकता है। संक्षेप में, लोगों को अधिकार होना चाहिए कि वे अधिरचना को प्रबन्धित करें।"** (माओ, *सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना*, न्यूयॉर्क: मन्थली रिव्यू प्रेस, 1977, पृ. 61, अंग्रेज़ी संस्करण)। यहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है कि माओ जन संस्थाओं जैसे कि सोवियतों के दोनों ही पहलुओं को देख रहे हैं और समझ रहे हैं कि उनकी स्वत:स्फूर्तता का स्वागत किया जाना चाहिए, लेकिन उसका जश्न नहीं मनाया जा सकता है। बिना क्रान्तिकारी राजनीतिक नेतृत्व के ऐसी जनसंस्थाओं का चरित्र बदलते देर नहीं लगती। यह नेतृत्व पार्टी ही दे सकती है और इसलिए राज्यसत्ता और अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण पार्टी के हाथ होना चाहिए, हालाँकि शासन और उत्पादन के निर्णयों को लागू करने का ठोस कार्य पार्टी नहीं करती और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को पार्टी से आम मेहनतकश जनसमुदायों तक पहुँचाने की पूरी व्यवस्था ट्रेड यूनियनों और सोवियतों के ज़रिये ही काम कर सकती है। सत्ता के चरित्र का प्रश्न इस बात से हल होता है कौन लोग उसका नियन्त्रण कर रहे हैं। और यहाँ माओ स्पष्ट हैं कि उनका अर्थ पार्टी से ही है। माओ पार्टी और जनता को एक-दूसरे के ख़िलाफ़ नहीं खड़ा करते, बल्कि पार्टी को मेहनतकश जनसमुदायों की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्ति मानते हैं।

च) स्वत:स्फूर्ततावाद और ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद के ख़िलाफ़ लेनिन

वास्तव में, सुजीत दास जिस तर्क से समाजवादी निर्माण के दौरान पार्टी की भूमिका, वर्ग से उसके रिश्ते और राज्य में उसकी स्थिति पर सवाल खड़ा कर रहे हैं, जिस तर्क से वह ट्रेड यूनियनों को स्वतन्त्र बनाये जाने की वकालत कर रहे हैं, उस तर्क से उन्हें समाजवादी क्रान्ति के पहले भी पार्टी की भूमिका पर सवाल खड़े करने चाहिए। क्योंकि वास्तव में वह हिरावल और वर्ग के रिश्तों के बारे में जो सामान्य सूत्रीकरण दे रहे हैं, वे सूत्रीकरण किसी भी कोण से लेनिनवादी नहीं हैं। उल्टे उनके ज़्यादातर सूत्रीकरण मेंशेविकों और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादियों के तर्क हैं। लेनिन ने 1903 से पार्टी की प्रकृति और चरित्र पर जारी बहस में ही कहा था कि मज़दूर वर्ग की स्वत:स्फूर्तता का जश्न मनाना कम्युनिस्ट पार्टी का काम नहीं है। कम्युनिस्ट पार्टी का काम है कि वह मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक अनुभवों की समीक्षा और समाहार करे और सर्वहारा वर्ग के ऐतिहासिक वर्ग हितों

और उसके ऐतिहासिक लक्ष्य और उत्तरदायित्वों को सूत्रबद्ध करे; ऐसा वह तभी कर सकती है, जब उसने स्वयं को सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण, यानी कि मार्क्सवाद, का मूर्त रूप बना लिया हो और जब उसने सर्वहारा वर्ग के सर्वश्रेष्ठ उन्नत और जुझारू तत्वों को आत्मसात कर लिया हो। इसके साथ ही, कम्युनिस्ट पार्टी निरन्तर वर्ग के साथ एक जीवन्त सम्पर्क बनाये रखती है जो कि उसे एक कमोबेश सही राजनीतिक लाइन पर बने रहने योग्य बनाता है। लेकिन मज़दूर वर्ग, आम तौर पर, स्वयं अपनी स्वत:स्फूर्त चेतना से कम्युनिस्ट नहीं बन सकता, और न ही वह समाजवाद के आदर्श को अपना सकता है। पूँजीवादी समाज में मज़दूर का जीवन ही ऐसा होता है कि वह अपनी मुक्ति के रास्ते को स्वयं नहीं सूत्रबद्ध कर सकता। इसलिए स्वत:स्फूर्त मज़दूर आन्दोलन कभी भी आर्थिक तर्क से आगे नहीं जा सकता। और आर्थिक संघर्ष अपने आप, चाहे वे कितने भी जुझारू क्यों न हों, समाजवाद के लिए राजनीतिक संघर्ष में तब्दील नहीं हो सकते। मज़दूर आन्दोलन को समाजवाद के आदर्श को स्वीकार करने के लिए "बाह्य" हस्तक्षेप की ज़रूरत पड़ती है। उसमें विचारधारा का तत्व हमेशा बाहर से आता है। देखें कि लेनिन के इस बारे में क्या विचार हैं:

"...और अगर हम "स्वत:स्फूर्त तत्व" की बात करें, तो बेशक, सबसे पहले इस हड़ताल के आन्दोलन को ही स्वत:स्फूर्त मानना चाहिए। लेकिन स्वत:स्फूर्तता के कई प्रकार होते हैं। रूस में साठ और सत्तर के दशक में (और यहाँ तक कि उन्नीसवीं सदी के पहले अर्द्धांश में भी) हड़तालें हुईं, और उनमें मशीनों का स्वत:स्फूर्त तरीके से विनाश हुआ, आदि। इन "विद्रोहों" की तुलना में, नब्बे के दशक की हड़तालों को भी "सचेतन" कहा जा सकता है, और वे इस सीमा तक मज़दूर वर्ग के आन्दोलन द्वारा इस अवधि में हासिल उन्नति को चिन्हित करती हैं। यह दर्शाता है कि "स्वत:स्फूर्त तत्व", सारत:, भ्रूण रूपी चेतना के अलावा और कुछ नहीं है। यहाँ तक कि आदिम विद्रोह भी एक किस्म की चेतना के एक ख़ास स्तर तक जागृत होने की अभिव्यक्ति थे। उत्पीड़नकारी व्यवस्था के स्थायित्व के सिद्धान्त पर युगों-युगों से चली आ रही मज़दूरों की आस्था कमज़ोर पड़ने लगी थी और उन्होंने सामूहिक प्रतिरोध की ज़रूरत को महसूस करना, मैं यह नहीं कहूँगा कि समझना, शुरू कर दिया था और निश्चित तौर पर अधिकारियों के समक्ष दासवत समर्पण का परित्याग कर दिया था। लेकिन, फिर भी, इसकी प्रकृति संघर्ष की नहीं बल्कि निराशा और प्रतिशोध के फूट पड़ने की ही ज़्यादा थी। नब्बे के दशक की हड़तालों ने सचेतनता के कहीं अधिक चिन्ह दर्शाये; ठोस माँगें पेश की गयीं, हड़तालों का समय सावधानीपूर्वक तय किया गया था, अन्य जगहों के ज्ञात मामलों और घटनाओं पर विचार-विमर्श किया गया, आदि। विद्रोह सिर्फ उत्पीड़ित लोगों का प्रतिरोध थे, जबकि व्यवस्थित हड़तालें भ्रूण रूपी वर्ग संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती थीं, लेकिन केवल भ्रूण रूप में ही। अपने आप में, ये हड़तालें सिर्फ ट्रेड यूनियनों का संघर्ष थीं, और तबतक सामाजिक जनवादी (यानी, कम्युनिस्ट–*अनुवादक*) संघर्ष नहीं बनी थीं। वे मज़दूरों और नियोक्ताओं के बीच उभरते अन्तरविरोधों का संकेत थीं; लेकिन मज़दूर पूरी आधुनिक राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के साथ अपने हितों के असमाधेय अन्तरविरोध के प्रति सचेत नहीं थे, और न हो सकते थे, अर्थात, उनकी चेतना अभी सामाजिक-जनवादी चेतना नहीं थी। इस रूप में, नब्बे के दशक की हड़तालें, "विद्रोहों" की तुलना में बहुत अधिक उन्नत होते हुए भी, पूरी तरह स्वत:स्फूर्त

आन्दोलन ही थीं।" (लेनिन, 1977, **'क्या करें?'**, *सेलेक्टेड वर्क्स*, खण्ड-1, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ.113-114, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)

इस मामले में लेनिन उस समय काऊत्स्की को बेहद सटीक मानते थे। वास्तव में, उन्होंने अपनी रचना 'क्या करें?' में इस प्रश्न पर काऊत्स्की को बार-बार उद्धृत किया है। काऊत्स्की उस समय दूसरे इण्टरनेशनल के सम्मानित नेता थे और अभी उन्होंने संशोधनवाद का रास्ता नहीं पकड़ा था। उनके ऐसे ही एक उद्धरण को देखते हैं, जिसे लेनिन ने भी अपनी उपरोक्त रचना में दिया है:

"हमारे कई संशोधनवादी आलोचकों का विश्वास है कि मार्क्स ने दावा किया था कि आर्थिक विकास और वर्ग संघर्ष न सिर्फ समाजवादी उत्पादन की स्थितियाँ, बल्कि, प्रत्यक्ष तौर पर, इसकी अपरिहार्यता की चेतना भी निर्मित करते हैं। और इन आलोचकों का दावा है कि इंग्लैण्ड, सबसे उन्नत पूँजीवादी देश, किसी अन्य देश की अपेक्षा इस चेतना से सबसे दूर है। मसौदे के आधार पर, यह माना जा सकता है कि यह कथित परम्परागत मार्क्सवादी दृष्टि, जिसका इस प्रकार स्वतः ही खण्डन हो जाता है, पर उस समिति की साझा सहमति थी जिसने आस्ट्रियाई कार्यक्रम का मसौदा तैयार किया था। मसौदा कार्यक्रम में कहा गया है: 'पूँजीवादी विकास सर्वहारा की संख्या में जितनी अधिक वृद्धि करता है, उतना ही अधिक सर्वहारा पूँजीवाद के खिलाफ लड़ने को बाध्य होता है और उतना ही योग्य बनता जाता है। सर्वहारा समाजवाद की सम्भावना और उसकी ज़रूरत के प्रति सचेत हो जाता है।' इस सम्बन्ध में ऐसा लगता है कि समाजवादी चेतना सर्वहारा वर्ग संघर्ष का एक अपरिहार्य और सीधा परिणाम है। लेकिन यह निहायत ग़लत है। बेशक, एक सिद्धान्त के तौर पर समाजवाद की जड़ें आधुनिक आर्थिक सम्बन्धों में हैं जैसे कि सर्वहारा का वर्ग संघर्ष, और उसी की तरह स्वयं सर्वहारा वर्ग, पूँजीवाद-जनित आम ग़रीबी और विपदा के ख़िलाफ़ संघर्ष से उभरता है। लेकिन समाजवाद और वर्ग संघर्ष साथ-साथ विकसित होते हैं न कि एक-दूसरे के कारण जन्म लेते हैं; दोनों अलग-अलग स्थितियों के तहत उत्पन्न होते हैं। आधुनिक समाजवादी चेतना केवल गहन वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर उत्पन्न हो सकती है। वास्तव में, आधुनिक अर्थशास्त्र का विज्ञान समाजवादी उत्पादन की उतनी ही ज़रूरी शर्त है जितनी कि कह लीजिए आधुनिक तकनीक, और सर्वहारा इन दोनों में से किसी का निर्माण नहीं कर सकता, चाहे वह ऐसा करने की उसकी कितनी भी इच्छा क्यों न हो; दोनों आधुनिक सामाजिक प्रक्रिया से उत्पन्न होते हैं। विज्ञान का वाहक सर्वहारा नहीं, बल्कि बुर्जुआ बौद्धिक वर्ग है: इसी संस्तर के अलग-अलग लोगों के दिमाग़ में आधुनिक समाजवाद उत्पन्न हुआ, और उन्हीं लोगों ने इसे बौद्धिक रूप से अपेक्षाकृत उन्नत सर्वहाराओं तक पहुँचाया जो, जहाँ स्थितियाँ इसके अनुकूल होती हैं, सर्वहारा वर्ग संघर्ष में इसका समावेश करते हैं। इस प्रकार, सर्वहारा के वर्ग संघर्ष में समाजवादी चेतना बाहर से लायी जाती है [von Aussen Hineingetragenes] न कि यह इसके भीतर से स्वतःस्फूर्त ढंग से [urwüchsig] पैदा होती है। तदनुरूप, पुराना हैनफेल्ड कार्यक्रम काफी सटीक ढंग से कहता है कि सामाजिक-जनवाद का काम सर्वहारा को उसकी स्थिति की चेतना और उसके कार्यभार की चेतना से भरना (शब्दशः सन्तृप्त कर देना) है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती अगर चेतना वर्ग संघर्ष से स्वतः उत्पन्न हो जाती।

नये मसौदे में यह प्रस्ताव पुराने मसौदे से उठा लिया गया है, और इसे उपरोक्त प्रस्ताव में जोड़ दिया गया है। लेकिन इससे विचारों की श्रृंखला पूरी तरह टूट गयी...” (*वही*, पृ. 120-121, लेनिन द्वारा उद्धृत)

'क्या करें?' में लेनिन ने काऊत्स्की के इस कथन के साथ एक स्पष्टीकरण जोड़ा है:

“बेशक, इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसी विचारधारा निर्मित करने में मज़दूरों की कोई भूमिका नहीं है। हालाँकि, वे इसमें मज़दूर के तौर पर नहीं, बल्कि समाजवादी सिद्धान्तकारों के तौर पर, प्रूधों और वाइटलिंगों के रूप में, भागीदारी करते हैं; दूसरे शब्दों में, वे केवल तभी भाग लेते हैं और उसी हद तक भाग लेते हैं जब और जिस हद तक वे अपने युग का ज्ञान हासिल करने और उसे विकसित करने के कमोबेश योग्य हो जाते हैं। लेकिन मज़दूर इस कार्य में और अधिक सफल हों इसके लिए सामान्य तौर पर मज़दूरों की चेतना के स्तर को बढ़ाने के हरसम्भव प्रयास किये जाने चाहिए; यह ज़रूरी है कि मज़दूर खुद को “मज़दूर साहित्य” की कृत्रिम सीमाओं में बाँधकर न रखें बल्कि वे सामान्य साहित्य में उत्तरोत्तर महारत हासिल करते जाएँ। “खुद को बाँधकर न रखें” की बजाय “उन्हें बाँधकर न रखा जाए” कहना और भी उचित होगा, क्योंकि मज़दूर खुद पढ़ने की चाहत रखते हैं और वह सब पढ़ते हैं जो बौद्धिक तबके के लिए लिखा जाता है, और केवल कुछ (बुरे) बुद्धिजीवी ही ऐसा मानते हैं कि फैक्टरी की दशाओं के बारे में कुछेक चीज़ें बता देना और पहले से ज्ञात चीज़ों का ही बार-बार दुहराते जाना “मज़दूरों के लिए” पर्याप्त है।” (*वही*, 121, फुटनोट में)

यह मान लेना कि ट्रेड यूनियनें वैचारिक रूप से स्वतः क्रान्तिकारी बन जायेंगी और समाजवादी निर्माण और निर्णय लेने के रास्ते पर चल पड़ेंगी, कल्पनालोक में विचरण करने के समान है। क्रान्ति के पहले जो मज़दूर वर्ग इस समस्या का स्वायत्त और स्वतन्त्र रूप से समाधान नहीं कर सकता, क्या वह समाजवादी निर्माण के कुछ वर्षों में इस मंज़िल पर पहुँच जायेगा? नहीं! लेनिन ने यही जवाब 1919 में दिया था। समाजवादी क्रान्ति के बाद भी लम्बे समय तक सर्वहारा वर्ग के हिरावल को समाजवादी निर्माण और सर्वहारा अधिनायकत्व को लागू करने में वही संस्थाबद्ध नेतृत्व वाली भूमिका अदा करनी पड़ेगी जो कि क्रान्ति के पहले क्रान्ति के लिए मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को राजनीतिक नेतृत्व देने में अदा करनी पड़ी थी। जो इस बुनियादी चीज़ को नहीं समझते, वास्तव में वे मार्क्स के अलगाव के सिद्धान्त, लेनिन के हिरावल पार्टी के सिद्धान्त और हिरावलपन्थ और हिरावल पार्टी के लेनिनवादी सिद्धान्त को रत्ती भर भी नहीं समझते। 'क्या करें?' में लेनिन लिखते हैं:

“चूँकि स्वतन्त्र, ख़ुद आम मज़दूरों द्वारा अपने आन्दोलन की प्रक्रिया के दौरान विकसित विचारधारा का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता, इसलिए <u>केवल ये रास्ते ही</u> रह जाते हैं – या तो बुर्जुआ विचारधारा को चुना जाये या समाजवादी विचारधारा को। बीच का कोई रास्ता नहीं है (क्योंकि मानवजाति ने कोई “तीसरी” विचारधारा पैदा नहीं की है, और इसके अलावा जो समाज वर्ग विरोधों के कारण बँटा हुआ है, उसमें कोई ग़ैर-वर्गीय या वर्गेतर विचारधारा कभी हो नहीं सकती)। इसलिए, समाजवादी विचारधारा के महत्व को <u>किसी भी तरह</u> कम करके आँकने, उससे <u>ज़रा भी मुँह मोड़ने</u> का मतलब बुर्जुआ विचारधारा को मज़बूत करना होता है। स्वयंस्फूर्तता की बहुत चर्चा हो रही है, लेकिन मज़दूर आन्दोलन के <u>स्वयंस्फूर्त</u> विकास का परिणाम यह होता है कि

यह आन्दोलन बुर्जुआ विचारधारा के अधीन हो जाता है, उसका विकास *क्रीडो* के कार्यक्रम के अनुसार ही होने लगता है, क्योंकि स्वयंस्फूर्त मज़दूर आन्दोलन ट्रेड-यूनियनवाद होता है, जर्मन भाषा में कहें तो वह *Nur-Gewerkschaftlerei* होता है, और ट्रेड-यूनियनवाद का मतलब मज़दूरों को विचारधारा के मामले में बुर्जुआ विचारधारा का दास बनाकर रखना होता है। इसलिए हमारा कार्यभार, सामाजिक-जनवादियों का कार्यभार है स्वयंस्फूर्ततावाद के ख़िलाफ़ लड़ना, मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के उस स्वयंस्फूर्त, ट्रेड-यूनियनवादी रुझान को, जो उसे बुर्जुआ वर्ग के साये में ले जाता है, मोड़ना और और उसे क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद के नेतृत्व में लाना।" (*वही*, पृ. 121-122, अनुवाद हमारा)

ऐसे अनगिनत उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट किया जा सकता है कि सुजीत दास जैसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों का विवाद केवल सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण में पार्टी की भूमिका के प्रश्न पर नहीं है। वास्तव में, यह विवाद पार्टी की ही ज़रूरत पर है और ऐसे तमाम लोग ही इस समय, वर्तमान मज़दूर आन्दोलन में एक "जनराजनीतिक केन्द्र" खड़ा करने की माँग कर रहे हैं। इन लोगों का यह मानना है कि मज़दूर वर्ग का अपना जनराजनीतिक केन्द्र एक खुला केन्द्र होना चाहिए, जिसमें सभी "पूँजीवाद-विरोधी" मज़दूर शामिल हो सकें, चाहें वे मार्क्सवादी हों या न हों। ऐसे मज़दूर, ट्रेड यूनियन के स्तर से ऊपर उठ चुके होते हैं, लेकिन पार्टी के स्तर से नीचे होते हैं। इसलिए उनके लिए एक जनराजनीतिक केन्द्र बनाया जाना चाहिए! और यह जनराजनीतिक केन्द्र क्या करेगा? वह सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के प्राधिकार को आम मेहनतकश जनता में स्थापित करेगा, यानी पार्टी का काम करेगा; वह चुनावों में हिस्सेदारी करेगा, यानी कि दूमा धड़े वाला काम करेगा; वह ट्रेड यूनियन वाला काम भी करेगा; और वह सोवियतों का काम भी करेगा! **फिर पार्टी क्या करेगी? और फिर आपने अभी तक अपनी पार्टी बना ही क्यों रखी है? उसे भंग क्यों नहीं कर देते?** क्योंकि आपके सारे कार्य तो आपका यह जनराजनीतिक केन्द्र ही कर देगा! और जब आप इस जनराजनीतिक केन्द्र का नाम सुनते हैं, तो आपको समझ में आने लगता है कि ये बातें कहाँ से आ रही हैं। इन अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के जनराजनीतिक केन्द्र का नाम भी "मज़दूर परिषद" है, इसमें वे बीच में "क्रान्ति" शब्द जोड़ देते हैं! लेकिन इससे कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता है। **अगर नामपद्धति (नोमेनक्लेचर) पर भी ध्यान दें, तो सुजीत दास जैसे लोग पॉल मात्तिक, गॉर्टर, पान्नेकोएक, ओसिंस्की, रूले, स्मिर्नोव जैसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के ज़्यादा करीब हैं।** और कुछ मामलों में तो ऐसे लोग **मारियो ट्रॉण्टी** जैसे लोगों के "मज़दूरवाद" (ऑपराइज़्मो) और **कॉर्नेलियस कास्तोरियादिस** के स्वच्छन्दतावादी समाजवाद (लिबर्टैरियन सोशलिज़्म) के करीब पड़ते हैं। उनकी करीबी किसी से भी ज़्यादा हो, एक बात तो तय है: **लेनिन के सिद्धान्तों से इनका दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है, चाहे वे सिद्धान्त समाजवादी संक्रमण सम्बन्धी हों या पार्टी, वर्ग, राज्य और ट्रेड यूनियनों के आपसी रिश्तों के बारे में।**

●

सोवियत समाजवाद के अपने हास्यास्पद विश्लेषण में सुजीत दास आगे ग़लतबयानियों, असत्यों और तथ्यों के साथ दुराचार के स्तर पर कैसे पहुँच गये हैं, यह हम आगे तब दिखलायेंगे जब हम 1930 के दशक के सोवियत समाजवाद के बारे में सकारात्मक तौर पर अपना विवेचन ठोस ऐतिहासिक तथ्यों के साथ रखेंगे, जैसा कि हमने शुरू में ही बताया था। यह काम हम अभी हाथ में नहीं ले सकते थे, क्योंकि यह अलग से एक विस्तृत काम है। इसलिए 1917 से 1953 तक के सोवियत इतिहास पर अपना आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखते हुए इस काम को करना ज़्यादा बेहतर होगा। अभी हमारे विश्लेषण का मकसद सिर्फ़ यह था कि हम 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की अवस्थितियों के राजनीतिक, विचारधारात्मक और दार्शनिक मूल और स्रोतों को पकड़ें; उनकी लेनिनवादी अवस्थितियों से तुलना करें; उनके अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद को बेनक़ाब करें और दिखलायें कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के प्रति जुबानी वफ़ादारी रखने के बावजूद उनकी असली राजनीति कहाँ से आ रही है। इस प्रक्रिया में हमें सुजीत दास की जितनी तथ्य-सम्बन्धी तोड़-मरोड़ का खण्डन करना ज़रूरी था, वह हमने किया है। लेकिन उनके द्वारा सोवियत इतिहास का जो मिथकीकरण किया गया है उस पर हम आगे विस्तार से लिखेंगे।

नोट: *(1) उपरोक्त सभी उद्धरणों में अंग्रेज़ी स्रोतों से लिये गये उद्धरणों का अनुवाद हमारा है, क्योंकि अधिकांश स्रोतों का पहले से मौजूद हिन्दी अनुवाद सन्तोषजनक नहीं था और कई जगहों पर ग़लत था। (2) यह लेख 'दिशा सन्धान' के अगले अंकों में जारी रहेगा, इसलिए इसकी सन्दर्भ सूची हम पूरे शोध निबन्ध के अन्त में देंगे। फिलहाल, हमने उद्धरणों के बाद कोष्ठकों में पूरा सन्दर्भ दे दिया है।*

भारत में नवउदारवाद के दो दशक

● सुखविन्दर

भारतीय हुक़्मरानों द्वारा 1991 में 'नयी आर्थिक नीति' के नाम पर अपनायी गयी नवउदारवादी नीतियों को लागू हुए दो दशक पूरे हो चुके हैं। 1991 में नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की शुरुआत के समय भारतीय हुक़्मरानों द्वारा किये गये दावों की पड़ताल और इन नीतियों के भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर पड़े प्रभावों को देखने के लिए दो दशकों का समय पर्याप्त से अधिक है।

1991 में जब भारतीय हुक़्मरानों ने नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की शुरुआत की थी तो उन्होंने दावा किया था कि इन सुधारों की बदौलत भारत एक आर्थिक महाशक्ति या एक और 'एशियाई बाघ' बनकर दुनिया के नक़्शे पर उभरेगा। गुज़रे दो दशकों के दौरान इन आर्थिक सुधारों पर अमल ने दिखला दिया है कि भारतीय हुक़्मरानों के उक्त दावे कितने खोखले थे। कुछ वामपन्थी ग्रुपों को 1991 के आर्थिक सुधारों के रूप में उपनिवेशवाद की वापसी नज़र आयी, कुछ ग्रुपों ने दावा किया कि इन आर्थिक सुधारों ने उनके इस दावे की पुष्टि की है कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग साम्राज्यवाद का दलाल है। ऐसे दावे करते हुए वे भारतीय बुर्जुआ वर्ग के साम्राज्यवाद के साथ सम्बन्धों की अपने ग़लत थीसिस के पक्ष में पहले से भी अधिक कुतर्क करने लगे। ये ग्रुप भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा अपनायी गयी नवउदारवादी नीतियों के पीछे सिर्फ़ साम्राज्यवाद की साज़िश या साम्राज्यवादी निर्देशों को ही देखते हैं। वे भारतीय बुर्जुआ वर्ग की राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र हैसियत को मानने से इन्कार करते हैं। बिना शक भारतीय बुर्जुआ

वर्ग द्वारा अपनायी गयी इन आर्थिक नीतियों के पीछे साम्राज्यवादी देशों के दबाव से इन्कार नहीं किया जा सकता, लेकिन ये नीतियाँ भारतीय बुर्जुआ वर्ग की भी ज़रूरत थीं। नवउदारवादी आर्थिक नीतियाँ साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी और भारतीय बुर्जुआ वर्ग की ज़रूरतों (किसी न किसी रूप में तीसरी दुनिया के देशों के बुर्जुआ वर्ग के बारे में भी यही सच है, क्योंकि लगभग इन सभी देशों के बुर्जुआ वर्ग ने थोड़ा आगे-पीछे यही नीतियाँ अपनायी हैं) के विचित्र तालमेल की पैदावार हैं। भारत की सामाजिक जनवादी पार्टियाँ (भाकपा, माकपा, आदि) और उनसे जुड़े बुद्धिजीवी इन नवउदारवादी नीतियों का 'विरोध' करते हुए नेहरू के दौर की आर्थिक नीतियों की ओर वापसी की दुहाई देने लगे। ये पार्टियाँ यह समझने में अक्षम हैं या समझते हुए भी समझने से इन्कार करती हैं कि नेहरू के दौर की आर्थिक नीतियों का तार्किक नतीजा ही नवउदारवादी आर्थिक नीतियाँ हैं। पिछले दो दशकों के व्यवहार और भारतीय अर्थव्यवस्था के वर्तमान संकट के प्रति भारतीय हुक्मरानों के रवैये ने दिखलाया है कि नवउदारवादी नीतियों के व्यवहार पर आगे बढ़ना ही भारतीय बुर्जुआ वर्ग के पास एकमात्र राह थी और इससे पीछे की ओर लौटना न तो इसके लिए मुमकिन था और न ही इसकी चाहत थी। नयी आर्थिक नीतियों का इन संशोधनवादी पार्टियों का विरोध नकली था, और जिन राज्यों में इन तथाकथित कम्युनिस्ट पार्टियों की सरकारें थीं वहाँ इन्होंने नयी आर्थिक नीतियों को ज़ोर-शोर से लागू किया। इन नीतियों का विरोध कर रही जनता (ख़ासकर बंगाल में) का निर्मम दमन किया गया और भारतीय बुर्जुआ वर्ग से इन संशोधनवादी पार्टियों को ख़ूब प्रशंसा हासिल हुई।

कार्ल मार्क्स ने लिखा था : "हेगेल ने किसी स्थान पर कहा है कि विश्व में बड़े महत्त्व वाले तथ्य एक तरह से दो बार घटित होते हैं। वह इसके साथ यह जोड़ना भूल गये, पहली बार त्रासदी के रूप में, दूसरी बार प्रहसन के रूप में।" (*लूई बोनापार्ट की अठारहवीं ब्रूमेर*)

हाँ, इतिहास ख़ुद को दोहराता है, लेकिन हू-ब-हू नहीं। भारत की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के संकटों के रूप में भी इतिहास ख़ुद को दोहरा रहा है। 1991 में जिस आर्थिक संकट पर काबू पाने के लिए भारतीय हुक्मरानों ने साम्राज्यवादी संस्थाओं - अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक - के दिशा-निर्देशों के तहत आर्थिक सुधारों की शुरुआत की थी, उसी तरह का संकट, बल्कि उससे भी गहरा और व्यापक आर्थिक संकट दो दशकों के बाद फिर से भारतीय अर्थव्यवस्था के दरवाज़े पर दस्तक दे रहा है। वित्तीय वर्ष 2011-12 की आख़िरी तिमाही में भारत के सकल घरेलू उत्पादन में भारी गिरावट आयी। भारतीय बजट, व्यापार व चालू खाते घाटे में भारी वृद्धि दर्ज़ हुई। डॉलर के मुकाबले भारतीय मुद्रा लगातार लड़खड़ा रही है। आने वाले दिनों में भारतीय अर्थव्यवस्था के संकट के और अधिक गहरे होने के अन्दाज़े लगाये जा रहे हैं। दरअसल 2007 से अमेरिकी सबप्राइम कर्ज़ संकट से शुरू हुआ विश्व पूँजीवाद का वर्तमान संकट अब भारत जैसी उभर रही अर्थव्यवस्थाओं (जो अभी तक न सिर्फ़ विश्व पूँजीवादी आर्थिक संकट की चपेट में आने से सापेक्षिक रूप से बची हुई थीं, बल्कि संकटग्रस्त विकसित पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं को भी राहत पहुँचा रही थीं) को भी अपनी चपेट में ले रहा है। भारतीय अर्थव्यवस्था की वर्तमान परिस्थिति ने कई बुर्जुआ अख़बारों (इकोनॉमिक टाइम्स) को मोटी सुर्ख़ियों में यह छापने के लिए मज़बूर कर दिया कि 'अलविदा 2020, स्वागतम 1991'। भारतीय हुक्मरानों का दावा था कि 2020 तक भारत एक आर्थिक महाशक्ति बनकर उभरेगा। यह आर्थिक महाशक्ति तो नहीं बन पाया, लेकिन 1991 जैसी

संकटग्रस्त हालत में ज़रूर पहुँच गया है। बीते दिनों, रसोई गैस और डीज़ल पर सब्सिडी पर कटौती, परचून सहित अनेकों क्षेत्रों में साम्राज्यवादी पूँजी को छूटें देने के फैसले की हिफ़ाज़त करने के लिए प्रधानमन्त्री ने इलेक्ट्रॉनिक प्रचार माध्यमों के ज़रिये 'राष्ट्र' के नाम अपना सन्देश दिया। इस सन्देश में भी उन्होंने माना कि देश 1991 जैसी परिस्थिति से गुज़र रहा है। प्रधानमन्त्री के इस स्वीकार में हम इतनी बढ़ोत्तरी ज़रूर करना चाहेंगे कि भारतीय अर्थव्यवस्था का मौजूदा रोग 1991 से अधिक भयानक है। इसकी विस्तृत चर्चा हम इस लेख में आगे चलकर करेंगे।

इस लेख का मकसद गुज़रे दो दशकों के भारत का आर्थिक इतिहास लिखना या कोई अकादमिक कसरत नहीं है। हमारा मकसद गुज़रे दो दशकों के दौरान नवउदारवादी आर्थिक सुधारों के भारतीय समाज और भारतीय अर्थव्यवस्था के चुनिन्दा क्षेत्रों पर पड़े प्रभावों की पड़ताल करना है और यह जानना है कि इसका भारत की समाजवादी क्रान्ति को सम्पन्न करने के लिए बनने वाले वर्गों के मोर्चे पर क्या असर पड़ेगा।

भारतीय अर्थव्यवस्था के पिछले दो दशक तेज़ पूँजीवादी विकास के दशक रहे हैं। इस दौरान भारत के कुल घरेलू उत्पादन की वृद्धि दर (ख़ासकर इस सदी के पिछले दशक के दौरान) काफ़ी ऊँची रही है। भारतीय अर्थव्यवस्था ने ऐसी वृद्धि दर आज़ादी के बाद पहले पन्द्रह वर्षों के दौरान ही देखी थी। 1951-1965 के दौरान भारत के औद्योगिक विकास की दर 7.8 प्रतिशत रही थी। 2001-2010 के दौरान भी भारत के कुल घरेलू उत्पादन की वृद्धि दर ऐसी ही रही। लेकिन इस विकास के फल आबादी के छोटे हिस्से ने ही चखे हैं। इस समय के दौरान नवधनिकों का एक नया वर्ग उभरा है। रिवायती अमीरों के धन में बेहिसाब वृद्धि हुई है। देशी-विदेशी पूँजीपतियों ने सत्ता की सरपरस्ती में देश के प्राकृतिक संसाधनों को दोनों हाथों से लूटा है। इन दो दशकों के दौरान भारतीय समाज के पोर-पोर में पूँजी की घुसपैठ और ज़्यादा बढ़ी है। पूँजी ने दूर-दराज़ के अब तक के अनछुए क्षेत्रों को अपनी चपेट में लिया है। भारतीय समाज पहले से कहीं अधिक ध्रुवीकृत हुआ है, छोटे मालिक बड़े स्तर पर उज़रती मज़दूरों की क़तारों में शामिल हुए हैं, जनता के ज़बरन विस्थापन, बेदख़ली में भारी वृद्धि हुई है। क्षेत्रीय असमानताएँ बढ़ी हैं।

इस लेख में आगे हम भारतीय अर्थव्यवस्था के उक्त रुझानों की विस्तृत चर्चा करेंगे। भारतीय अर्थव्यस्था और समाज पर नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की विस्तृत चर्चा से पहले इन सुधारों की पृष्ठभूमि को समझना ज़रूरी है जिससे गुज़रकर भारतीय अर्थव्यवस्था नवउदारवादी आर्थिक सुधारों तक पहुँची है।

नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की पृष्ठभूमि

भारत में नवउदारवादी नीतियों की आमद दो पड़ावों में हुई। पहले पड़ाव की शुरुआत 80 के दशक में हुई और दूसरे पड़ाव की शुरुआत 1991 में हुई जब प्रधानमन्त्री नरसिम्हा राव और तत्कालीन वित्तमन्त्री मनमोहन सिंह के नेतृत्व में उस समय की कांग्रेस सरकार 'नयी आर्थिक नीति' लेकर आयी थी। 1980 के दशक में जिन नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की शुरुआत हुई थी वे 1991 में 'नयी आर्थिक नीति' के रूप में सम्पूर्ण रूप में सामने आये। भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा अपनायी गयी नवउदारवादी आर्थिक नीतियों की जड़ दरअसल भारतीय अर्थव्यवस्था

के उस समय के गतिरोध में थी जिसका इसे 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध और 1970 के दशक के दौरान सामना करना पड़ा। 1947 में भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने सत्ता पर काबिज़ होने के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी रूपान्तरण की जो राह पकड़ी थी, उसी का तार्किक नतीजा 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध और 70 दशक की आर्थिक मन्दी थी।

1947 में भारत की राज्यसत्ता पर काबिज़ हुए बुर्जुआ वर्ग के सामने तीन कार्यभार थे। एक तो यह था कि भारत की सामन्ती, अर्द्ध-सामन्ती अर्थव्यवस्था को पूँजीवादी दिशा में विकसित करना। दूसरा था, साम्राज्यवाद से अभी-अभी हासिल की राजनीतिक आज़ादी को बचाये रखना। 1947 का सत्ता परिवर्तन तेलंगाना, तेभागा, पुनप्रा वायलार, रॉयल इण्डियन नेवी के सैनिक विद्रोह आदि तूफ़ानी जनसंघर्षों के दौरान और किसी हद तक इन्हीं जनसंघर्षों की बदौलत हुआ था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद से आज़ादी हासिल करने के लिए भारत की मेहनतकश जनता ने बेहिसाब क़ुर्बानियाँ दी थीं। और अब जब देश आज़ाद हो गया तो भारत की जनता को इस आज़ादी से बहुत उम्मीदें थीं। जनता को अब लूट-दमन, अपने जीवन के दुखों-कष्टों से मुक्ति मिलने की उम्मीद थी। सत्ता पर काबिज़ हुए भारतीय बुर्जुआ वर्ग के सामने तीसरा कार्यभार भारत की मेहनतकश जनता की इन उम्मीदों को ठण्डा करना था।

कोई डेढ़ सौ वर्ष की उपनिवेशवादी लूट के बाद कंगाल हुए भारत की सत्ता पर काबिज़ हुए बुर्जुआ वर्ग के पास देश के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए पूँजी की बेहद कमी थी। भारत में पूँजीवादी विकास के लिए अवसंरचनागत विशाल ढाँचे का निर्माण करने की ज़रूरत थी। लेकिन भारतीय बुर्जुआ वर्ग के पास इसके लिए बेहद अपर्याप्त साधन थे। देश के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए शुरुआती पूँजी संचय करने के लिए भारतीय बुर्जुआ वर्ग के सामने दो ही रास्ते थे। पहला था साम्राज्यवादी देशों, संस्थाओं से कर्ज़ या सहायता हासिल करना। लेकिन इसकी वजह से अभी-अभी हासिल की गयी आज़ादी ख़तरे में पड़ सकती थी, क्योंकि भारतीय बुर्जुआ वर्ग अभी काफ़ी कमज़ोर हालत में था। दूसरा रास्ता था भारत की मेहनतकश जनता की अधिक से अधिक लूट से पूँजी संग्रह किया जाये; ग़ौरतलब है कि पूँजी का दूसरा नाम 'मृत श्रम' ही होता है। भारतीय अर्थव्यवस्था का पूँजीवादी रूपान्तरण करने के लिए प्रारम्भिक पूँजी संचय के लिए यह दूसरा रास्ता था जो भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने अपनाया। भारत की मेहनतकश जनता द्वारा लम्बी जाँबाज़ लड़ाई के बाद आख़िर 1947 में देश आज़ाद हुआ था। अब देश के नयी दिशा में निर्माण के लिए जनता में काफ़ी उत्साह भी था। देश के नयी दिशा में निर्माण के इस उत्साह को भारतीय बुर्जुआ वर्ग अपने हित में इस्तेमाल कर सकता था और उसने बहुत कुशलता के साथ ऐसा किया भी।

देश के ऐसे ही माहौल की उपज वह रणनीति थी जो भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने देश के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए अपनायी। इस रणनीति का नाम 'बॉम्बे योजना' या 'टाटा-बिड़ला योजना' था। भारतीय बुर्जुआ वर्ग की इस रणनीति के तहत भारत के पूँजीवादी रूपान्तरण में राज्य को एक अहम भूमिका अदा करनी थी। दूसरी ओर, यह वह समय था जब विश्व भर में कम्युनिस्ट आन्दोलन उभार पर था। समाजवाद के सपने धरती के करोड़ों मेहनतकशों की आँखों में तैर रहे थे। बेशुमार क़ुर्बानियों की बदौलत दूसरे विश्वयुद्ध में समाजवादी सोवियत संघ विजयी होकर निकला था। फासीवाद के भस्मासुर को सोवियत संघ ने मिट्टी में मिला दिया था। पूर्वी यूरोप के अनेकों देशों को सोवियत यूनियन ने फासीवाद के जुए से मुक्त कराया। आज़ादी के बाद इन देशों में भी कम्युनिस्ट हुकूमतें अस्तित्व में आयीं। कम्युनिस्ट पार्टी के

नेतृत्व में चीन की नयी जनवादी क्रान्ति जीत की दहलीज़ पर थी। कम्युनिज़्म का 'प्रेत' पूरे संसार के पूँजीवादी हुक़्मरानों को डरा रहा था। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के बारे में भी यही सच है। लेकिन यहाँ की पार्टी (भाकपा) विचारधारात्मक-राजनीतिक तौर पर बेहद कमज़ोर पार्टी थी, लेकिन फिर भी भारत की मेहनतकश जनता पर इसका अच्छा-ख़ासा प्रभाव था। इस समय भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा दिया गया 'समाजवाद' का नारा इसी माहौल की उपज था। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के नेताओं ने भारत में 'समाजवाद' के निर्माण को अपना उद्देश्य घोषित किया। उन्होंने कहा कि भारत में 'समाजवाद' के निर्माण की राह 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' की होगी। जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र भी होगा और निजी क्षेत्र भी, लेकिन इसमें निर्णायक भूमिका, 'कमाण्डिंग चोटी' पर सार्वजनिक क्षेत्र ही रहेगा। भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा दिया गया 'समाजवाद' का नारा, आज़ादी में से अपना हिस्सा माँग रही भारत की मेहनतकश जनता के साथ एक धोखा ही था, जिसकी वास्तविकता जल्द ही भारत की मेहनतकश जनता के सामने जाहिर भी हो गयी। भारत में आज़ादी के बाद खड़ा किया गया विशाल सार्वजनिक क्षेत्र भारत के बुर्जुआ वर्ग की उस रणनीति का अंग था जिसमें भारतीय अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए राज्य ने नेतृत्वकारी व प्रत्यक्ष भागीदारी भूमिका निभानी थी। 'समाजवाद' के नारे तले भारत की मेहनतकश जनता की ख़ून-पसीने की कमाई से सार्वजनिक क्षेत्र का निर्माण किया गया। भारतीय अर्थव्यवस्था का नियोजन इस तरह से किया गया कि भारी अवसंरचनागत ढाँचा और बड़े पूँजी निवेश वाले उद्योग - जहाँ से फटाफट मुनाफ़ा हासिल होने की उम्मीद नहीं थी - सार्वजनिक क्षेत्र में निर्मित किये गये। और उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन वाला उद्योग, जहाँ से फटाफट मुनाफ़ा हासिल होना था, वह निजी क्षेत्र के हवाले कर दिया गया। यानी अन्तिम रूप में निजी क्षेत्र की सेवा के लिए ही सार्वजनिक क्षेत्र का निर्माण किया गया था। यह थी नेहरू युग की 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' और नेहरूवादी 'समाजवाद' की वास्तविकता! इस 'समाजवादी' निर्माण के ज़रिये भारतीय बुर्जुआ वर्ग के चालाक प्रतिनिधियों ने एक तीर से दो निशाने साधे। एक तो उन्होंने भारत में पूँजीवादी विकास के लिए शुरुआती पूँजी संचय किया, दूसरा 'समाजवाद' के छल के ज़रिये वे भारत की मेहनतकश जनता को भरमाने में भी कामयाब रहे।

भारतीय अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी रूपान्तरण की राह में एक और बड़ी रुकावट थी : सामन्ती-अर्द्ध-सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों में जकड़ी, पिछड़ी हुई कृषि। इसका पूँजीवादी रास्ते पर विकास भारतीय बुर्जुआ वर्ग के आगे एक बड़ी चुनौती थी। भारत के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए भारतीय बुर्जुआ वर्ग के समक्ष दो रास्ते थे। एक रास्ता था रैडिकल भूमि सुधारों का रास्ता, जिसमें किसानी को उभारा जाता और सामन्ती-अर्द्ध-सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों को तहस-नहस कर दिया जाता। अगर भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण का यह रास्ता अपनाया होता तो भारत में पूँजीवादी विकास की रफ़्तार बहुत तेज़ होती और भारतीय अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया भारत की मेहनतकश जनता के लिए काफ़ी कम पीड़ादायक होती। लेकिन उस समय की विशेष राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों में हर तरह के जनउभारों से थर-थर काँपता भारतीय बुर्जुआ वर्ग भारतीय कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण का यह रास्ता नहीं अपना सकता था।

भारतीय कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने दूसरा रास्ता अपनाया। मार्क्सवादी साहित्य में यह रास्ता कृषि में पूँजीवादी विकास के 'प्रशियाई रास्ते' के

नाम से जाना जाता है। यह रास्ता धीमे सुधारों का रास्ता है। एक धीमी प्रक्रिया में सामन्ती भूमिपतियों को पूँजीवादी भूमिपतियों में बदलने के लिए प्रेरित करने, मज़बूर करने का रास्ता है। 1947 के बाद भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने भारत में कृषि में पूँजीवादी विकास का यही रास्ता अपनाया। निश्चित तौर पर, पूँजीवादी विकास का यह रास्ता भारत की मेहनतकश जनता के लिए बेहद पीड़ादायक था। इस विकास प्रक्रिया की सारी दुख-मुसीबतें मेहनतकश जनता की झोली में पड़े। भारत की मेहनतकश जनता नयी बुराई (पूँजीवादी लूट) के साथ ही पुरानी बुराइयों (सामन्ती सामाजिक-सांस्कृतिक उत्पीड़न) की भी शिकार रही। किसी हद तक यह आज के भारत के लिए भी सच है। आज भी भारत की मेहनतकश जनता पूँजीवादी लूट के साथ-साथ सामन्ती सामाजिक-सांस्कृतिक उत्पीड़न की भी सतायी हुई है। 1860 के दशक के जर्मनी के बारे में कार्ल मार्क्स ने लिखा था, "हम, शेष सारे यूरोपीय महाद्वीप के पश्चिमी भाग की तरह, पूँजीवादी उत्पादन के विकास का ही नहीं, बल्कि इस विकास की अपूर्णता से पैदा होने वाली तकलीफ़ों का भी शिकार हैं। आधुनिक बुराइयों के साथ-साथ, विरासत में मिली बुराइयों का एक पूरा सिलसिला हम पर सितम बरपा रहा है। यह बुराइयाँ उत्पादन के उन प्राचीन निज़ामों के नतीजे से अभी तक बचे रहने के नतीजे के तौर पर पैदा होती हैं, जिनके साथ उनकी सामाजिक और राजनीतिक असंगतियाँ ज़रूरी तौर पर जुड़ी होती हैं। हम सिर्फ़ जीवितों से ही नहीं बल्कि मृत चीजों से भी पीड़ित हैं। मुर्दे जीवितों के लिए बोझ बने हुए हैं!" (**पूँजी** - पहले खण्ड की भूमिका से)। जो 1860 के दशक के जर्मनी के बारे में सच था, वह 1947 के बाद अब तक के पूरे दौर के भारत के लिए भी सच है। इसकी जड़ भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा अपनाये गये पूँजीवादी विकास के उस मार्ग में है, जो किसी समय बिस्मार्क के राज्यकाल के दौरान जर्मनी के बुर्जुआ वर्ग ने अपनाया था।

भारतीय कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण का जो 'प्रशियाई मार्ग' भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने अपनाया था, उसमें उसका मकसद भूमि स्वामित्व की पुरानी व्यवस्था के साथ अधिक छेड़छाड़ करना नहीं था, बल्कि उसका मकसद तो कृषि के उत्पादन सम्बन्धों को बदलना था। इसलिए आज़ादी के बाद भी भूमि स्वामित्व की व्यवस्था लगभग हू-ब-हू कायम रही। आज़ादी के पहले और बाद में देश के कुछ भागों में हुए किसान विद्रोहों की बदौलत एक हद तक किसान ज़मीनों के मालिक बने, और कुछ जगहों पर आज़ादी के बाद बनी 'कांग्रेस भूमि सुधार समिति' की रहनुमाई में हुए सीमित भूमि सुधारों से मरूसी काश्तकार ज़मीन मालिक बने। हालाँकि, ग़ैर-हाज़िर भूमिपतिवाद की सबसे बुरी किस्मों का ख़ात्मा हुआ लेकिन भूमि स्वामित्व काफ़ी हद तक उसी तरह कायम रहा, जिसमें कृषि योग्य भूमि का बड़ा हिस्सा मुट्ठीभर हाथों में ही केन्द्रित रहा।

दूसरी ओर शुरुआती समय में औद्योगिक क्षेत्र में एकाधिकारी व्यवहार को एक हद तक रोका गया लेकिन इस क्षेत्र में भी सम्पत्ति लगातार कुछ हाथों में केन्द्रित होती गयी। अमीर और ग़रीब की खाई बहुत गहरी थी। आबादी की बड़ी बहुसंख्या ग़रीब मेहनतकश जनता की क्रय शक्ति बेहद सीमित थी, जिसके कारण पूँजीवादी बाज़ार के फैलाव की सम्भावनाएँ सीमित थीं। निजी क्षेत्र में रोज़गार और आय की वृद्धि सीमित थी। विशाल किसान आबादी सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों में जकड़ी हुई थी, भूमि का पट्टे पर मिलना अनिश्चित था, उपज का एक छोटा हिस्सा ही उन्हें मिलता था। ऐसे हालात में कृषि में पूँजी निवेश के न तो उनके पास साधन थे और न ही निवेश प्रेरणा। रैडिकल भूमि सुधारों की ग़ैर-हाज़िरी में, घरेलू बाज़ार,

ख़ासकर औद्योगिक उत्पादों के लिए, बहुत सीमित था। ऐसी परिस्थिति में ग्रामीण क्षेत्र में – जहाँ आबादी की बड़ी बहुसंख्या बसती थी – उत्पादकता और आय को बढ़ाने की सम्भावनाएँ – ताकि घरेलू बाज़ार का विस्तार किया जा सके – बेहद सीमित थीं। लिहाज़ा, बाज़ार के विस्तार के लिए राजकीय ख़र्च में निरन्तर वृद्धि आवश्यक थी। आज़ादी के फ़ौरन बाद भारत का सकल घरेलू उत्पाद वृद्धि दर को मुख्य शक्ति ख़ुद राज्य ने प्रदान की। राज्य ने पूँजीपतियों को विदेशी मुकाबले से सरंक्षण मुहैया कराकर (विदेशी माल की भारतीय बाज़ार में आमद पर कोटा और चुंगी की दर ऊँची रखकर रोकें लगायीं गयीं) और आयायित वस्तुओं को घरेलू वस्तुओं से स्थानान्तरित करके औद्योगिक माल के लिए बड़ा बाज़ार मुहैया कराया।

आज़ादी के तुरन्त बाद लगभग डेढ़ दशक तक भारतीय बुर्जुआ वर्ग की इस रणनीति ने अपना जलवा दिखाया। इस समय के दौरान विकास दर काफ़ी ऊँची रही, भारत में एक वैविध्यपूर्ण औद्योगिक ढाँचे का निर्माण हुआ, लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था के तेज़ विकास की गति बहुत देर तक बरकरार न रह पायी। कोई भी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अपनी विकास दर लगातार कायम नहीं रख सकती। कुछ-कुछ समय बाद संकट का शिकार होना पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का अटल नियम है। पूँजीवादी आर्थिक संकट अतिरिक्त उत्पादन का संकट होता है, जो चक्रीय क्रम में बारम्बार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के दरवाज़े पर दस्तक देता रहता है। आज़ादी के बाद निर्मित भारत की पूँजीवाद अर्थव्यवस्था में डेढ़ दशक (1951-65) की तेज़ी के पश्चात पहले आर्थिक संकट ने दस्तक दी। 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध (1965-70) में औद्योगिक विकास दर घटकर 3.3 प्रतिशत रह गयी। इसमें 70 के दशक में मामूली-सा इज़ाफ़ा हुआ और यह 4.4 प्रतिशत हो गयी। इस मन्दी से भारतीय अर्थव्यवस्था 80 के दशक में ही उबर पायी जब 80 के दशक के पूर्वार्द्ध में इसकी औद्योगिक विकास दर औसतन 5.7 प्रतिशत थी और इस दशक के उत्तरार्द्ध में यह बढ़कर औसतन सालाना 8.8 प्रतिशत हो गयी। इस तरह पन्द्रह वर्षों के तेज़ औद्योगिक विकास (1951-65) के बाद अगले पन्द्रह वर्षों (1965-80) के दौरान औद्योगिक विकास में गिरावट आयी। 80 के दशक के शुरू में हालाँकि औद्योगिक विकास दर बढ़ी लेकिन यह पहले पन्द्रह वर्षों (1951-65) के दौरान की विकास दर के आस-पास भी नहीं थी। 80 के दशक के उत्तरार्द्ध में ही औद्योगिक विकास दर और कुल घरेलू उत्पादन में पुनः उभार (Recovery) आया। भारतीय अर्थव्यवस्था में इस पुनःउभार को प्रेरणा (Stimulus) का कोई नया स्रोत नहीं मिला था। निर्यात में इस दौरान कोई ऐसी प्रगति नहीं हुई थी जो कि भारत जैसी बड़ी अर्थव्यवस्था के लिए प्रेरक का काम करे। भारत में घरेलू बाज़ार के फैलाव में रुकावट बने सभी कारक वैसे के वैसे थे। इसलिए भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रेरणा पहले की तरह राज्य से ही मिली। दरअसल 1980 में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष से लिए पाँच मिलियन डालर कर्ज़ के साथ भारत में नवउदारवाद के पहले दौर की शुरुआत होती है। अस्सी से दशक के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था की तीन ऐसी विशेषताएँ थीं जिन्होंने पहले दौर (1965-80) के गतिरोध को तोड़ा। पहली, सरकारी ख़र्च द्वारा अर्थव्यवस्था को दी जाती राजकोषीय प्रेरणा (Fiscal Stimulus) में बड़े स्तर पर वृद्धि होना। दूसरी, आयातों, ख़ासकर पूँजीगत वस्तुओं के आयात, में बड़ा उदारीकरण। तीसरी विशेषता थी, जो कि उक्त दोनों से जुड़ी हुई थी, वह थी उपरोक्त दोनों विशेषताओं के नतीजे के तौर पर बढ़ने वाले राजकोषीय और चालू खाते के घाटे को भरने के लिए राज्य की ओर से साम्राज्यवादी देशों और संस्थाओं से लिए गये कर्ज़ में वृद्धि। आइये, अब भारतीय अर्थव्यवस्था में इन

विशेषताओं की जरा विस्तार से चर्चा करते हैं।

अर्थव्यवस्था को राजकोषीय प्रेरक देने के कारण राष्ट्रीय आय के हिस्से के तौर पर राजकोषीय घाटे में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। केन्द्रीय व राज्य सरकारों का कुल राजकोषीय घाटा 1980 के मध्य में कुल घरेलू उत्पादन के 9.5 प्रतिशत तक पहुँच गया जो कि 1990-91 में बढ़कर 10.1 प्रतिशत हो गया। यह सार्वजनिक निवेश के हिस्से में वृद्धि के कारण नहीं हुआ, बल्कि सार्वजनिक बचतों में कमी के कारण हुआ। इसके चलते सरकार का सालाना राजस्व घाटा (Revenue Deficit) बढ़ा। 1985-86 से 1989-90 के बीच यह कुल घरेलू उत्पादन का 2.8 प्रतिशत था, जो कि 1990-91 में बढ़कर 4.5 प्रतिशत हो गया। अप्रत्यक्ष करों और प्रशासित क़ीमतों में वृद्धि के बावजूद राज्य के चालू ख़र्चे कर और ग़ैर-कर आय को पार कर गये।

इस दशक (1980) की दूसरी नयी विशेषता, बिजली और आटोमोबाइल जैसी ऐशो-आराम की वस्तुओं के उत्पादन के लिए पूँजीगत वस्तुओं के आयात का उदारीकरण था। आज़ादी के बाद के तीन दशकों में हुए पूँजीवादी विकास की बदौलत यहाँ एक खाता-पीता मध्यवर्ग अस्तित्व में आया था जो साम्राज्यवादी देशों में उत्पादित होने वाले ऐशो-आराम के सामान की तरफ़ ललचायी नज़रों से देख रहा था। भारत की कुल आबादी के मुकाबले भले ही यह वर्ग छोटा ही था, लेकिन अपने आप में यह वर्ग कई यूरोपीय देशों की कुल आबादी से भी बड़ा था। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के पास मौजूद तकनोलॉजी इस वर्ग की ज़रूरतें पूरी नहीं कर सकती थी। इसलिए यह ज़रूरी था कि इतनी बड़ी मण्डी को हथियाने के लिए साम्राज्यवादियों से गले मिला जाये और ऐशो-आराम का सामान बनाने वाला उद्योग बढ़ाया जाये। इसके पीछे सरकारी तर्क यह था कि भले ही यह औद्योगिकीकरण आबादी के छोटे हिस्से की ज़रूरतें पूरा करने के लिए होगा, लेकिन इसके साथ जो ऊपर के वर्गों में समृद्धि आयेगी, वह 'रिस-रिसकर' (Trickle down) समाज के ग़रीब तबकों तक भी पहुँचेगी। जैसे कि उदारीकरण के पिछले दो दशकों ने दिखाया है कि समृद्धि 'रिस-रिसकर' नीचे की तरफ़ नहीं आयी। यह सरकारी तर्क वैसे भी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के नियम के विरुद्ध हैं। यह नियम है कि जैसे-जैसे पूँजीवाद विकसित होता है अधिक से अधिक धन कुछ हाथों में केन्द्रित होता जाता है और आबादी का बड़े से बड़ा हिस्सा कंगाल होता जाता है।

1980 के उत्तरार्द्ध में आयातों का उदारीकरण निर्यातों की वृद्धि के साथ जुड़ा हुआ नहीं था, बल्कि इसका मुख्य ज़ोर मुख्यत: घरेलू बाज़ार के लिए ऐशो-आराम के सामान का उत्पादन था। 1985-86 में, जो कि इस नीति की आमद का पहला वर्ष था, भुगतान सन्तुलन के घाटे में तीखी वृद्धि हुई और चालू खाते का घाटा बढ़कर कुल घरेलू उत्पादन के 2.26 प्रतिशत तक जा पहुँचा। जैसे ही व्यापार और चालू खाते का घाटा बढ़ा, साम्राज्यवादियों से कर्ज़ लेने में वृद्धि होने के इस दौर की भारतीय अर्थव्यवस्था की तीसरी विशेषता सामने आयी। इसके कारण थोड़े समय बाद कर्ज़ लौटाने (Debt Servicing) की ज़रूरत ने चालू खाते के घाटे को और बढ़ाया। इसका नतीजा और अधिक कर्ज़ लेने में निकला। जैसे ही पुराना कर्ज़ उतारने के लिए नये कर्ज़ की ज़रूरत बढ़ती गयी, कर्ज़ की शर्तें सख़्त होती गयी। कर्ज़ लौटाने की समयावधि कम होती गयी। नतीजे के तौर पर कर्ज़ की वृद्धि दर बढ़ती गयी। 1980 के दशक में भारत पर विदेशी कर्ज़ लगभग चार गुना बढ़ा। 1980 में यह 20 बिलियन डालर था जोकि 1990 में बढ़कर 82 बिलियन डालर हो गया। 1990 तक भारत की कर्ज़ लौटाने के

लिए अदायगियाँ कुल बरामद मूल्य का एक तिहाई हड़पने लगीं।

भारतीय अर्थव्यवस्था के 1965 से 1980 के दौरान के गतिरोध को तोड़ने के लिए भारतीय बुर्जुआज़ी ने 1980 से नवउदारवादी आर्थिक सुधारों के पहले दौर की शुरुआत की। इन सुधारों की बदौलत अस्थायी तौर पर भले ही अर्थव्यवस्था में तेज़ी आयी, लेकिन फिर वही कहानी दोहरायी गयी जो कि नियम के तौर पर सभी पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में दोहरायी जाती है। एक तरह के संकट से जूझने के लिए बुर्जुआ वर्ग जो नीतियाँ अपनाता है, वह ऊँचे स्तर पर एक और संकट ले आती हैं। सारणी-1 दिखलाती है कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा अपनायी गयी नवउदारवादी आर्थिक नीतियों की बदौलत 1980 के दशक के दौरान सरकार के आमदनी खाते के घाटे में लगभग 10 गुना अधिक इज़ाफ़ा हुआ। भुगतान सन्तुलन के घाटे में (व्यापारिक खाता + चालू खाता) लगभग तीन गुना और कुल आयातों में तीन गुना से अधिक वद्धि हुई। इस दौरान अमेरिकी डॉलर के मुकाबले में भारतीय मुद्रा के मूल्य में दोगुने से भी अधिक गिरावट आयी। लम्बी मियाद का विदेशी कर्ज़ भी तीन गुना से अधिक बढ़ा।

अस्सी के दशक के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था में जो कुछ घटित हुआ उसे अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों से अलग करके नहीं बल्कि उनके अंग के तौर पर ही समझा जा सकता है। इसलिए इस अरसे के दौरान अन्तरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के मंच पर घटित महत्त्वपूर्ण घटनाओं की चर्चा भी यहाँ प्रासंगिक होगी।

दूसरे विश्वयुद्ध (1939-1945) ने संकटग्रस्त पूँजीवाद को नया जीवन दान दिया था। यूरोप इस जंग में बुरी तरह तबाह हुआ। विश्व चौधरी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सूर्य अस्त हो गया। अब साम्राज्यवादी डाकू गिरोह की बागडोर अमेरिकी साम्राज्यवाद के हाथ में आ गयी। अमेरिका दूसरे विश्वयुद्ध से लगभग दूर रहा था। तबाह हुए यूरोप ने अमेरिकी पूँजी के निवेश के लिए बेशुमार सम्भावनाओं के द्वार खोल दिये। विश्व बाज़ार में अमेरिकी डालर का दबदबा कायम हुआ जो अब भी बरकरार है। दूसरे विश्वयुद्ध की बड़ी स्तर पर तबाही से पूँजी निवेश की जो सम्भावनाएँ पैदा हुईं, उसके चलते विकसित साम्राज्यवादी देशों में कुल घरेलू उत्पादन में रिकार्ड-तोड़ इज़ाफ़ा हुआ। इसका दूसरा कारण यह था कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की विशेष अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों में साम्राज्यवादियों के आपस के अन्तरविरोध अस्थायी तौर पर कुन्द हुए जिसके चलते इन देशों में परस्पर व्यापार और पूँजी निवेश की सम्भावनाएँ बढ़ीं। विश्व स्तर पर कम्युनिस्ट आन्दोलन का उभार भी साम्राज्यवादियों को भयभीत कर रहा था। इन देशों का संगठित मज़दूर वर्ग यहाँ की बुर्जुआ हुकूमतों के लिए चुनौती बन रहा था। इसलिए यहाँ के मज़दूर वर्ग को अधिक रियायतें देना इन देशों के बुर्जुआ हुक्मरानों की मज़बूरी थी। इसी प्रक्रिया के अंग के तौर पर इन देशों में दूसरे विश्वयुद्ध के बाद कीन्सवादी 'कल्याणकारी राज्य' की नीतियाँ अपनायी गयी थीं। इन सभी कारणों की बदौलत दूसरे विश्वयुद्ध के बाद विकसित साम्राज्यवादी देशों की विकास दर बहुत ऊँची रही। इसी दौर को पूँजीवाद के 'स्वर्ण युग' के नाम से भी जाना जाता है। लेकिन पूँजी के इस 'स्वर्ण युग' की चमक बहुत देर तक कायम न रह पायी। दो दशकों के पश्चात 1970 का दशक आते-आते इन अर्थव्यवस्थाओं पर मन्दी के बादल मँडराने लगे। विश्व अर्थव्यवस्था में वित्तीय पूँजी की चौधराहट कायम होना, इस दौर की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

1970 के दशक की शुरुआत में अन्तरराष्ट्रीय निजी वित्तीय संस्थाओं के अतिरिक्त वित्त को तीसरी दुनिया के देशों की ओर भेजने में सीमित भूमिका ही थी। 'विकासशील' पूँजीवादी

सारणी-1: बजट व भुगतान संतुलन के सूचक

	1980-81	1990-91 (करोड़ रु.)
बजट घाटा		
राजस्व खाता	1775	18580
भुगतान सन्तुलन घाटा		
व्यापारिक खाते में	5967	12414*
चालू खाते में	1657	11382*
आयात		
कुल	12549	43190
पूँजीगत वस्तुएँ	1910	10470
विनिमय दर		
प्रति डालर रुपया	7.9	17.95
लम्बी अवधि का विदेशी कर्ज़		
कुल (बिलियन अमेरिकी डालर)	18.7	57.3

* नोट: 1989-90 के लिए, विनिमय दर दिसम्बर अन्त से सम्बन्धित, उदाहरण के लिए, 1980-81 के लिए दिसम्बर 1980
स्रोत: आर्थिक सर्वेक्षण 1992-93, भारत सरकार।

देशों में पूँजी का बहाव मुख्यत: द्विपक्षीय और बहुपक्षीय सरकारी साधनों के ज़रिये ही संचालित होता था। 1973 के पहले तेल झटके (Oil Shock) के बाद स्थिति में नाटकीय परिवर्तन आया। ओपेक देशों (तेल निर्यातक देशों का संगठन) को तेल से हासिल मुनाफ़े अधिकतर साम्राज्यवादी देशों की बैंकों में ही जमा हुए। 1981 तक देशों ने लगभग 475 बिलियन डालर कमाये, जिनमें से 400 बिलियन डालर विकसित पूँजीवादी देशों के बैंकों में जमा थे। इसलिए इन डालरों को कर्ज़ के रूप में देने में अब इन निजी बैंकों की भूमिका बढ़ी। इस समय तक विकसित पूँजीवादी देशों में दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की तेज़ी ख़त्म हो चुकी थी। औद्योगिक विकास की दर धीमी थी। तेल झटकों (1973, 1980) ने इन अर्थव्यवस्थाओं की हालत और भी बिगाड़ दी थी। ऐसे समय में वित्तीय पूँजी की ताक़त में वृद्धि और भी महत्त्वपूर्ण थी। विश्व उत्पादन के अनुपात में अन्तरराष्ट्रीय बैंक कर्ज़े 1964 में 0.7 प्रतिशत से बढ़कर 1980 में 8 प्रतिशत और 1991 में 16.3 प्रतिशत हो गये। (विश्व बैंक, वर्ल्ड डेटा टेबल्स)

1970 के दशक में अन्तरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में तरलता बढ़ने में दो कारकों ने भूमिका अदा की। पहला था, ब्रेटन वुड्स के वर्षों के दौरान अमेरिका की अन्तरराष्ट्रीय देनदारियों में बड़ा इज़ाफ़ा हुआ। इन देनदारियों में वियतनाम जंग का ख़र्च और विश्व के अन्य देशों पर चौधराहट जमाने, विश्व पुलिसिये की भूमिका निभाने पर हुए ख़र्च भी शामिल हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिकी साम्राज्यवाद की चौधराहट स्थापित होने के बाद डालर को सोने के समान समझा जाने लगा था। डालर की इस चौधराहट के कारण अमेरिका राष्ट्रीय बजट की परवाह किये बिना अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर ख़र्च करता गया। नतीजा 1970 के दशक के मध्य में अमेरिकी बजट घाटा बढ़ने में सामने आया।

दूसरा कारण यह था कि 1990 से ही अमेरिका की औद्योगिक प्रतिस्पर्द्धा क्षमता घटने के कारण, विश्व में विदेशी मुद्रा भण्डार के रूप में एकमात्र मान्यता प्राप्त मुद्रा के रूप में डालर ने अपनी हैसियत वक़्ती तौर पर खो दी। नतीजे के तौर पर अन्य मुद्राओं की सौदेबाज़ी होने लगी। ऐसी सट्टेबाज़ी ब्याज़ दरों और विनिमय दरों की विभिन्नताओं से ख़ूब फायदा लेती है।

इसका नतीजा सरहदों के आर-पार पूँजी के बेहद अस्थिर बहाव में निकला। 1990 के दशक का मध्य आते-आते अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय बाज़ारों में मुद्राओं का लेन-देन रोज़ाना 1.2 ट्रिलियन डालर हो गया जो कि एक तिमाही में होने वाले विश्व व्यापार के बराबर था। 1980 के शुरू में घरेलू और विदेशी निवासियों के बीच बॉण्ड्स और सिक्योरिटीज़ का लेन-देन, अमेरिका, जापान और जर्मनी में कुल घरेलू उत्पादन का लगभग 10 प्रतिशत था। 1993 तक यह आँकड़ा अमेरिका के लिए 135 प्रतिशत, जर्मन के लिए 170 प्रतिशत और जापान के लिए 80 प्रतिशत हो गया। विकसित देशों में वित्तीय उदारीकरण ने तरलता में और इज़ाफ़ा किया। एक तो इसके साथ बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को कर्ज़ देने और निवेश करने के लिए अधिक छूट मिली और साथ ही हेज फण्ड (Hedge Fund) जैसी संस्थाओं का फैलाव हुआ, जो बैंकों की तरह विनियमित नहीं थीं। इसने 'सिक्योरिटाइजेशन' या कर्ज़ से अधिक स्टॉक्स और बाण्ड्स के रूप में वित्तीय पूँजी के प्रवाह को तेज़ किया और नये वित्तीय औजार या स्वॉप्स (Swaps), ऑप्शन्स और फ्यूचर्स (देखें : नोट) जैसे डेरिवेटिव अस्तित्व में आये।

अन्तरराष्ट्रीय तरलता में बड़े स्तर पर इज़ाफ़े ने बैंकों और ग़ैर बैंक वित्तीय संस्थाओं को अपनी पूँजी के प्रवाह को चलता रखने की दौड़ को जन्म दिया। पहले तो इसने विकसित पूँजीवादी देशों में उपभोक्ता कर्ज़ और मकान निर्माण कर्जों में तेज़ी (Boom) पैदा की, लेकिन जब वित्तीय पूँजी के लिए अवसर धीरे-धीरे ख़त्म होने लगे तो वित्तीय पूँजी तीसरी दुनिया की तथाकथित उभरती अर्थव्यवस्थाओं में सम्भावनाएँ तलाशने लगी। वित्तीय पूँजी का बहाव इन देशों की तरफ़ बढ़ने लगा। सबसे पहले साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी की आमद उन देशों में बढ़ी जिन्होंने सरहद के आर-पार पूँजी प्रवाह के लिए नियम-क़ानून जल्दी बदल लिए। तीसरी दुनिया के देशों ने सत्तर, अस्सी और नब्बे के दशकों के दौरान अधिक से अधिक नवउदारवादी नीतियाँ अपनायीं। साम्राज्यवादी वित्तीय संस्थाओं ने कर्ज़ के साथ बड़े बजट घाटे उठाकर अपनी गतिरोधग्रस्त अर्थव्यवस्थाओं को गति प्रदान की। इसी रोशनी में भारतीय अर्थव्यवस्था में 1980 के दशक में पुन:उभार देखा जा सकता है। अन्तरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में वित्तीय पूँजी के दबदबे के कारण भारतीय बुर्जुआ वर्ग यहाँ की अर्थव्यवस्था को वित्तीय प्रेरक देने के लिए अधिक से अधिक विदेशी कर्ज़ पर निर्भर होती गयी। सरकार के ख़र्च तो बढ़ते गये लेकिन करों से आमदनी नहीं बढ़ी। बड़े घाटे उठाकर, सरकारी बजट के आमदनी खाते के घाटे सहित, अर्थव्यवस्था को वित्तीय प्रेरक मुहैया करवाये गये। ऐसे सरकारी ख़र्चों के कारण पैदा हुई माँग की पूर्ति आयातित पूँजीगत वस्तुओं की मदद से घरेलू उद्योग ने की। घरेलू उत्पादन के लिए आयातों पर निर्भरता बढ़ी। इन आयातों के लिए विदेशी मुद्रा अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, साम्राज्यवादी देशों के बैंकों से आसानी से उपलब्ध हो सकती थी और भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने कर्ज़ के रूप में मुद्रा बड़े स्तर पर हासिल की। नतीजतन कर्ज़ का पहाड़ बड़ा होता गया। लगातार बढ़ते विदेशी कर्ज़ ने, जिसका बड़ा हिस्सा थोड़ी मियाद के कर्ज़ थे, भारतीय अर्थव्यवस्था को मुद्रा सट्टेबाज़ी के लिए उर्वर बना दिया जिसके साथ साम्राज्यवादी निवेशकों का भारतीय अर्थव्यवस्था में 'विश्वास संकट' पैदा हुआ। इसका नतीजा 1990-91 के भुगतान सन्तुलन के संकट में निकला। इस समय मुद्रास्फीति तेज़ी से बढ़ी, जिसकी मुख्य वजह मुद्रा की सट्टेबाज़ी और विदेशी निवेशकों ख़ासकर ग़ैर-निवासी भारतीयों द्वारा भारत में से अपनी पूँजी निकालना था। साम्राज्यवादी वित्तीय संस्थाओं द्वारा भारत को कर्ज़ देना बन्द करने के साथ, भुगतान सन्तुलन का संकट पैदा हुआ।

यही वे परिस्थितियाँ हैं जिनमें भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक द्वारा तैयार किया गया नवउदारवादी कार्यक्रम अपनाया। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक के नीति-निर्माताओं और नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के देशी समर्थकों ने 1990-91 के भारतीय अर्थव्यवस्था के संकट की अपने ढंग से व्याख्या की। उनका कहना था कि इस संकट की पहली वजह तो अर्थव्यवस्था में हिस्सेदार और विनियामक (Regulator) के तौर पर सरकार का अस्तित्व था। दूसरी वजह थी, अधिक सरकारी कर्ज़ और नतीजतन बड़ा राजकोषीय घाटा। तीसरा कारण था, अर्थव्यवस्था का अधूरा उदारीकरण जिसके कारण भारतीय निर्यात तेज़ी से नहीं बढ़ पाये। इस तरह भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण के दूसरे बड़े दौर की शुरुआत हुई। अब सार्वजनिक क्षेत्र को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले करना, सार्वजनिक सब्सिडियों में कटौती के ज़रिये राजकोषीय घाटा कम करना, विदेशी माल की भारत में आमद से कोटा व महसूल ख़त्म करना, देशी और विदेशी पूँजी के बढ़ने-फूलने की राह की सभी रुकावटें दूर करना, भारतीय बुर्जुआ वर्ग के एजण्डे पर सबसे ऊपर थीं। इन नीतियों के कुल जमा-जोड़ को नरसिम्हा राव-मनमोहन सिंह जोड़ी द्वारा 1991 में नयी आर्थिक नीति का नाम दिया गया।

नयी आर्थिक नीति की रूप रेखा

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की देखरेख में 1991 में भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के दूसरे दौर की शुरुआत हुई। 1991 में भारतीय हुक्मरान वर्ग द्वारा अपनायी गयी आर्थिक नीति विश्व बैंक के 'ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम' ख्ैजतनबजनतंस ।करनेजउमदज च्तवहतंउउम ब्ैाच्द्ध, पर आधारित थी।

1985 में विश्व बैंक ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर समग्रतापूर्ण खोज करवायी थी, जिसके निर्देशक राबर्ट जे. एण्डरसन और गेरी पुशेल थे। इस अध्ययन के आधार पर राबर्ट जे. एण्डरसन ने 30 नवम्बर, 1990 को भारत सरकार को एक ज्ञापन सौंपा जिसमें विश्व बैंक के 'ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम' के सभी तत्त्व मौजूद थे।

भारतीय अर्थव्यवस्था की 'कमाण्डिंग हाइट्स' से अब सार्वजनिक क्षेत्र को उतारकर निजी क्षेत्र को बिठाने का समय आ गया था। अर्थव्यवस्था में सरकार की मौजूदगी को अब देशी-विदेशी पूँजी बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थी। सरकार के राजकोषीय घाटे को पूरा करने और इसी तरह निर्यात बढ़ाकर भुगतान सन्तुलन के घाटे को घटाना, बड़ा विदेशी मुद्रा भण्डार जमा करने को ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम में केन्द्रीय स्थान दिया गया।

सरकार के राजकोषीय घाटे, जो 1990-91 में कुल घरेलू उत्पादन में 8.3 प्रतिशत तक पहुँच गया था, को थोड़े समय में घटाकर 3-4 प्रतिशत तक लाने का लक्ष्य तय किया गया। राजकोषीय घाटा कम करने में सरकार की राह में कुछ 'रुकावटें' थीं। पहली 'रुकावट' तो यह थी कि 1980 के दशक में सरकारी कर्ज़ ऐसी सख़्त शर्तों पर लिया गया था कि 1991-92 में केन्द्र सरकार के ख़र्चे का एक तिहाई हिस्सा इस कर्ज़ का ब्याज़ चुकाने में ही चला जाता था। यह सरकारी ख़र्च कर्ज़ घटने के साथ ही घट सकता था। लेकिन इस समय जो वित्तीय उदारीकरण की नीतियाँ सरकार की कार्य-सूची में थीं उनके तहत सरकार को और भी महँगा कर्ज़ मिलना था। दूसरा, नयी आर्थिक नीतियों के तहत देशी-विदेशी पूँजीपतियों पर

सीधे टैक्स बढ़ाना सरकार की कार्य-सूची से ग़ैर-हाज़िर था, क्योंकि इसकी वजह से निजी क्षेत्र के पूँजी निवेश के लिए 'उत्साह धीमा' पड़ता था। इन ख़ुद ही पैदा की गयी 'रुकावटों' के कारण राजकोषीय घाटा घटाने के लिए पूँजीवादी हुक़्मरानों ने संकट का सारा बोझ साधारण जनता के सिर मढ़ने की तैयारी कर ली। अब राजकोषीय घाटा सार्वजनिक सब्सिडियों पर कटौती करके और 'सार्वजनिक क्षेत्र' को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले करके घटाया जाना था।

आइये, अब, अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में नयी आर्थिक नीति के तहत हुए सुधारों की चर्चा की ओर लौटते हैं।

1. नयी आर्थिक नीति :

नयी आर्थिक नीति के तहत औद्योगिक नीति के तीन अहम पक्ष थे। पहला था, निजी क्षेत्र द्वारा नये उद्योग लगाने या पहले से चल रहे उद्योगों की क्षमता बढ़ाने के लिए सरकारी लाइसेंस लेने की ज़रूरत का ख़ात्मा और अब तक 'सार्वजनिक क्षेत्र' के लिए आरक्षित क्षेत्रों में भी निजी उद्योग लगाने की छूट देना। इस नि:आरक्षण और 'लाइसेंस राज' के ख़ात्मे का ही नतीजा यह है कि 1997-98 तक सिर्फ़ नौ उद्योग थे जिनमें निजी क्षेत्र के दाख़िले को विनियमित किया गया था। अब देशी पूँजीपतियों को अनेकों उद्योगों (जो कि पहले विनियमित थे) में पूँजी लगाने की छूट मिली।

नयी औद्योगिक नीति का दूसरा पक्ष था, एकाधिकार व्यवहार रोकधाम क़ानून (MRTP) की धाराओं को नर्म करना, ताकि बड़े पूँजीपति समूहों से औद्योगिक विस्तार की रोकें हटायी जा सकें। 1991 से पहले एक ख़ास आकार (1985 में यह 100 करोड़ रुपये तय हुआ था) से बड़ी फर्में उपरोक्त क़ानून के दायरे में आती थीं और इनमें पूँजी निवेश के लिए विशेष प्रवानगी लेनी पड़ती थी। एम.आर.टी.पी. संशोधन क़ानून के तहत ऐसी सभी रोकें हटा दी गयीं। इस क़ानून का कोई मतलब नहीं रह गया था।

नयी औद्योगिक नीति का तीसरा पक्ष था, विदेशी निवेश के देश में आमद-सम्बन्धी नियमों का उदारीकरण। इस दिशा में पहला कदम था 51 प्रतिशत तक पूँजी निवेश को ऑटोमैटिक मंजूरी या प्रत्येक मामले में मंजूरी लेने से छूट। बाद में, विदेशी मुद्रा विनियमन क़ानून, फेरा (Foreign Exchange Regulation Act) में बदलाव किया गया कि वे कम्पनियाँ जिनमें विदेशी हिस्सेदारी 40 प्रतिशत से अधिक होगी, के साथ भारतीय कम्पनियों जैसा ही व्यवहार किया जायेगा। ग़ैर-निवासी भारतीयों और विदेशों में उनके स्वामित्व वाले कारोबारों को उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों में 100 प्रतिशत निवेश की छूट दी गयी। और इन्हें पूँजी वापस अपने देश ले जाने की भी अधिक छूट दी गयी। विदेशी निवेशकों को देश के भीतर अपने ट्रेडमार्क इस्तेमाल करने की छूट दी गयी। सरकार द्वारा नये बनाये गये विदेशी निवेश बोर्ड ने विदेशी निवेश के प्रस्तावों को धड़ाधड़ मंजूरी दी और कई क्षेत्रों में तो 100 प्रतिशत विदेशी निवेश को छूट दी। बाद में कुछ क्षेत्रों में 51 प्रतिशत से अधिक विदेशी पूँजी निवेश को ऑटोमैटिक मंजूरी दी गयी। उदाहरण के तौर पर दवा उद्योग में 100 प्रतिशत तक निवेश की ऑटोमेटिक मंजूरी की छूट दी गयी। इसके अलावा विलयों और अधिग्रहणों (Mergers and Acquisitions) सहित उनके जिनमें विदेशी फर्मों की भागीदारी होती थी, को भी टैक्स राहतें

और अन्य सहूलियतें दी गयीं।

2. नयी व्यापार नीति

नयी व्यापार नीति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पड़ाव-दर-पड़ाव निर्यातों का उदारीकरण था। इसलिए विदेशी माल से कोटा, चुंगी, लाइसेंस, जैसी रोकों का धीरे-धीरे ख़ात्मा करना था। इनमें से बहुत सारी रोकें अब तक ख़त्म की जा चुकी हैं। 1990 में विदेशी माल पर चुँगी की उच्चतम दर 300 प्रतिशत थी, जो कि 2001 में घटकर 40 प्रतिशत रह गयी थी। शुरू में सभी क्षेत्रों के लिए चुंगी घटायी (Tax deduction) एकसमान नहीं थी। सबसे पहले पूँजीगत वस्तुओं से बड़े स्तर पर महसूल घटाया गया। इन वस्तुओं को 'ओपन जनरल लाइसेंस' श्रेणी में रखा गया। इस श्रेणी में वे माल शामिल किये गये जिनके आयात के लिए लाइसेंस की ज़रूरत नहीं थी, बस निर्धारित चुंगी की अदायगी के ज़रिये ही इन सभी वस्तुओं का भारतीय बाज़ार में दाख़िला हो सकता था। और उन पूँजीगत वस्तुओं, जिनके आयात के साथ निर्यात बढ़ सकता था, पर चुंगी ख़त्म कर दिया गया। उपभोक्ता सामग्रियों के आयात पर शुरू में तो आयात-सम्बन्धी पाबन्दियाँ कायम रहीं, लेकिन 20वीं सदी का अन्त होते-होते इनके आयात को भी उदार बनाया गया।

3. कृषि क्षेत्र के सुधार

नयी आर्थिक नीति में कृषि क्षेत्र के सुधारों का कोई व्यवस्थित कार्यक्रम नहीं था। लेकिन इस क्षेत्र में भी नवउदारवादी दौर में बड़े बदलाव हुए। नयी आर्थिक नीति के तहत भारत के कृषि क्षेत्र को अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार के मुकाबले के लिए खोला गया। कृषि क्षेत्र में सरकारी निवेश कम हुआ। कृषि सब्सिडियों पर पड़ाव-दर-पड़ाव कटौती हुई। देश के भीतर विभिन्न राज्यों के बीच कृषि मालों के व्यापार पर पाबन्दियों को उदार बनाया गया और ख़त्म किया गया। कृषि मालों के विदेशी व्यापार का उदारीकरण किया गया। पहले तो कृषि मालों के निर्यात से रोकें हटायी गयीं और फिर कृषि वस्तुओं के आयात से कोटा रोकें हटा ली गयीं। कई कृषि मालों के आयात को निजी हाथों में दे दिया गया। भारत के कृषि क्षेत्र पर इन नवउदारवादी नीतियों के प्रभाव की हम आगे चलकर चर्चा करेंगे।

4. वित्तीय क्षेत्र के सुधार :

बैंकिंग क्षेत्र में जो भारतीय वित्तीय व्यवस्था में हावी हैसियत रखता है नयी आर्थिक नीतियों के तहत मुख्य रूप से तीन तरह के सुधार किये गये। पहला था, ऐसे कदम उठाने जिनके साथ बैंकों की कर्ज़ देने की क्षमता बढ़े। इन कदमों में क़ानूनी तरलता और नकद रिज़र्व अनुपात में कमी करना और साथ ही बैंकों में तरलता को इस्तेमाल करने की अधिक छूट देना। इसके साथ ही बैंकों में जमा होने वाली मुद्रा और कर्जों दोनों पर से ब्याज दरें तय करने की छूट दी गयी।

वित्तीय क्षेत्र के सुधारों में दूसरा पक्ष था बैंकिग क्षेत्र में निजी क्षेत्र का दाख़िला। राष्ट्रीकृत बैंकों, भारतीय स्टेट बैंक सहित, को अपने हिस्से निजी क्षेत्र को बेचने की मंजूरी दी गयी। निजी निवेशकों को बैंकिग क्षेत्र में निवेश करने की मंजूरी दी गयी। विदेशी बैंकों को घरेलू

बाज़ार में दाख़िले की छूट दी गयी।

इसका तीसरा पक्ष था, बैंकों को अपनी परिसम्पत्तियाँ तय करने की छूट दी गयी। बैंकों को शेयर बाज़ार में निवेश करने की छूट दी गयी। बैंकिग क्षेत्र के सुधारों के साथ-साथ वित्तीय बाज़ारों का उदारीकरण किया गया। इसके तहत कैपिटल इशू (कण्ट्रोल) क़ानून, 1947 और कण्ट्रोलर ऑफ कैपिटल इशू, विभाग का ख़ात्मा किया गया। नये बनाये गये 'सिक्योरिटीज़ एण्ड एक्सचेंज बोर्ड ऑफ इण्डिया' (सेबी) के नियमों और दिशा-निर्देशों के तहत, कम्पनियाँ वित्तीय बाज़ार में से खुलकर वित्त हासिल कर सकती थीं। चुनिन्दा भारतीय कम्पनियों को अन्तरराष्ट्रीय पूँजी बाज़ारों तक पहुँच की छूट दी गयी। कई ग़ैर बैंकिंग वित्तीय कम्पनियों, निजी म्युचल फण्ड कम्पनियों सहित, को काम करने की छूट दी गयी। ग़ैर-निवासी भारतीयों के निवेश सम्बन्धी क़ानूनों में ढील दी गयी, विदेशी संस्थागत निवेशकों को भारतीय शेयर बाज़ार में नाम दर्ज करवाने और निवेश करने की छूट दी गयी।

5. मुद्रा विनिमय दर नीति में सुधार

इस क्षेत्र में सरकार पड़ाववार प्रशासित विनिमय से, रुपये के बाज़ार द्वारा तय की जाने वाली विनिमय दर की तरफ़ बढ़ी जिसमें चालू खाते के लेन-देन में भारतीय मुद्रा पूरी तरह परिवर्तन योग्य थी। 1997-98 में दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों के संकट के समय तक, भारत सरकार रुपये को पूरी तरह परिवर्तन योग्य बनाने पर उतारू थी। उपरोक्त संकट ने भारत सरकार के पूँजीगत खाते को पूरी तरह परिवर्तन-योग्य बनाने के फैसले को टाल दिया। लेकिन धीरे-धीरे इसकी कई धाराओं को ज़रूर नरम बनाया गया। वित्तीय क्षेत्र में सुधारों का एक नतीजा भारत के विदेशी संस्थागत निवेशकों और ग़ैर-निवासी भारतीयों के कम मियाद के अस्थिर निवेशों और ग़ैर-निवासी भारतीयों द्वारा कम मियाद के लिए भारत में जमा करवायी अस्थिर पूँजी पर निर्भरता बढ़ी। इसके साथ ही रुपये का मूल्य तय करना बाज़ार की शक्तियों के हवाले कर दिया गया। सरकार अब सिर्फ़ केन्द्रीय बैंक के ज़रिये विदेशी मुद्रा ख़रीदने और बेचने के ज़रिये ही रुपये के मूल्य को प्रभावित कर सकती थी। अब ख़र्च, ब्याज दरें, विनिमय दरें आदि घरेलू नीतियाँ तय करने में विदेशी निवेशकों की पसन्द-नापसन्द का अधिक ख़याल रखा जाने लगा।

नवउदारवादी आर्थिक सुधारों के तहत भारतीय अर्थव्यवस्था की कारगुजारी

1965-80 के गतिरोध को तोड़ने के लिए भारतीय हुक्मरानों ने 1980 में भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के पहले दौर की शुरुआत की थी। जिसके साथ एक दशक तो भारतीय अर्थव्यवस्था में तेज़ी रही, लेकिन यह दशक ख़त्म होते-होते फिर से भारतीय अर्थव्यवस्था एक नये संकट में घिर गयी। जून 1991 में जब कांग्रेस के नेतृत्व वाली संयुक्त मोर्चे वाली सरकार ने अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक द्वारा निर्देशित 'नयी आर्थिक नीतियों' की शुरुआत की तब भारत अपनी अन्तरराष्ट्रीय देनदारियों के मामले में दिवालिया होने की कगार पर था। यहाँ तक कि इसे छोटे-मोटे कर्ज़ लेने के लिए सोना विदेशों को भेजना पड़ा। 1989-91 के दौरान अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा भारत को दी गयी 'मदद', कारोबारियों द्वारा

भारतीय अर्थव्यवस्था में पूँजी निकालने के चलते, छू-मन्तर हो गयी। भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा अपनायी गयी 'नयी आर्थिक नीति' का मुख्य ज़ोर ऊँची आर्थिक वृद्धि दर हासिल करने पर थी। 1991 में जब 'नयी आर्थिक नीति' अपनायी गयी तो भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर में गिरावट आयी, जबकि इसी समय मुद्रास्फीति तेज़ी से बढ़ी। (देखें : चित्र 1 और 2)

7बाद में 1990 के दशक के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था की औसत वृद्धि दर में और तेज़ी आयी और पाँच वर्ष तक यह वृद्धि दर रिकॉर्ड 8 प्रतिशत रही और बाद में विश्व आर्थिक संकट के प्रभाव में भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर फिर नीचे आने लगी और 2005 से मुद्रास्फीति की दर में भी उछाल आने लगा। उपरोक्त पाँच वर्षों की तेज़ विकास दर को देखकर सरकार और उदारीकरण के समर्थक बुद्धिजीवियों ने दावा किया कि नये दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर दो अंकों में होगी। लेकिन उनकी उम्मीद पूरी न हुई क्योंकि यह वृद्धि दर समाज के समृद्ध हिस्सों के उपभोग और निर्यातों पर आधारित थी और भारत के निर्यात विश्व अर्थव्यवस्था की अच्छे स्वास्थ्य पर निर्भर हैं। लेकिन 2007 से भारतीय अर्थव्यवस्था का स्वास्थ्य लगातार बिगड़ता जा रहा है और अब विश्व अर्थव्यवस्था का संकट भारत को भी अपनी चपेट में ले रहा है। और समाज के खुशहाल हिस्सों का उपभोग भारतीय अर्थव्यवस्था के बढ़ने-फूलने की उम्मीदों पर निर्भर करता है और जब अर्थव्यवस्था के मन्दी की ओर बढ़ने की सम्भावनाएँ दिखायी देने लगती हैं तो यह उपभोग भी तेज़ी से घटता है। इन दिनों भारतीय अर्थव्यवस्था में यही कुछ घटित हो रहा है।

सारणी-2 दिखलाती है कि देशी-विदेशी पूँजी को अनेकों सहूलियतें दिये जाने के बावजूद अर्थव्यवस्था में 1991 के बाद निवेश दर में गिरावट आयी और 2003-04 में जाकर ही इसमें वृद्धि शुरू हुई। कुछ घरेलू बचतें 1991 के पश्चात लगभग स्थिर रहीं और इनमें से भी 2003-04 में वृद्धि हुई। इसके दौरान निर्यातों में भले ही वृद्धि हुई लेकिन आयात अधिक तेज़ी से बढ़े (इस पर हम आगे चलकर चर्चा करेंगे)। 1990-91 से 2007-08 के दरमियान कुल घरेलू उत्पादन में कृषि और सहायक धन्धों के हिस्से में तीखी गिरावट आयी, उद्योग का हिस्सा लगभग स्थिर रहा, जबकि सेवा क्षेत्र के हिस्से में बड़ी वृद्धि हुई है। सारणी-3, 2002 में कुछ विकास सूचकांकों के तहत विश्व में भारत का स्थान दिखलाती है।

आइये, अब नवउदारवादी आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था के कुछ प्रमुख क्षेत्रों की कारगुजारी पर एक नज़र डालते हैं।

1. मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर

नवउदारवादी नीतियों के अन्तर्गत तेज़ आर्थिक विकास दर हासिल करने के लिए भारतीय हुक्मरानों ने मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर के विकास पर विशेष उम्मीदें टिकाईं। निजी कॉरपोरेट सेक्टर को, जिसे राजकीय सरपरस्ती हासिल थी, इस विकास अभियान का हिरावल बनाया गया। प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश को छूट दी गयी, आज़ाद बहुपक्षीय व्यापार प्रबन्ध के अन्तर्गत मैन्यूफैक्चरिंग उत्पादों के निर्यात को छूट दी गयी और अवरचनागत ढाँचे में पूँजी निवेश बढ़ाया गया। निजी कॉरपोरेट सेक्टर संगठित मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर के बड़े हिस्से को नियन्त्रित करने और संचालित करने लगा। बाद में मैन्यूफैक्चरिंग से कुल घरेलू उत्पादन में संगठित मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर का हिस्सा बढ़ा। 2007-08 में यह 67.45 प्रतिशत था। इस क्षेत्र के

कॉरपोरेट घरानों को सरकार की ओर से अनेकों सहूलियतें प्रदान की गयीं जिनमें कुछ की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं। जैसे कि सार्वजनिक क्षेत्र और छोटे उद्योगों के लिए आरक्षित उद्योगों को भी निजी कारपोरेट सेक्टर के लिए खोला गया। लाइसेंस राज का ख़ात्मा किया गया। उद्योग के स्थान, तकनोलॉजी, क़ीमतों आदि के बारे में फैसला लेने की निजी कारोबारियों को छूट दी गयी। टैक्स राहतों, पूँजीगत वस्तुओं का खुला आयात, पूँजी बाज़ार, बैंकों, वित्तीय संस्थाओं, विदेशी कर्ज़ लेने आदि की छूटों के अलावा, विशेष आर्थिक क्षेत्र स्थापित करने, उद्योग लगाने के लिए भूमि अधिग्रहण आसान बनाया गया। इस सभी परिवर्तनों का नतीजा क्या निकला? यह सारणी-4 से देखा जा सकता है।

चित्र-1 :

भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर (शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद) 1990 से 2008-09

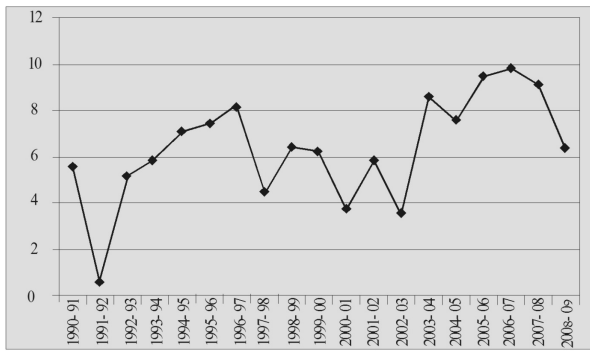

स्रोत - रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, हैण्डबुक आफ़ सटेटिस्टिक्स ऑफ़ इण्डियन इकानमी, 2004, 2009

सारणी-4 से देखा जा सकता है कि नवउदारवाद के पिछले दो दशकों के दौरान भारत के मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर की विकास दर काफ़ी उतारों-चढ़ावों से भरी रही है। 1990-91 में इसमें तेज़ इज़ाफ़ा दिखायी देता है, लेकिन उसके बाद तीखी गिरावट नज़र आती है। बाद में यह डाँवाडोल रहते हुए आगे बढ़ती है और 2004-2005 में इसमें तेज़ी आती है। 2008-09 में यह अपने शिखर पर जा पहुँचती है। और इसके बाद भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व आर्थिक संकट के भँवर में जा फँसती है। 2011-12 में मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर की विकास दर फिर तेज़ी के साथ गिरती है। नवउदारवादी नीतियों के पिछले दो दशकों के दौरान भारत में मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर में जो तेज़ी आयी वह मुख्यत: भारत में विश्व बाज़ार पर बढ़ी हुई निर्भरता का ही नतीजा थी। सारणी-5 से देखा जा सकता है कि मैन्यूफैक्चरिंग से हासिल कुल घरेलू उत्पादन के प्रतिशत के तौर पर भारत में मैन्यूफैक्चरिंग निर्यातों में तो तेज़ वृद्धि हुई ही लेकिन आयात उससे भी अधिक तेज़ी से बढ़े।

चित्र-2

वार्षिक मुद्रा स्फीति (थोक कीमत सूचक अंक) 1985 से 2009

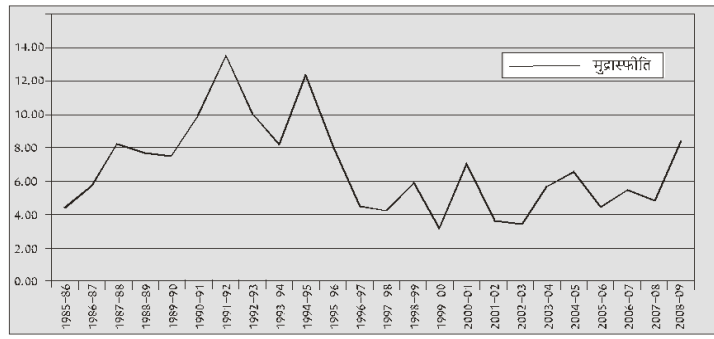

स्रोत - उपरोक्त

सारणी-5 दिखलाती है कि 1990-91 में भारत कुल मैन्यूफैक्चरिंग घरेलू उत्पाद का 28.

सारणी 2 : भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न सूचक (कुल घरेलू उत्पादन के % के तौर पर)

वर्ष	बचतें (कुल घरेलू बचतें)	निवेश (कुल घरेलू पूँजी निर्माण)	निर्यात	आयात	प्रत्यक्ष टेक्स	अप्रत्यक्ष टेक्स	कुल टेक्स	कृषि व अन्य सहायक धंधे	उद्योग	सेवा क्षेत्र
1985- 86	19.0	21.2	4.1	7.5	2.25	13.32	15.56	34.96	18.53	46.52
1986- 87	18.4	20.5	4.2	7.2	2.21	13.71	15.92	33.38	18.97	47.66
1987- 88	20.2	22.1	4.6	7.2	2.11	13.97	16.08	31.72	19.34	48.93
1988- 89	20.5	23.4	4.9	8.1	2.31	13.56	15.88	33.30	19.24	47.46
1989- 90	21.8	24.3	5.8	8.3	2.3	13.68	15.98	31.75	19.72	48.53
1990- 91	22.8	26.0	5.8	8.8	2.16	13.27	15.43	31.37	19.80	48.83
1991- 92	21.5	22.1	6.9	7.9	2.55	13.25	15.8	30.32	19.46	50.21
1992- 93	21.2	23.1	7.3	9.6	2.59	12.66	15.26	30.69	19.07	50.23
1993- 94	21.9	22.5	8.2	9.7	2.53	11.67	14.19	30.01	19.40	50.60
1994- 95	24.4	25.5	8.3	11.1	2.85	11.75	14.60	27.34	21.24	51.43
1995- 96	24.4	26.2	9.1	12.3	3.01	11.74	14.75	29.53	20.13	50.33
1996- 97	22.7	24.0	8.8	12.6	3	11.69	14.69	27.83	21.23	50.94
1997- 98	23.8	25.3	8.7	12.5	3.32	11.17	14.49	26.00	20.77	53.23
1998- 99	22.3	23.3	8.2	11.4	2.82	10.56	13.38	25.91	20.16	53.93
1999- 00	24.8	25.9	8.3	12.3	3.12	10.95	14.07	24.99	19.60	55.40
2000- 01	23.7	24.3	9.9	12.6	3.41	11.11	14.52	23.89	19.99	56.12
2001- 02	23.5	22.8	9.4	11.8	3.21	10.59	13.8	23.99	19.33	56.68
2002- 03	26.4	25.2	10.6	12.7	3.56	10.96	14.51	21.43	19.88	58.69
2003- 04	29.8	28.2	11	13.3	3.98	11.06	15.03	21.72	19.42	58.86
2004- 05	31.8	32.2	12.1	16.9	4.35	11.34	15.7	20.20	19.61	60.19

स्रोत – रिजर्व बैंक आफ़ इण्डिया, हैण्डबुक आफ स्टेटिस्टिक्स व इण्डिया पब्लिक फाइनेंस स्टेटिस्टिक्स।

60 प्रतिशत निर्यात करता था, जबकि 2008-09 में यह आँकड़ा बढ़कर 71.76 प्रतिशत हो गया। इस अरसे के दौरान मैन्यूफैक्चरिंग आयात, कुल मैन्यूफैक्चरिंग घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के तौर पर 37.90 प्रतिशत से बढकर 115.52 प्रतिशत हो गये। 2008-09 में भारत के मैन्यूफैक्चरिंग निर्यात, मैन्यूफैक्चरिंग आयातों का 62.12 प्रतिशत थे। यह आँकड़े दिखलाते हैं कि पिछले दो दशकों के दौरान भारत का औद्योगिक क्षेत्र किस हद तक अन्तरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर निर्भर हो गया और भारतीय अर्थव्यवस्था किस तरह वैश्वीकृत हो चुकी है जो अब अन्तरराष्ट्रीय उतारों-चढ़ावों से विलग नहीं रह सकती।

2. नवउदारवाद के तहत भारतीय कृषि

पिछले दो दशकों के दौरान भारत का कृषि क्षेत्र भी नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के प्रभाव से मुक्त नहीं रहा। 1991 के बाद कृषि क्षेत्र में भारतीय बुर्जुआ वर्ग की नीतियों में कई बदलाव

सारणी-3 – 2002 में कुछ विकास सूचकांकों पर विश्व में भारत की स्थिति

क्रमांक	श्रेणी	भारत का स्थान
1	मानव विकास सूचक अंक	127
2	बच्चों की मौतें (प्रति हजार जन्मों की पीछे)	67
3	डालरों में प्रति व्यक्ति आय	487
4	वयस्क साक्षरता (15 वर्ष व इससे अधिक आयु के व्यक्तियों के प्रतिशत के तौर पर)	61.3
5	प्रति दिन 1 डालर से कम आय वाली आबादी का प्रतिशत	34.7
6	प्रति दिन 2 डालर से कम आय वाली आबादी का प्रतिशत	79.9
7	पाँचवी कक्षा में पहुँचने वाले बच्चे (पहली कक्षा में दाखिला लेने वाले बच्चों के प्रतिशत के तौर पर)	59
8	अरोग्यता व्यवस्था (सेनीटेशन) तक पहुँच वाली आबादी का प्रतिशत	28
9	जन्म के समय कम भार वाले बच्चों का प्रतिशत	30

स्रोत : संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम 2004

भारतीय कृषि में आये बदलावों की चर्चा हमने पंजाबी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' में छपे एक निबन्ध में काफ़ी विस्तार से की है। (देखें 'प्रतिबद्ध' अंक 1-4)। उपरोक्त निबन्ध 2005-06 में लिखा गया था, निश्चित तौर पर उसके बाद भारतीय कृषि में कई बदलाव हुए हैं। लेकिन इसे मात्रात्मक इज़ाफ़ा ही कहा जा सकता है। भारतीय कृषि में 2005-06 के बाद हुए बदलावों की मूल दिशा वही रही है जिसकी निशानदेही हमने उपरोक्त निबन्ध में की थी। निश्चित तौर पर यह दिशा भारतीय कृषि में अधिक परिपक्व पूँजीवादी विकास की रही है। दोहराव से बचने के लिए हम यहाँ नवउदारवादी नीतियों के तहत भारतीय कृषि में हुए परिवर्तनों से सम्बन्धित कुछ बिन्दुओं तक ही ख़ुद को सीमित रखेंगे। भारत का कृषि क्षेत्र पिछले दो दशकों के दौरान बड़ी उथल-पुथल से होकर हुए। पहले तो यह कि हर क्षेत्र की तरह इस क्षेत्र से भी सरकार ने अपना हाथ खींच लिया। पहले सरकार कृषि के विकास के लिए जो निवेश करती थी वह अब लगातार घटने लगा, फिर सरकार ने कई ऐसे कदम उठाये जिन्होंने भारतीय कृषि को बड़े स्तर पर प्रभावित किया। ये कदम थे, विश्व व्यापार संगठन के निर्देशों के अन्तर्गत कृषि मालों के व्यापार से कोटा रोकें हटाना, कृषि मालों के बाज़ारीकरण और भोजन संसाधन उद्योग में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की आज्ञा देना। उच्च पूँजी प्रधान कृषि में निजी कॉरपोरेट क्षेत्र को शामिल करना, इसके साथ कृषि अनुसन्धान और विकास, तकनोलॉजी हस्तान्तरण, बाज़ारीकरण आदि में इस क्षेत्र की भागीदारी। पट्टेदारी क़ानून में फेर-बदल, ठेका कृषि को बढ़ावा देना, कृषि मालों की सट्टेबाज़ी को छूट देना आदि।

नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के तहत

सारणी-4

तुलनात्मक वास्तविक ओद्योगिक विकास दर

वर्ष	कुल उद्योग (%)	मैनुफैक्चरिंग सेक्टर (%)	छोटे उद्योग (%)
1990-91	8.2	9.0	9.1
1991-92	0.6	-0.8	3.1
1992-93	2.3	2.2	5.6
1993-94	6.0	6.1	7.1
1994-95	8.4	8.5	10.1
1995-96	12.8	13.8	11.4
1996-97	5.6	6.7	11.3
1997-98	6.6	6.7	8.4
1998-99	4.0	4.4	7.7
1999-00	6.4	7.0	8.1
2000-01	5.0	5.3	8.2
2001-02	2.7	2.9	8.3
2002-03	5.7	6.0	8.6
2003-04	7.0	7.4	9.6
2004-05	8.3	9.0	10.8
2005-06	8.1	10.1	12.3
2006-07	11.5	11.3	12.6
2007-08	8	9.00	13
2008-09	15.1	16.2	-

केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन

सारणी –5

मैनुफेक्चरिंग निर्यातों, मैनुफेक्चरिंग आयातों, मैनुफेक्चरिंग से कुल घरेलु उत्पादन

वर्ष	कुल मैनुफेक्चरिंग निर्यात (1)	कुल मैनुफेक्चरिंग आयात (2)	मैनुफेक्चरिंग से कुल घरेलु उत्पादन (3)	3 के % के तौर पर 1	3 के % के तौर पर 2	2 के % के तौर पर 1
1970-71	860	1142	6088	14.13	18.76	75.29
1980-81	3948	8598	22159	17.82	38.80	45.92
1990-91	24596	32597	86006	28.60	37.90	75.46
2001-02	166442	158716	315314	52.79	50.34	104.87
2002-03	203905	187258	346029	58.93	54.12	108.89
2003-04	234232	247538	388549	60.28	63.71	94.62
2004-05	271049	325572	453225	59.80	71.83	83.25
2005-06	335569	442485	522146	64.27	84.74	75.84
2006-07	403047	575978	634304	63.54	90.80	69.98
2007-08	437139	697632	731078	59.79	95.43	62.66
2008-09	584133	940378	814025	71.76	115.52	62.12

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, भारत सरकार व केन्द्रीय आँकड़ा संस्थान, भारत सरकार

गुज़रा है। 1947 में भारत की राज्यसत्ता पर काबिज़ हुए बुर्जुआ वर्ग ने भारतीय कृषि के क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण की जिस प्रक्रिया की शुरुआत की थी, वह प्रक्रिया पिछले दो दशकों के दौरान तेज़ी से आगे बढ़ी है। 1990–91 के दौरान भारत के कुल घरेलू उत्पादन में कृषि का योगदान 31.37 प्रतिशत था जो 2007–08 में घटकर 17.75 प्रतिशत रह गया। 2008–09 के दौरान यह 13.2 प्रतिशत था (जंगलात और मत्स्य पालन को छोड़कर)। कुल घरेलू उत्पादन में कृषि का हिस्सा घटने के बावजूद अभी भी कृषि पर भारत की श्रम शक्ति का काफ़ी बड़ा हिस्सा निर्भर है। जिस रफ़्तार के साथ कुल घरेलू उत्पादन में कृषि के हिस्से में कमी आयी है, उस रफ़्तार के साथ कृषि पर निर्भर आबादी की संख्या में कमी नहीं आयी है, लेकिन फिर भी गणना–योग्य हद तक कमी आयी है। 1991 में कृषि पर भारत की आबादी का 67.3 प्रतिशत हिस्सा निर्भर था जो कि 2008–09 में घटकर 52 प्रतिशत रह गया। 1991 से पहले के समय से तुलना की जाये तो यह बदलाव काफ़ी तीखा नज़र आता है। 1961 में कृषि पर निर्भर आबादी 72.28 प्रतिशत थी जो कि 1991 में घटकर 67.37 प्रतिशत रह गयी थी, यानी 30 वर्षों के अरसे में कृषि पर निर्भर आबादी की संख्या में सिर्फ़ 5 प्रतिशत ही कमी आयी थी, जबकि 1991–2009 के बीच के 18 वर्षों में यह कमी 15.3 प्रतिशत रही है।

पिछले दो दशक भारत में तेज़ विकिसानीकरण के भी दशक रहे हैं। 2001 की जनगणना के मुताबिक भारत की कुल श्रम शक्ति में किसानों (Cultivators) की संख्या 31 प्रतिशत थी। 2005 की भारत सरकार की एक रिपोर्ट के मुताबिक भारत के कुल किसानों में से 40 प्रतिशत किसान कृषि छोड़ना चाहते थे। भारत की श्रम शक्ति में किसानों की संख्या के ताज़ा आँकड़े फिलहाल हमारे पास नहीं हैं। लेकिन यह नतीजा आसानी से निकाला जा सकता है कि 2001 के बाद निश्चित तौर पर किसानों की संख्या कम हो रही है और आने वाले समय में इसके और घटने के आसार हैं, जिससे नतीजा निकाला जा सकता है कि भारतीय क्रान्ति की नियति तय करने में इस वर्ग की भूमिका कम होती जायेगी। सारणी–6 से भी स्पष्ट है कि भारत की पेशागत (Occupational) सरंचना लगातार बदलती जा रही है।

3. विदेश व्यापार भुगतान सन्तुलन की बिगड़ती परिस्थिति

भारतीय हुक्मरानों की ओर से 1991 में अपनायी गयीं नवउदारवादी नीतियों के अन्तर्गत निर्यात बढ़ाने पर ज़ोर दिया गया। उन्हें उम्मीद थी कि अर्थव्यवस्था को विदेशी पूँजी के लिए खोलने, देशी पूँजी को और अधिक छूटें-सुविधाएँ देने, साम्राज्यवादी देशों की उन्नत तकनीक के भारत के सस्ते कच्चे माल और सस्ती श्रम शक्ति से मिलने से भारत से निर्यात बढ़ेंगे और ये बढ़ रहे निर्यात संकटग्रस्त भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास को बढ़ावा देंगे। इसके लिए भारतीय हुक्मरानों ने आयात-निर्यात नीतियों में बड़े फेर-बदल भी किये। अब विदेश व्यापार सम्बन्धी

सारणी -6 : खेतिहर व गैर खेतिहर पेशों में रोजगार वृद्धि के रुझान (%)

	खेतिहर			गैर खेतिहर		
	1993-94 से 1999-00	1990-00 से 2004-05	1993-94 से 2004 -05	1993-94 से 1999-00	1999-00 से 2004-05	1993-94 से 2004-05
रोज़गार	0.03	0.85	0.40	2.53	4.66	3.49
सकल घरेलू उत्पादन (वृद्धि दर)	2.88	1.76	2.37	8.11	7.22	7.71

स्रोत : एन.सी.इ.यू.एस. (भारत सरकार 2009)

इन बदलावों पर नज़र डालते हैं।

(क) भारत से निर्यात

भारत के निर्यातों की मात्रा में बढ़ोत्तरी दर देखने पर पता चलता है कि 1990 के दशक के दौरान भारत से निर्यातों की स्थिति 1980 के दशक से बहुत अलग नहीं थी। वर्तमान सदी के पिछले दशक के दौरान भारत के निर्यातों की हालत में कुछ सुधार आया वह भी इस दशक के 2002-2007 की अवधि के दौरान। विश्व निर्यातों में भारत का हिस्सा 1990-91 के दौरान 0. 5 प्रतिशत था जिसमें कि नवउदारवादी नीतियों के पहले दशक के दौरान मामूली इज़ाफ़ा हुआ था, जबकि 2001 में यह बढ़कर 0.7 प्रतिशत हो गया। 2005 में यह बढ़कर 1 प्रतिशत हो गया और 2007 तक इसमें कोई इज़ाफ़ा नहीं हुआ। 2008 में यह बढ़कर 1.1 प्रतिशत हो गया। यह आँकड़े दिखाते हैं कि निर्यातों में वृद्धि भारतीय हुक्मरानों की उम्मीदों पर पूरी नहीं उतरी।

(ख) व्यापार की शर्तें

निर्यात क़ीमतों और आयात क़ीमतों का अनुपात व्यापार की शुद्ध (छमज) शर्तें कहलाता है।

व्यापारिक आय को व्यापार की शुद्ध शर्तों और निर्यातों की उपज के तौर पर परिभाषित किया जाता है। कोई भी देश आयातों की ख़रीद के लिए निर्यात करता है। किसी वैकल्पिक स्रोत की ग़ैर-हाज़िरी में किसी देश की आयात क्षमता, निर्यातों के मूल्य और मात्रा पर निर्भर करती है। आयातों के लिए किसी देश के निर्यातों का बढ़ना बहुत ज़रूरी है। नहीं तो आयातों के लिए वैकल्पिक स्रोत के तौर पर किसी देश को कर्ज़ के लिए अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक जैसी अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं के पास जाना पड़ता है, जिनसे कर्ज़ बहुत महँगा मिलता है, ऊपर से कर्ज़ के साथ बहुत सारी शर्तें भी जड़ी होती हैं। सारणी-7 से भारत के विदेश व्यापार की स्थिति देखी जा सकती है।

सारणी-7 से 2002-07 के बीच भारत के निर्यातों की कारगुजारी बेहतर नज़र आती है। लेकिन इन वर्षों में 2002-2003 और 2005-06 के बीच शुद्ध व्यापारिक शर्तें भारत के प्रतिकूल रहीं। व्यापार की इन प्रतिकूल शर्तों ने, भारत से निर्यातों के बढ़ने से होने वाले फायदों को कम किया। इस अरसे के दौरान आयातों की क़ीमतों, और भारत से निर्यातों की क़ीमतों से अधिक तेज़ी के साथ बढ़ीं।

व्यापार की आय शर्तें किसी बन्द अर्थव्यवस्था की आयात क्षमता को दिखलाती हैं। लेकिन असल में किसी देश का आयात निर्यात के तौर पर आयात क्षमता से भी अधिक हो सकता है। भारतीय अर्थव्यवस्था के बारे में यह बात लम्बे अरसे से सच है। 1981 में भारत की निर्यात व्यापार आय, व्यापारिक आयातों का 53 प्रतिशत थी, जो कि 1980 के दशक के दौरान बढ़कर लगभग 80 प्रतिशत हो गयी। 199-92 के दौरान यह और बढ़कर 92 प्रतिशत हो गयी। लेकिन उसके बाद इसमें लगातार गिरावट आती गयी। 2000-01 में यह घटकर 74 प्रतिशत रह गयी और 2008-09 में यह 59 प्रतिशत रह गयी, जो कि भारत की 1981 की निर्यात आय के बराबर थी। यानी इस मामले में भारतीय अर्थव्यवस्था तीन दशकों का चक्र पूरा करके पुनः पहली वाली जगह पर आ गयी।

21वीं सदी के पहले दशक के दौरान भारत की विश्व अर्थव्यवस्था में एकरूप होने की रफ़्तार भी काफ़ी तेज़ हुई है। भारत का औसत अन्तरराष्ट्रीय व्यापार अनुपात (निर्यात + आयात) 1992-93 से 1994-95 के बीच 19 प्रतिशत था जो 2002-03 में बढ़कर 27 प्रतिशत हो गया। 2010-11 में यह अनुपात 48 प्रतिशत था। विश्व अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था के तेज़ी से जुड़ने के इस अरसे में भारत के कुल आयात और इसी तरह तेल का आयात दोगुना हो गया। नतीजा, घरेलू उत्पादन में वृद्धि दर घटने के बावजूद निर्यात से आयात तेज़ी से बढ़े, जिसका नतीजा चालू खाते के बड़े घाटे में निकला।

भारतीय अर्थव्यवस्था की आयातों पर निर्भरता ने अर्थव्यवस्था के तीन क्षेत्रों को विभिन्न ढंग से प्रभावित किया क्योंकि इन तीनों क्षेत्रों का विश्व अर्थव्यवस्था में जुड़ाव अलग-अलग है। भारत का मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर विश्व अर्थव्यवस्था से सबसे अधिक जुड़ा हुआ है। 2010-11 में इसका औसत व्यापार अनुपात 180 प्रतिशत था। कृषि और सेवा क्षेत्र के लिए यह अनुपात 20 प्रतिशत था। अगर 'वित्तीय और बिज़नेस सेवाओं' को एक उप-क्षेत्र मान लें तो इसके लिए आँकड़ा 58 प्रतिशत था।

इन तीनों क्षेत्रों में मैन्यूफैक्चरिंग क्षेत्र सिर्फ़ ऐसा है जो व्यापार घाटे का शिकार है। 2010-11 में यह घाटा मैन्यूफैक्चरिंग से कुल घरेलू उत्पादन का 44 प्रतिशत था।

(ग) चालू खाते का घाटा

नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के दौरान भारत का चालू खाता कई उतारों-चढ़ावों से गुज़रा, लेकिन इसकी मुख्य दिशा चालू खाते का घाटा बढ़ने की रही है।

सारणी-9 से देखा जा सकता है कि व्यापारिक वस्तुओं के खाते में भारत को बड़ा घाटा झेलना पड़ा, जिसकी कुछ हद तक अदृश्यों (सेवाओं का एक हिस्सा) से होने वाली आय ने

सारणी-7 : विदेश व्यापार क्षेत्र की कारगुजारी (सालाना % परिवर्तन)

अवधि	निर्यातों में वृद्धि			आयातों में वृद्धि			व्यापार की शर्तें	
	मुल्य	मुल्य	इकाई मुल्य	मुल्य	मात्रा	इकाई मुल्य	शुद्ध (Net)	आय
1900-95	8.1	10.9	12.6	4.6	12.9	7.6	5.0	16.5
1995-00	7.3	10.2	4.3	12.0	11.9	6.9	-2.0	7
2000-01	21.0	23.9	3.3	1.7	-1.0	8.2	-4.5	18.3
2001-02	-1.6	3.7	-1.0	1.7	5.0	1.1	-2.1	1.5
2002-03	20.3	21.7	0.3	19.4	9.5	10.7	-9.4	10.3
2003-04	21.1	6.0	8.5	27.3	20.9	-0.1	8.6	15.1
2004-05	30.8	17.6	8.9	42.7	14.7	21.6	0.5	5.0
2005-06	23.4	45.4	20.4	33.8	-1.6	49.0	-27.4	-33.2
2006-07*	36.3	-	-	36.3	-	-	-	-

* नोट : आर्थिक सर्वेक्षण 2006-07

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 2006-07

पूर्ति की कोशिश की लेकिन फिर भी चालू खाते की हालत 2004-05 के बाद लगातार बिगड़ती गयी।

चित्र-3 चालू खाते के घाटे के लिए जिम्मेदार कारकों की जानकारी देता है। चित्र-3

सारणी-8 आयातों के प्रतिशत के तौर पर निर्यात

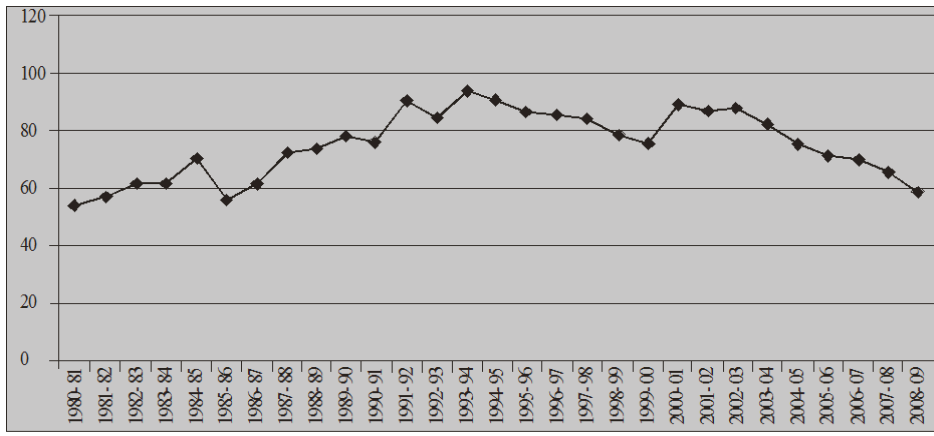

स्रोत : हैण्डबुक आफ स्टेटिस्टिक आफ इण्डियन इकानमी, 2010

दिखाता है कि चालू खाते के घाटे के लिए जिम्मेदार सबसे बड़ा कारक वस्तु आयात बिल था। वस्तुओं के आयात 2010-11 में 381 बिलियन डालर से बढ़कर 500 बिलियन डालर हो गये। 29 जून, 2012 को भारतीय रिजर्व बैंक ने अपने एक बयान में कहा कि, "2011-12 के दौरान चालू खाते का घाटा 78.2 बिलियन अमेरिकी डालर (भारतीय मुद्रा में यह 3,91,000 करोड़ अधिक बनेगा जबकि 2008-09 के दौरान यह 1,32,271 करोड़ रुपये था) हो गया (कुल घेरलू उत्पादन का 4.2 प्रतिशत) जो 2010-2011 के दौरान 46 बिलियन अमेरिकी डॉलर (कुल घरेलू उत्पादन का 2.7 प्रतिशत) था।"

(घ) सिकुड़ रहा विदेशी व्यापार मुद्रा भण्डार

1991 में भारत के भुगतान सन्तुलन का संकट इतना गहरा था कि विदेशी मुद्रा भण्डार खाली

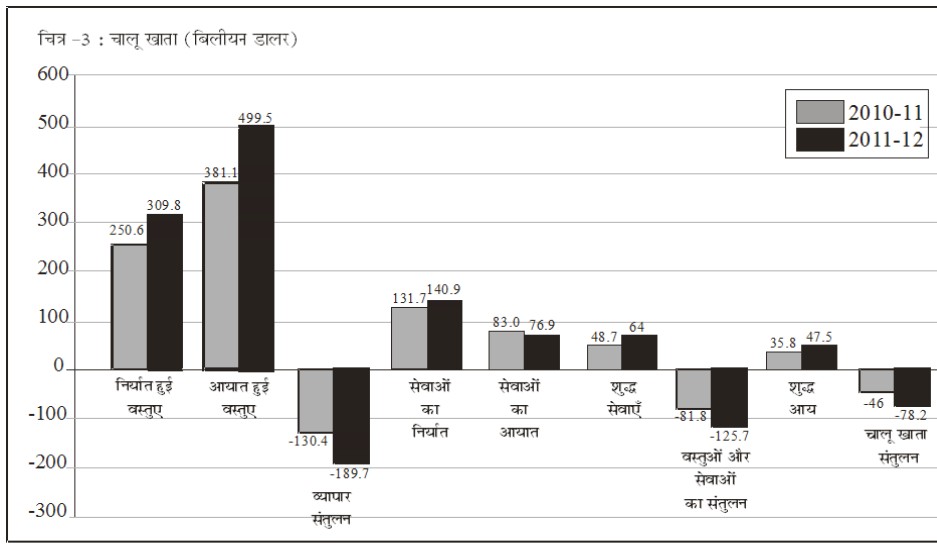

स्रोत : macroscan.org

हो गया था और भारत को आयात हासिल करने के लिए अपना सोना गिरवी रखना पड़ रहा था। 1991 में भारतीय हुक्मरानों द्वारा अपनायी गयीं नवउदारवादी नीतियों के पश्चात भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार में बड़ा इज़ाफ़ा हुआ। जून 2011 में भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार 315. 7 बिलियन अमेरिकी डालर था। भारत के हुक्मरान इस बड़े विदेशी मुद्रा भण्डार को नवउदारवादी नीतियों की कामयाबी के तौर पर पेश करते रहे हैं। लेकिन अब विश्वव्यापी आर्थिक संकट के दौर में भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार लगातार कम होता जा रहा है (हाल ही में सरकार ने भारतीय अर्थव्यवस्था के संकट की प्रतिक्रिया के तौर पर जो विदेशी पूँजी को भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में छूटें दी हैं, उनकी बदौलत हो सकता है कि भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार की गिरावट का सिलसिला रुक जाये, या इसमें कुछ इज़ाफ़ा हो जाये। लेकिन ऐसा कोई भी बदलाव अल्पकालिक ही होगा)। (देखें : चित्र-4)

सारणी-9

चालू खाता शुद्ध संतुलन (Net Balance) की संरचना (करोड़ रु.)

वर्ष/ माल	व्यापारिक कुल (क)	अदृष्य कुल (ख)	अदृष्यों की संरचना					कुल चालू खाता (क+ख)
			सेवाएँ		हस्तांतरण		आय कुल	
			कुल सेवाएँ	इनमें से साफ्टवेयर सेवाएँ	कुल हस्तांतरण	इनमें से निजी हस्तांतरण		
1990-91	- 16933	- 433	1761	-	4539	3712	- 6733	- 17366
1991-92	- 6494	4259	3133	-	10522	9382	- 9396	- 2235
1992-93	- 17239	4475	2698	-	12280	11226	- 10503	- 12764
1993-94	- 12723	9089	1677	-	17670	16514	- 10258	- 3634
1994-95	- 28419	17836	1883	-	26726	25417	- 10773	- 10583
1995-96	- 38061	18415	- 702	-	29833	28660	- 10716	- 19646
1996-97	- 52561	36279	2621	-	45425	43969	- 11767	- 16282
1997-98	- 57805	36922	4943	-	45183	43765	- 13204	- 20883
1998-99	- 55478	38689	9114	-	44542	43242	- 14967	- 16789
1999-00	- 77359	57028	17670	-	54789	53132	- 15431	- 20331
2000-01	- 56737	45139	7905	26308	59967	58811	- 22733	- 11598
2001-02	- 54955	71381	15889	32836	75560	73363	- 20068	16426
2002-03	- 51697	82357	17644	42859	81403	79229	- 16690	30660
2003-04	- 63386	127369	46381	56606	101696	99165	- 20708	63983
2004-05	- 151765	139591	68831	75825	93135	91971	- 22375	- 12174
2005-06	- 229664	185927	102611	98678	109432	108565	- 26116	- 43737
2006-07	- 279962	235579	133064	131144	135749	134608	- 33234	- 44383
2007-08	- 368532	299618	151059	149721	168447	167495	- 19888	- 68914
2008-09	- 542113	409842	228778	202890	202180	201050	- 21116	- 132271

स्रोत : हैण्डबुक ऑफ स्टैटिस्टिक्स ऑफ इण्डियन इकॉनमी, 2010

इसी वर्ष (2012) 1 जून को भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार में 2.4 बिलियन डालर की गिरावट दर्ज़ हुई। 1 जून, 2012 तक पिछले एक वर्ष के अरसे के दौरान भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार में 9 प्रतिशत या 27 बिलियन डालर की गिरावट आयी। इस गिरावट का आंशिक कारण तो यूरो जैसी मुद्राओं (जो कि भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार का एक अंश हैं) का मूल्य घटना था। लेकिन विदेशी मुद्रा भण्डार में कमी का मुख्य कारण ऐसा मूल्य घटना नहीं था, बल्कि मुख्य कारण यह था कि भारतीय रिजर्व बैंक को डालर भण्डार का कुछ हिस्सा बेचना पड़ा। भारत की उदारीकृत मुद्रा विनिमय व्यवस्था में भारतीय रिजर्व बैंक विदेशी मुद्रा-सम्बन्धी प्रतिबद्धताओं को पूरा करने के लिए, या आयातों के लिए आवश्यक डालर की पूर्ति करने के लिए सीधे रूप में दख़ल नहीं दे सकता। इसलिए जिन्हें डालर की ज़रूरत होती है, उन्हें विदेशी मुद्रा के अधिकृत डीलरों तक पहुँच करनी पड़ती है। लेकिन जब बाज़ार में डालर की माँग अधिक हो और पूर्ति (विदेशों से आमद) कम हो तो डालर के मुकाबले रुपये का मूल्य घटता है और अगर डालर की पूर्ति माँग से अधिक हो तो इसके विपरीत घटता है। गुज़रे समय में भारत की समस्या विदेशी पूँजी की आमद बढ़ने से विदेशी मुद्रा की अधिक पूर्ति थी। इसके नतीजे के तौर पर रुपये का मूल्य बढ़ा, जिसके कारण अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में

भारत के निर्यातों की मुकाबला क्षमता घटी। इस हालत को बदलने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक को डालर ख़रीदकर विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ाने के लिए, (और रुपये की मूल्य वृद्धि पर लगाम कसने के लिए) एक से अधिक बार दख़ल देना पड़ा। लेकिन रिजर्व बैंक को ऐसी कार्रवाई की क़ीमत चुकानी पड़ती है। जितना ही रिजर्व बैंक की विदेशी मुद्रा परिसम्पत्तियों (एसेट्स) में वृद्धि, चलन (Circulation) में रुपये के रूप में इसकी देनदारियों में वद्धि के मुताबिक होता है, तो इस प्रक्रिया का नतीजा अर्थव्यवस्था में तरलता को सोखने के लिए रिजर्व बैंक को रुपये परिसम्पत्तियों के एक हिस्से (मुख्य तौर पर सरकारी सिक्योरिटीज़ के रूप में) को बेचना पड़ता है। उन सुरक्षित परिसम्पत्तियों, जिन्हें आसानी से बेचकर नकदी हासिल की जा सकती है, (जिनमें साधारणत: विदेशी भण्डार रखे जाते हैं) से ऐसी सिक्योरिटीज़ पर अधिक ब्याज़ देना पड़ता है। रिजर्व बैंक को इस घाटे की पूर्ति करनी पड़ती है।

अगर किसी देश के केन्द्रीय बैंक के पास बड़ा विदेशी मुद्रा भण्डार हो तो यह देश की अर्थव्यवस्था के लिए अच्छा होता है। लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था की अब समस्या यह है कि अब भारत की ओर विदेशी मुद्रा का बहाव कम हो गया है, जबकि भुगतान सन्तुलन के चालू खाते का घाटा लगातार बढ़ रहा है। चालू खाते के घाटे की पूर्ति के लिए विदेशी मुद्रा की आमद घटने के साथ, विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ रही है, नतीजा रुपये के अवमूल्यन में निकल रहा है। रुपये के अवमूल्यन को रोकने के लिए रिज़र्व बैंक को विदेशी मुद्रा की पूर्ति बढ़ाने के लिए विदेशी मुद्रा का एक हिस्सा बेचना पड़ रहा है। जिसकी वजह से विदेशी मुद्रा भण्डार घटता जा रहा है। यहाँ भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार की कमज़ोरी भी सामने आती है। भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार चीन की तरह, विदेशी मुद्रा के सालाना ख़र्चों की तुलना में

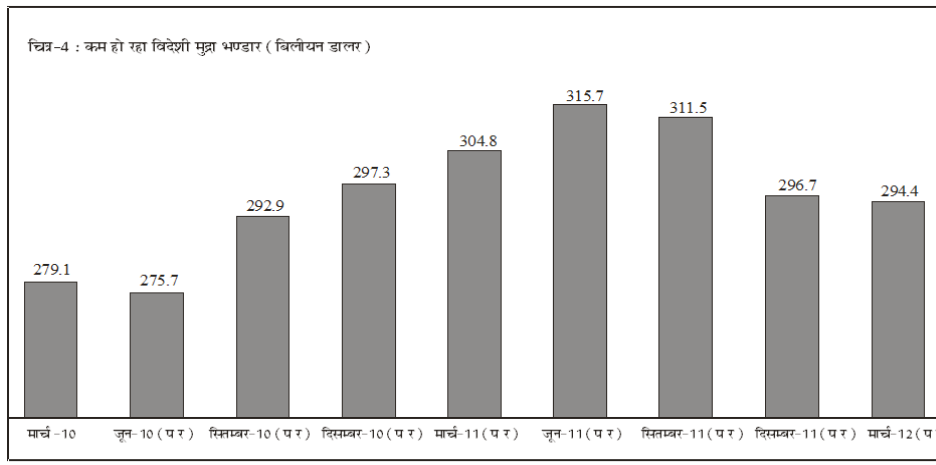

स्रोत : **macroscan.org**

विदेशी मुद्रा की अधिक कमाई से नहीं बना। 1991 के बाद के वित्तीय उदारीकरण की बदौलत देश में पोर्टफोलियो निवेश और कर्ज़ के रूप में विदेशी मुद्रा का प्रवाह बढ़ा। 31 दिसम्बर, 2011 को भारत का कुल विदेशी कर्ज़ 289.7 बिलियन अमेरिकी डालर था। भारतीय हुक्मरान जो बड़े विदेशी मुद्रा भण्डार के दावे करते थे, ये आँकड़े इन दावों की पोल खोलते

हैं। घाटे के वित्तीय पोषण से अधिक विदेशी पूँजी आने के कारण रिजर्व बैंक को विदेशी मुद्रा ख़रीद के आरक्षित भण्डार के तौर पर जमा करनी पड़ी। हाल के समय में, विश्व आर्थिक संकट और भारतीय अर्थव्यवस्था की सुस्ती के कारण विदेशी मुद्रा का भारत की ओर प्रवाह तो कम हुआ ही है बल्कि इसका एक हिस्सा यहाँ से बाहर भी जाने लगा है। ऊपर से सितम यह कि यह सब ऐसे समय में हो रहा है जब भारत के चालू खाते का घाटा बढ रहा है।

4. विदेशी पूँजी निवेश

भारत में विदेशी पूँजी की आमद मुख्यत: तीन ढंगों से होती है। एक है प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (FDI), दूसरा है पोर्टफोलियो निवेश (FPEI), यानी शेयर बाज़ार में निवेश होने वाली पूँजी, और तीसरा है विदेश कर्ज़। इसके अलावा विदेशों में काम कर रहे भारतीय कामगारों द्वारा देश में भेजी जाने वाली अपनी कमाई भारत सरकार के लिए विदेशी मुद्रा का एक बड़ा ज़रिया है। 1991 के बाद भारतीय हुक्मरानों द्वारा विदेशी पूँजी को लगातार दी गयी छूटों-सहूलियतों की बदौलत भारत में विदेशी पूँजी की आमद में बड़े स्तर पर इज़ाफ़ा हुआ है। ए.टी.कीयर्ने रिपोर्ट के मुताबिक 2011 में विश्व स्तर पर विदेशी निवेश भरोसा सूचकांक में भारत का तीसरा स्थान था। यूरोपीय और उत्तरी अमेरिकी निवेशक भी इसे तीसरे स्थान पर रखते हैं जबकि एशिया-प्रशान्त के देश इसे चौथे स्थान पर रखते हैं। विदेशी (साम्राज्यवादी) पूँजी के लिए भारत के दरवाज़े कभी-भी पूरी तरह से बन्द नहीं रहे। आज़ादी के बाद लगातार यहाँ विदेशी पूँजी की आमद जारी रही। लेकिन 1991 से पहले इसकी आमद पर तरह-तरह की रोकें थीं और भारतीय अर्थव्यवस्था के अनेकों क्षेत्रों में इसके दाख़िले पर पूर्ण पाबन्दी थी। इसलिए भारत में विदेशी निवेश की आमद बहुत थोड़ी थी। 1948 के मध्य में भारत में 2.6 बिलियन रुपये का विदेशी निवेश हुआ, मार्च 1964 में यह बढ़कर 9.16 बिलियन हो गया। 1948-1990 के बीच भारत में कुल 53.84 बिलियन रुपये का विदेशी निवेश हुआ। 1991 के बाद भारत में विदेशी पूँजी की आमद में उभार नज़र आता है। 1991-2010 के अरसे में भारत में कुल 1418.64 बिलियन रुपये का विदेशी निवेश हुआ।

1991 में भारत में निवेश करने वाले देशों की सूची में सिर्फ़ 15 देश शामिल थे, जिनकी संख्या 2008 में बढ़कर 120 हो गयी। लेकिन भारत में विदेशी निवेश का बड़ा हिस्सा कुछ ही देशों से आता है। 1991-2008 के दौरान भारत में सबसे अधिक विदेशी पूँजी निवेश मारीशस से हुआ। दरअसल, मारीशस एक ऐसा देश है जहाँ से भारत में होने वाले पूँजी निवेश पर भारत सरकार की ओर से कई तरह की कर रियायतें दी जाती हैं। इसलिए साम्राज्यवादी देशी की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अक्सर मारीशस के रास्ते भारत में पूँजी लगाती हैं। मारीशस के बाद उपरोक्त अरसे के दौरान भारत में सबसे अधिक पूँजी निवेश अमेरिका से हुआ है। उपरोक्त अठारह वर्षों के दौरान भारत में विदेशी निवेश के आँकड़े दिखाते हैं कि इन वर्षों में 66 प्रतिशत विदेशी निवेश सिर्फ़ पाँच देशों मारीशस, अमेरिका, सिंगापुर, यूनाइटेड किंगडम व नीदरलैण्ड से हुआ है।

1991 में भारतीय अर्थव्यवस्था के सिर्फ़ 16 सेक्टर ही विदेशी निवेश के लिए खुले थे, जिनकी संख्या 2011 में बढ़कर 63 हो गयी। 2010 तक जिन सेक्टरों में सबसे अधिक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश हुआ वे थे - अवसंरचनागत क्षेत्र (28.62 प्रतिशत), सेवा क्षेत्र (22.14

प्रतिशत), व कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर और हार्डवेयर सेक्टर (9.48 प्रतिशत)।

भारत में होने वाले विदेशी पूँजी निवेश में पोर्टफोलियो निवेश का हाथ ऊपर रहा है (देखें चित्र-5)। यह एक ऐसा निवेश है जो झट-फट मुनाफ़े हासिल करने के लिए आता है और संकट की घड़ी में कभी भी उडारी मार जाता है। इसीलिए इसे 'गर्म पैसा' भी कहते हैं।

भारत के विभिन्न राज्यों में विदेशी पूँजी की आमद बेहद असमान रही है। भारत में अप्रैल 2000 से जनवरी 2012 तक हुए प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में से 70 प्रतिशत निवेश सिर्फ़ चार राज्यों, महाराष्ट्र (34), नयी दिल्ली (20), कर्नाटक (6), तामिलनाडु (5), और गुज़रात (5) में ही हुआ है। इन राज्यों में भी यह निवेश अधिकतर बड़े महानगरों के आस-पास ही केन्द्रित रहा है।

जहाँ तक भारत के विदेशी कर्ज़ का प्रश्न है इसमें 2001 (मार्च अन्त) से 2011 (सितम्बर अन्त) के बीच लगभग तीन गुणा वृद्धि हुई है। 2001 (मार्च अन्त) में भारत में विभिन्न स्रोतों से कुछ विदेशी कर्ज़ 4,72,625 करोड़ रुपये (1,01,326 मिलियन डालर) था और 2011 (सितम्बर अन्त) में यह बढ़कर 15,17,752 करोड़ रुपये (3,26, 601 मिलियन डालर) हो गया। (भारत सरकार, आर्थिक सर्वेक्षण 2012)

5. मुद्रास्फीति व खाद्य सुरक्षा

हालाँकि कमरतोड़ महँगाई से भारत की मेहनतकश जनता को कभी-भी निजात नहीं मिली, लेकिन नवउदारवादी आर्थिक सुधारों के दौरान तो महँगाई सभी हदें पार कर गयी है। भारत उन मुख्य देशों में शुमार होता है जहाँ मुद्रास्फीति की दर काफ़ी ऊँची चल रही है। 2009 के अन्त में भारत में खाद्य पदार्थों के मामले में मुद्रास्फीति की दर 20 प्रतिशत के ऊपर थी।

विश्व आर्थिक संकट के, 2008 के मध्य के धमाके से पहले विश्व के अधिकांश हिस्सों में उच्च मुद्रास्फीति आम थी। विश्व का माल मूल्यों में वृद्धि का धमाका तेल और खाद्य पदार्थों की बढ़ रही क़ीमतों में प्रकट हुआ। तेल 147 डालर प्रति बैरल की रिकॉर्ड दर पर पहुँच गया। चावल 1000 डालर प्रति टन तक जा पहुँचा। खाद्य पदार्थों की बढ़ी क़ीमतों की सबसे बड़ी मार तीसरी दुनिया के ग़रीबों पर पड़ी। उनकी क्रय शक्ति में बड़ी गिरावट आयी। विश्वव्यापी मन्दी के कारण तेल और खाद्य पदार्थों की क़ीमतों में गिरावट आयी, जिसके नतीजे के तौर पर मुद्रास्फीति के आँकड़े भी नीचे आये, लेकिन यह गिरावट अल्पकालिक ही थी। फरवरी 2010 में फिर से थोक क़ीमत सूचकांक पर आधारित मुद्रास्फीति 10.06 प्रतिशत हो गयी। पिछले चार वर्षों से ही कुछ उतारों-चढ़ावों के बावजूद भारत में मुद्रास्फीति की दर 10 प्रतिशत के आस-पास ही झूल रही है।

थोक क़ीमत सूचकांक, जो कि 1993-94 की क़ीमतों पर आधारित है (यानी 1993-94 में यह 100 था) अप्रैल 2010 में एक रुपये की क्रय शक्ति, 1990-91 के 29 पैसों जितनी थी। (देखें सारणी-10)। दूसरे शब्दों में कहें तो रुपये ने इस अरसे के दौरान अपना 70 प्रतिशत मूल्य खो दिया। औद्योगिक मज़दूरों के लिए उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक के आधार पर देखें तो रुपये की क्रय शक्ति में अधिक गिरावट नज़र आती है। इस आधार पर अप्रैल 2010 में एक रुपये की क्रय शक्ति 1990-91 के 25 पैसों के बराबर थी।

थोक क़ीमत सूचकांक के आँकड़े, साधारण जनता के जीवन को बढ़ रही क़ीमतें जिस तरह से प्रभावित करती हैं, उस बारे में कई बार ग़लत जानकारी देते हैं। थोक क़ीमत सूचकांक

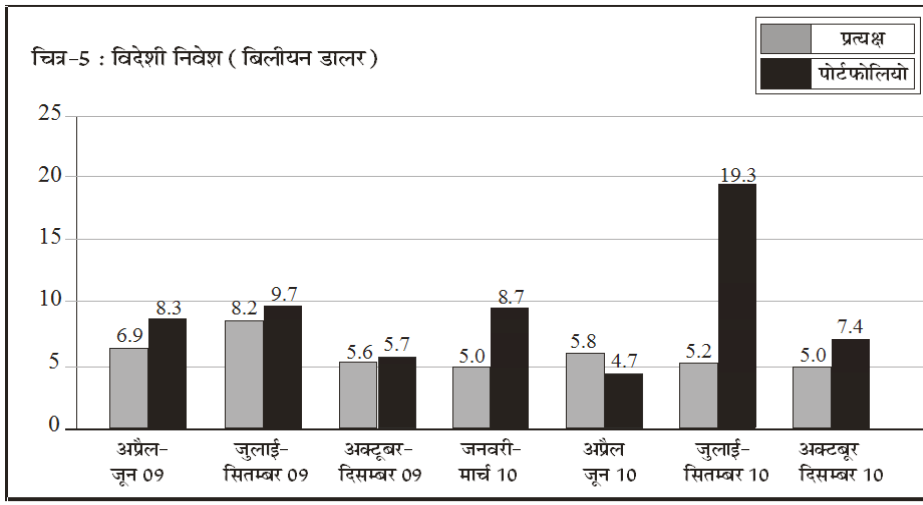

स्रोत : macroscan.org

(WPI) थोक क़ीमत पर आधारित होता है, लेकिन साधारण जनता थोक क़ीमत पर उपभोक्ता सामग्रियाँ नहीं ख़रीदती। थोक क़ीमत सूचकांक लागतों और उत्पादों दोनों की क़ीमतें मापता है। थोक क़ीमत सूचकांक का आधार बनाये जाते मालों में कई मध्यवर्ती उत्पाद भी होते हैं, जो कि अन्तिम उपभोग की वस्तु नहीं होते। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि, थोक क़ीमत सूचकांक सेवा क्षेत्र, मकान निर्माण व रियल एस्टेट को अपने दायरे में नहीं लेता। क़ीमतें बढ़ने से साधारण जनता पर पड़ने वाले प्रभावों को उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक (CPI) की सहायता से अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है, जो परचून मूल्यों पर आधारित होता है। इसकी क़ीमतें मापने के तरीक़े थोक क़ीमत सूचकांक से भिन्न होते हैं। सारणी-10 से देखा जा सकता है कि उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक पर आधारित मुद्रास्फीति की दरें, थोक क़ीमत सूचकांक पर आधारित दरों से लगातार पाँच महीने तक (जून से अक्टूबर 2009) दस प्रतिशत अधिक थीं। सारणी-10 दिखलाती है कि उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक पर आधारित मुद्रास्फीति 2008-2010 के दौरान काफ़ी ऊँची रही है। यह मुख्यत: खाद्य पदार्थों (अनाज, दालें, चीनी, सब्जियों और फलों आदि) की क़ीमतों में तेज़ वृद्धि के कारण थी। उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक (औद्योगिक मज़दूर) पर आधारित खाद्य पदार्थों की मुद्रास्फीति दर 2008-09, 2009-10 के दौरान 10 प्रतिशत से ऊपर रही है। दिसम्बर 2009 में थोक क़ीमत सूचकांक, उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक (ग्रामीण मज़दूर), उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक (खेतिहर मज़दूर) और उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक (औद्योगिक मज़दूर) पर आधारित मुद्रास्फीति दरें क्रमश: इस प्रकार थीं - 19.71, 20.43, 20.22, 21.29 प्रतिशत।

सारणी-11 थोक क़ीमत सूचकांक के आधार पर 2009 की अन्तिम तिमाही के दौरान कुछ चुनिन्दा खाद्य पदार्थों के लिए मुद्रास्फीति की दरें दिखाती है। इससे खाद्य पदार्थों की महँगाई की भयंकरता का पता चलता है। 2009 के बाद भी मुद्रास्फीति दर में कोई ख़ास गिरावट नहीं आयी। 2010 के दौरान खाद्य पदार्थों में मुद्रास्फीति की दर 16 प्रतिशत से ऊपर थी। 1991-92 से लेकर 2008-09 तक भारत में उपभोक्ता सूचकांक (औद्योगिक मज़दूर) के

आधार पर मुद्रास्फीति की दर औसतन 6.82 प्रतिशत रही है।

1990 के शुरुआती वर्षों में यहाँ मुद्रास्फीति की दर काफ़ी ऊँची रही। 1990-91 और 1998-99 के बीच उपभोक्ता सामग्रियों की क़ीमतों में 115 प्रतिशत का इज़ाफ़ा हुआ और खाद्य पदार्थों की क़ीमतें (उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक - औद्योगिक मज़दूरों - के आधार पर) में और भी तेज़ वृद्धि हुई। इस अरसे में भोजन पदार्थों की क़ीमतें 124 प्रतिशत बढ़ीं। आज़ादी के पश्चात उच्च मुद्रास्फीति की इतनी लम्बी अवधि कभी नहीं देखी गयी। 1999-2000 से 2005-06 की अवधि के दौरान मुद्रास्फीति की दर कम रही। इसकी मुख्य वजह 2000 से 2003 के बीच की आर्थिक मन्दी थी। 2003-04 से जैसे ही अर्थव्यवस्था में तेज़ी आयी फिर से मुद्रास्फीति बढ़ने लगी। 2006-07 से थोक क़ीमत सूचकांक पर आधारित मुद्रास्फीति और उपभोक्ता सूचकांक पर आधारित मुद्रास्फीति में फर्क लगातार बढ़ता गया। जबकि थोक सूचकांक पर आधारित मुद्रास्फीति में, आर्थिक विकास दर के उतार-चढ़ाव के साथ, उतार-चढ़ाव आते रहे लेकिन उपभोक्ता वस्तुओं और खाद्य पदार्थों की क़ीमतों में लगातार वृद्धि जारी रही। यह संयोग नहीं, बल्कि सरकारी नीतियाँ इसके लिए जिम्मेवार थीं।

सारणी-10 : रुपये की पैसों में क्रय शक्ति (आधार 1990-91 = 100 पैसे)

मात्रा		
अवधि	थोक कीमत सूचक अंक के आधार पर	ओद्योगिक मज़दूरों के लिए उपभोक्ता कीमत सूचक अंक के आधार पर
1990- 91	100	100
1993- 94	74	75
1997- 98	55	53
2000- 01	47	43
2006- 07	36	34
2009- 10	30	26
अप्रैल- 2010	29	25

स्रोत : वित्त मंत्रालय

1991 के बाद के अरसे में सरकार ने बड़े पैमाने पर अर्थव्यवस्था में मुद्रा झोंकी। अर्थव्यवस्था में मुद्रा पूर्ति में 1990-91 से 2008-09 के अरसे के दौरान, 18 प्रतिशत सालाना की वृद्धि हुई, जिसने इस अरसे में क़ीमतें बढ़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के तहत खाद्य अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन में देशी-विदेशी पूँजीपतियों की भूमिका बढ़ती गयी। देशी-विदेशी बड़ी निजी कम्पनियाँ खाद्य व्यापार के क्षेत्र में दाख़िल हुईं। दलालों, सट्टेबाज़ों, जमाखोरों की खाद्य की क़ीमतें जनता पर थोपने की क्षमता बढ़ी। 1990-91 से 2008-09 के अरसे के दौरान यहाँ खाद्य पदार्थों के उत्पादन की वृद्धि दर सालाना सिर्फ़ 1.56 प्रतिशत रही है। इसका नतीजा प्रति व्यक्ति खाद्य पदार्थों की उपलब्धता में कमी होने में निकला है। 2001-08 के दौरान प्रति व्यक्ति प्रतिदिन खाद्य की उपलब्धता 444 ग्राम थी, यह पी.एल. 480 के समझौते के तहत अमेरिका से बड़े स्तर पर गेहूँ मँगवाने वाले कुख्यात दशक के दौरान की औसत खपत से भी कम थी। भारत के ग्रामीण क्षेत्र में 23 करोड़ ग़रीब कुपोषण का शिकार हैं और विश्व के भुखमरी के शिकार लोगों में 50 प्रतिशत भारत के गाँवों में रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में खाद्य की उपलब्धता में कमी आना नवउदारवादी नीतियों के अमानवीय चेहरे को नंगा करता है। आज़ादी के बाद ग़रीबों को महँगाई के प्रभावों से 'बचाने' के लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली का ढाँचा खड़ा किया गया था। इससे सीमित हद तक भारत के ग़रीबों को राहत मिली भी। लेकिन नवउदारवादी नीतियों के तहत भारतीय हुक्मरानों ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्तर्गत ग़रीबों

सारणी-11 : आवश्यक वस्तुओं की मुद्रास्फीति दर

माल	महीना	मुद्रास्फीति की दर (%)
चावल	अक्टूबर 2009	14.29
गेहूँ	दिसम्बर 2009	12.66
दालें	दिसम्बर 2009	41.58
सब्जियाँ	दिसम्बर 2009	39.22
आलू	दिसम्बर 2009	123.85
प्याज	अक्टूबर 2009	33.10
फल	नवम्बर 2009	10.64
दूध	दिसम्बर 2009	13.36
अण्डे, मीट, मछली	नबम्बर 2009	29.75
चीनी	दिसम्बर 2009	53.98

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 2009-10

को खाद्य पर दी जाने वाली सब्सिडी को भी निशाना बनाया। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के तहत ग़रीबों को दिये जाने वाले खाद्य पदार्थों की क़ीमतों में 1991 के बाद कई बार वृद्धि की गयी। समाहार के तौर पर कहा जा सकता है कि नयी आर्थिक नीति के अन्तर्गत भारत के ग़रीबों की परिस्थिति बद से बदतर हुई है।

6. नवउदारवादी नीतियों के अन्तर्गत रोज़गार :

एक सम्मानजनक और स्थायी रोज़गार की भारत की मेहनतकश जनता की आकांक्षा बहुत पुरानी है और इसके लिए समय-समय पर उन्होंने जाँबाज लड़ाइयाँ भी लड़ी हैं। लेकिन बेरोज़गारी का राक्षस, अभी-भी वैसे का वैसा ही मुँह फैलाये खड़ा है। आज़ादी के बाद भारतीय बुर्जुआज़ी द्वारा खड़े किये गये सार्वजनिक क्षेत्र में आबादी के एक छोटे हिस्से को स्थायी रोज़गार मिला था। इसी तरह निजी संगठित क्षेत्र में भी आबादी के एक छोटे से हिस्से को रोज़गार मिला, जहाँ वेतन आम तौर पर सापेक्षत: ऊँचे थे। भारतीय मेहनतकश जनता की बड़ी बहुसंख्या आज़ादी के बाद लगातार बेरोज़गारी, अर्द्ध-बेरोज़गारी, मौसमी बेरोज़गारी और छुपी हुई बेरोज़गारी की चक्की में पिसती रही है। 1991 के बाद भारतीय हुक्मरानों द्वारा अपनायी गयी नवउदारवादी नीतियों के तहत भारत में रोज़गार की हालत और भी बिगड़ी है। छोटे मालिकों (छोटे किसानों, दुकानदारों, दस्तकारों) आदि की बड़ी संख्या को इस अरसे के दौरान अपने उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से हाथ धोने पड़े हैं। ग्रामीण क्षेत्रों से विस्थापित होकर, मज़दूरों की क़तारों में शामिल हुए करोड़ों लोगों ने शहरों की ओर काफिले बाँधे हैं। लेकिन शहर इस सारी आबादी को समेट पाने में अक्षम हैं। पहले ही गुब्बारे की तरह फूल रहे शहरों में गाँवों से बेरोज़गारों के झुण्डों का लगातार आना भारतीय हुक्मरानों के लिए चिन्ता का विषय है। इसके कारण शहरी क्षेत्रों में हालात विस्फोटक रूप ले सकते हैं। इस परिस्थिति को सन्तुलित करने के लिए भारतीय हुक्मरानों द्वारा मनरेगा जैसी योजनाएँ शुरू की गयीं ताकि ग्रामीण आबादी को शहरों की ओर आने से रोका जा सके।

सार्वजनिक क्षेत्र का निजीकरण 1991 की नवउदारवादी नीतियों का एक अहम अंग है। 1991 से कदम-ब-कदम धीमी रफ़्तार से भारतीय जनता के ख़ून-पसीने की कमाई से निर्मित सार्वजनिक क्षेत्र को कौड़ियों के दाम देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले किया जाने लगा। निजीकरण की रफ़्तार धीमी होने का एक कारण यह था कि 1991 के बाद एक तो देश में निरन्तर अनिश्चितता का माहौल बना रहा। दूसरा, हुक्मरान इन नीतियों के लागू होने के नतीजे

के तौर पर फैलने वाले जनाक्रोश से भी भयभीत थे। इसलिए वे साम्राज्यवादी एजेंसियों द्वारा तैयार किये गये नवउदारवादी एक्सप्रेस वे पर धीमी रफ़्तार से ही चलना चाहते थे। भारत की संशोधनवादी पार्टियाँ भी इस मार्ग पर लगातार 'स्पीड-ब्रेकर' खड़ा करती रहीं हैं। और मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था की सुरक्षा के लिए चिन्तित इन पार्टियों के साथ जुड़े बुद्धिजीवी भी, नवउदारवादी नीतियों के मार्ग पर तेज़ रफ़्तार से दौड़ने के बुरे नतीजों के बारे में भारतीय हुक्मरानों को समय समय पर चेतावनियाँ देते रहे हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण ने भारत में रोज़गार की स्थिति को बद से बदतर बनाया है। सार्वजनिक क्षेत्र के मज़दूरों-मुलाजिमों की छँटनी, 'स्वैच्छिक' रिटायरमेण्ट योजना के अन्तर्गत लोगों को नौकरी से निकालना, नयी भर्तियों पर रोक व इस क्षेत्र की नौकरियों के एक हिस्से में ठेके पर भर्ती, पिछले दो दशकों के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण ख़ासियतें रही हैं। भारत की मेहनतकश जनता के छोटे-से हिस्से को सार्वजनिक क्षेत्र में पक्का रोज़गार मिलता था, वेतन भी सापेक्षत: ऊँचे थे, लेकिन पिछले दो दशकों के दौरान इस क्षेत्र में रोज़गार के अवसर बड़े स्तर पर सिकुड़े हैं।

वर्तमान सदी के पिछले दशक के कुछ चुनिन्दा वर्षों में भारत में बेरोज़गारी की दर इस प्रकार रही है। जनवरी 2006 में यह 8.35 प्रतिशत थी, जनवरी 2008 में 8 प्रतिशत, जनवरी 2010 और जनवरी 2011 में यह 9.4 प्रतिशत थी (www.tradingeconomics.org)। निश्चित तौर पर यह आँकड़े भारत में बेरोज़गारी की सही तस्वीर पेश नहीं करते। भारत में स्त्रियों की बड़ी बहुसंख्या घरेलू कामों में ही लगी हुई होने के चलते यह 'श्रम बाज़ार' से बाहर है। इसके अलावा करोड़ों वे लोग हैं जिन्हें वर्ष में कुछ महीने ही रोज़गार मिलता है, इन्हें अर्द्ध-बेरोज़गार कहा जाता है। इसके अलावा कृषि पर ज़रूरत से अधिक निर्भर करोड़ों लोग हैं, जो छिपी बेरोज़गारी की कोटि में आते हैं। इन सब तरह के बेरोज़गारों को जोड़ लिया जाये तो भारत में बेरोज़गारी का भयानक रूप सामने आता है।

नवउदारवादी नीतियों के पिछले दो दशकों के दौरान जो रोज़गार पैदा हुआ है वह अधिकतर अनौपचारिक, असंगठित क्षेत्र में ही पैदा हुआ है। जहाँ न तो रोज़गारी की निश्चितता ही है, न ही कोई श्रम क़ानून हैं और न ही जीवन की बुनियादी ज़रूरतें पूरी करने लायक उजरतें ही हैं। इसलिए जिन्हें सरकार रोज़गारशुदा मानती है उनकी जीवन परिस्थितियाँ बेहद भयानक हैं। (देखें सारणी-12)

सारणी-12 से देखा जा सकता है कि 2004-05 में भारत के कुल 455.7 मिलियन (45 करोड़ 57 लाख) मज़दूरों में से 420.7 मिलियन या 92.3 प्रतिशत अनौपचारिक असंगठित मज़दूर थे और सिर्फ़ 35 मिलियन (साढ़े तीन करोड़) या 7.7 प्रतिशत ही औपचारिक संगठित मज़दूर थे। 1999-2000 में औपचारिक संगठित क्षेत्र में 23.1 मिलियन या 42.1 प्रतिशत अनौपचारिक ग़ैर-संगठित मज़दूर थे। 2004-05 में इनकी संख्या बढ़कर 28.9 मिलियन या 46.2 प्रतिशत हो गयी। दूसरी ओर इस अरसे के दौरान औपचारिक संगठित क्षेत्र में औपचारिक संगठित मज़दूर इस क्षेत्र के कुल मज़दूरों का 57.9 प्रतिशत से घटकर 53.8 प्रतिशत रह गये। यह आँकड़े सिर्फ़ 6 वर्ष की अवधि के हैं। लेकिन इनसे यह रुझान उभरकर सामने आता है कि भारत में जो मामूली-सा औपचारिक संगठित प्रकार का रोज़गार था, उसमें निरन्तर गिरावट होती रही है। निश्चित तौर पर 2005 के बाद इस रुझान में और वृद्धि हुई होगी। सरकार का दावा है कि नवउदारवाद के गुज़रे दो दशकों में अधिकांश समय तक भारत की 45 करोड़ से

अधिक व्यक्तियों की श्रम शक्ति में बेरोज़गारी की दर 6 से 8 प्रतिशत तक रही है जो कि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (NSSO) के देशव्यापी सर्वेक्षण पर आधारित अन्दाज़े हैं। इसके श्रेणियों, पैमानों और सर्वेक्षणों के आधार पर रोज़गारशुदा ग़रीब नाम का एक नयी श्रेणी को ईजाद किया गया है जो यह दिखाता है कि जनता की बड़ी संख्या का रोज़गार के बावजूद कम उजरतों के कारण, उपभोग ख़र्च इतना कम है कि वे ग़रीबी रेखा से नीचे वाली जनता में शामिल होते हैं। एक अन्दाज़े के मुताबिक ऐसे रोज़गारशुदा ग़रीबों की संख्या 10 करोड़ 50 लाख है जो कि कुल मज़दूरों का लगभग एक चौथाई बनते हैं (विश्व बैंक 2010)। लेकिन असल हक़ीक़त यह है कि ग़रीबों की संख्या इससे कहीं अधिक है। दरअसल उपरोक्त

सारणी -12 : सेक्टर व रोजगार की किस्म में सम्बन्ध
कुल मजदूर 1999-2000 से 2004-2005

		कुल रोजगार (मिलियन)		
		अनौपचारिक/ असंगठित मजदूर	औपचारिक/ संगठित मजदूर	कुल
1999-2000	अनौपचारिक/ असंगठित क्षेत्र	339.7 (99.5)	1.8 (0.5)	341.5 (100.00)
	औपचारिक/ संगठित क्षेत्र	23.1 (42.1)	31.8 (57.9)	54.9 (100.00)
	कुल	362.8 (91.5)	33.6 (8.5)	396.4 (100.00)
2004-2005	अनौपचारिक/ असंगठित क्षेत्र	391.8 (99.6)	1.4 (0.4)	393.2 (100.00)
	औपचारिक/ संगठित क्षेत्र	28.9 (46.2)	33.7 (53.8)	62.6 (100.00)
	कुल	420.7 (92.3)	35.0 (7.7)	455.7 (100.00)

नोट : ब्रेकेट वाली संख्याएँ % हैं।
स्रोत : NCEUS (2009)

आँकड़े उपभोग ख़र्च पर आधारित हैं, जो किसी भी सही जाँच-पड़ताल के सामने टिक नहीं सकते। सबसे कम गणना जिसे सरकारी दायरों से भी हिमायत मिलती नज़र आती है, भी 37 प्रतिशत है। सरकारी गणना की असल दिक्कत यह है कि जिन लोगों को रोज़गारशुदा ग़रीबों में नहीं गिना गया वे, वे लोग हैं जिनके पास या तो रोज़गार है ही नहीं या जिनके पास बहुत थोड़े समय के लिए रोज़गार होता है। स्पष्ट है कि वे अधिक ग़रीब हैं और उन्हें गुज़ारे के साधनों की भयंकर कमी से जूझना पड़ता है।

7. और अधिक तीखा हुआ वर्गीय ध्रुवीकरण

नवउदारवादी नीतियों के पिछले दो दशकों के दौरान भारतीय समाज का वर्गीय ध्रुवीकरण और अधिक तीखा हुआ है। कोई भ्रम न पैदा हो इसलिए यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि नवउदारवादी नीतियों की हमारी आलोचना का यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि 1991 से पहले भारत में सब कुछ ठीक था। न ही नवउदारवाद की हमारी आलोचना की ज़मीन नेहरूवादी "समाजवाद" है और न ही हम नवउदारवादी नीतियों की आलोचना करते हुए भारतीय

अर्थव्यवस्था के नेहरूवादी मॉडल की ओर लौटने के समाजिक जनवादी सिद्धान्त के पक्षधर हैं। हमारा मानना है कि भारतीय हुक्मरानों द्वारा 1991 में अपनायी गयी नयी आर्थिक नीति, 'पुरानी' आर्थिक नीति (1947-1980 या 1991) का ही तार्किक नतीजा थी। नयी या नवउदारवादी आर्थिक नीतियों ने भारतीय समाज की पहले से चली आ रही बुराइयों, ग़रीबी, बेरोज़गारी, कमरतोड़ महँगाई, अमीर-ग़रीब के बीच बढ़ रही असमानता, गाँव और शहर की असमानता, क्षेत्रीय सामाजिक, आर्थिक विकास की असामनता आदि को उनके शिखर पर पहुँचा दिया है। देश में पहले से ही जारी अमीर-ग़रीब की असमानता नवउदारवादी नीतियों के तहत नये शिखर छू रहे हैं। फोर्ब्स इण्डिया (दिसम्बर 2009) की एक रिपोर्ट के मुताबिक देश के 52 भारतीय अरबपतियों की कुल आय 2009 में 276 बिलियन अमेरिकी डालर थी जो कि कुल राष्ट्रीय आय का लगभग 25 प्रतिशत थी।

1991 में अपनायी गयी नवउदारवादी नीतियों के अन्तर्गत भारतीय हुक्मरानों का सबसे अधिक ज़ोर अर्थव्यवस्था की विकास दर बढ़ाने पर रहा जिस विकास का हिरावल मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर को बनाया गया। लेकिन यह आज़ादी के बाद अस्तित्व में आये समृद्ध मध्यवर्ग की ज़रूरतें (ऐशो-आराम) को समर्पित था और इस तथाकथित विकास से होने वाला सारा मुनाफ़ा देशी-विदेशी पूँजीपतियों की तिजोरियों में ही गया। भारत का उद्योग कैसे समृद्ध मध्यवर्ग और बुर्जुआ वर्ग की अय्याशी के के सामानों के उत्पादन में लगा हुआ है, यह इस तथ्य से ही स्पष्ट हो जाता है कि 2016 में भारत के कुल घरेलू उत्पादन में ऑटोमोबाइल सेक्टर का हिस्सा 10 प्रतिशत हो जायेगा। 2011 में मानव विकास सूचकांक में भारत का स्थान 134वाँ था जबकि ऑटोमोबाइल सेक्टर का 11वाँ स्थान था। इसके साथ जुड़ा हुआ तथ्य यह है कि 1980-81 से 1993-94 के बीच अमीरों के लिए उत्पादित वस्तुओं, यानी, टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं (Consumer durable) का मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर की मूल्य वृद्धि में हिस्सा दोगुना (2.55 से 5.37 प्रतिशत) हो गया। (दूसरी ओर सभी ग़ैर-टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं (Consumer non-durable) भी सार्वजनिक उपभोग की वस्तुओं नहीं होतीं। ग़ैर-टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं का कुल औद्योगिक उत्पादन में हिस्सा सिर्फ़ 23.30 प्रतिशत है।) देश में पिछले दो दशकों के 'आर्थिक बूम' के कारण जो समृद्ध वर्ग पैदा हुआ है, इसके विदेशी दौरे भी बढ़े हैं। 1990-91 में भारतीयों की विदेशी यात्राओं का ख़र्च 703 करोड़ रुपये था जो कि 2008-09 में बढ़कर 14,225 करोड़ रुपये हो गया अर्थात लगभग 134 गुणा वृद्धि। पिछले दो दशक भारत में घपलों-घोटालों के दशक भी रहे हैं। देशी-विदेशी पूँजीपतियों ने सरकारी सरपरस्ती के नीचे देश के प्राकृतिक संसाधनों को दोनों हाथों लूटा है। भारत में उपरोक्त 52 अरबपति सिर्फ़ 'इण्डस्ट्रियल बूम' की बदौलत ही अरबपति नहीं बने बल्कि सरकारी सरपरस्ती में ज़मीनों के बड़े टुकड़ों, खनिज पदार्थों और अन्य सरकारी ठेकों पर कब्ज़ों ने भी इनके अरबपति बनने में बड़ी भूमिका अदा की है। इन दो दशकों के दौरान संसद और विधानसभा में बैठने वाले 'जनता के प्रतिनिधि' भी मालामाल हुए हैं। इस समय के दौरान सांसदों और विधायकों की बहुसंख्या करोड़पतियों की है। विदेशी दौरों, देश के भीतर हवाई जहाज, हैलीकॉप्टर यात्राओं पर उन्होंने देश की मेहनतकश जनता की ख़ून-पसीने की कमाई अन्धाधुन्ध उड़ायी है।

नवउदारवाद के तहत 'विकास' की मुख्य एजेंसी रहा प्राइवेट कॉरपोरेट सेक्टर पिछले दो दशकों के दौरान ख़ूब बढ़ा-फूला है। सरकारी क्षेत्र के बाद इसका दूसरा नम्बर है। इस सेक्टर

में आठ लाख कम्पनियाँ हैं जिनमें से आधी क़ानूनी तौर पर लाज़िमी रिपोर्टिंग भी नहीं करतीं। इस क्षेत्र में देश के सबसे अधिक आर्थिक व वित्तीय संसाधन संकेन्द्रित हैं और तकनीकी-प्रबन्धकीय अमले की सबसे बड़ी संख्या भी इसी क्षेत्र में है। इस सेक्टर को सरकार की ओर से 2008-2011 तक के तीन वित्तीय वर्षों के दौरान 12 लाख करोड़ की टैक्स छूट और अन्य प्रोत्साहन दिये गये हैं, जिनमें से पाँच लाख करोड़ की टैक्स राहत और अन्य प्रोत्साहन तो सिर्फ़ 2010-11 के वित्तीय वर्ष में ही दिये गये हैं जो कि इस वर्ष के बजट के कुल आकार का 45 प्रतिशत था। यह एक तरह का देश के सबसे बड़े अमीर तबके की सेवा के लिए सबसे बड़ा ख़र्च था। देश के करोड़ों मज़दूरों का अतिरिक्त मूल्य लूटकर कमाये बेहिसाब मुनाफ़ों और सरकारी सरपरस्ती में देश के प्राकृतिक माल खजानों की अन्धी लूट, टैक्स छूटों से हासिल मुनाफ़ों से अफरीं हुई 'देशी' कम्पनियाँ अब विदेशों में बड़े स्तर पर निवेश करने लगी हैं। ख़ासकर अमीर देशों में। 2010 में भारतीय कम्पनियाँ अमेरिका में तीसरी सबसे बड़ी निवेशक थीं। निजी कम्पनियों के मालिकों और मैनेजरों के जेब में जाने वाले ऑपरेटिंग अधिशेषों (Operating Surpluses) में नवउदारवाद के पिछले दो दशकों में तीखी वृद्धि हुई है। 1980 के दशक में शुद्ध घरेलू उत्पादन (NDP) का ये 45 प्रतिशत थे जबकि 1991 से 2007-08 के बीच यह लगभग 70 प्रतिशत थे। मार्च 2010 में ख़त्म हुए वित्तीय वर्ष में देश की चुनिन्दा 99 कम्पनियों की लाभांश आय 14945 करोड़ रुपये थी। इसमें टाटा ग्रुप का हिस्सा 3833.2 करोड़ रुपये था। इसमें टाटा ग्रुप के मुख्य एग्ज़ीक्युटिव अधिकारियों (सी.ई.ओ.) के वेतन और भत्ते शामिल नहीं थे। टाटा ग्रुप के 'प्रमोटरों' की यह लाभांश आमदनी ग़रीबी रेखा उपभोग (जो कि दयनीय 5475 रुपये सालाना है), जो कि 44 करोड़ भारतीयों की पहुँच से बाहर है, से 70 हजार गुणा अधिक है। अगर इसमें सी.ई.ओ. के वेतन और भत्ते भी जोड़ लिए जायें, तो देश में अमीर-ग़रीब की असमानता की भयानक परिस्थिति के दीदार किये जा सकते हैं।

दूसरी ओर देश की मेहनतकश जनता की गुज़रे दो दशकों के दौरान बद से बदतर हुई हालत की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। गुज़रे दो दशकों के दौरान देश में छोटे मालिकों की संख्या में बड़ी कमी आयी है और इनका बड़ा हिस्सा मज़दूरों की क़तारों में शामिल हुआ है। दूसरी ओर देश में एक बड़ा मध्यवर्ग अस्तित्व में आया है। मध्यवर्ग की इस वृद्धि में सेवा क्षेत्र के फैलाव ने बड़ी भूमिका अदा की है। यह मध्यवर्ग मुख्यत: शहरों (उनमें से भी बड़े शहरों) में संकेन्द्रित है। इस मध्यवर्ग की ऊपर की परत (उच्च मध्यवर्ग) पूरी तरह पूँजीवादी व्यवस्था से नाभिनालबद्ध हो चुकी है। इसका देश की मेहनतकश आबादी के साथ कोई साझापन नहीं रह गया है। यह पूँजीवादी व्यवस्था की सलामती चाहती है और इसे बदलने के हर जनान्दोलन की घोर विरोधी है। मध्यवर्ग का सबसे बड़ा हिस्सा निम्न मध्यवर्ग है, जिसकी आर्थिक स्थिति देश के बहुसंख्यक ग़रीबों से भले ही बेहतर है, लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था के उतारों-चढ़ावों में इसकी गुज़र-बसर हमेशा अनिश्चित रहती है। मध्यवर्ग के इस हिस्से में अथाह क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ हैं। इस वर्ग को भारत की समाजवादी क्रान्ति के पक्ष में जीतना भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के सामने एक अहम कार्यभार है। इसी तरह मध्यवर्ग की मध्यवर्ती परत को तटस्थ बनाना भी भारत में क्रान्ति की जीत की गारण्टी करने के लिए बहुत अहम है।

'भारतीय' पूँजी आज पूरी तरह साम्राज्यवादी पूँजी के साथ घुलमिल चुकी है। भारतीय बुर्जुआज़ी आज साम्राज्यवाद के 'जूनियर पार्टनर' की भूमिका अदा कर रहा है। इसका कोई भी

हिस्सा वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में किसी प्रकार का बदलाव नहीं चाहता और न ही इसके किसी भी हिस्से का साम्राज्यवाद के साथ कोई विरोध है। साम्राज्यवादी पूँजी और भारतीय बुर्जुआज़ी के हितों के बीच जो अन्तरविरोध हैं, वे उनके बीच के ग़ैर-शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध ही हैं। इसलिए आज भारतीय बुर्जुआज़ी के किसी हिस्से में से 'राष्ट्रीय' 'देशभक्त', 'साम्राज्यवाद विरोधी' बुर्जुआज़ी ढूँढना हद दर्ज़े का भोलापन है, जैसा कि हमारे देश के अधिकतर नव-नरोदनिक ग्रुप कर रहे हैं।

दूसरी ओर भारतीय ग्रामीण कृषि में पूँजीवादी विकास की मुख्य एजेंसी धनी किसान (ग्रामीण बुर्जुआज़ी) हैं। भारत के ग्रामीण क्षेत्र में हो रहे पूँजीवादी विकास के फल इसी वर्ग की झोली में गिरे हैं। वर्तमान व्यवस्था में किसी भी तरह के बदलाव का यह वर्ग घोर विरोधी है। भारत में वर्तमान किसान आबादी का बड़ा हिस्सा ग़रीब व मँझोले किसान हैं। भारत में ग़रीब किसान भारत के अर्द्ध-सर्वहारा हैं, जिन्हें हासिल थोड़ी-सी भूमि उनका गुज़ारा चला पाने में अक्षम है, इसलिए उन्हें उत्पादन के साधनों के मामूली स्वामित्व के बावजूद अपनी श्रम शक्ति बेचनी पड़ती है। भले ही भारत में हुए पूँजीवादी विकास के कारण भारत में किसानी की संख्या में तीखी गिरावट आयी है और भविष्य में इनकी संख्या और घटेगी लेकिन फिर भी अपने आप में (Absolute Numbers) यह एक बड़ा वर्ग है। और भारत का कम्युनिस्ट आन्दोलन भारत में विजयी क्रान्ति के लिए इस वर्ग की अनदेखी नहीं कर सकता। भारत में समाजवादी क्रान्ति में भारत का ग़रीब किसानी मज़दूर वर्ग की एक भरोसे योग्य संगी है। लेकिन हम यहाँ यह ज़रूर रेखांकित करना चाहेंगे कि भारतीय क्रान्ति की नियति तय करने में शहरी मध्यवर्ग (निम्न व मध्य-मध्यवर्ग) के मुकाबले किसानी की भूमिका घटती जा रही है और आने वाले समय में यह और घटेगी।

समाहार के तौर पर:
एक नये संकट की दहलीज पर भारत

1947 के बाद एक धीमी क्रमिक प्रक्रिया में भारत में विकसित हुई पूँजीवादी व्यवस्था अपने अन्तर्निहित नियमों के मुताबिक थोड़े-थोड़े अरसे के बाद संकटग्रस्त होती रही है। 1965 -80 के आर्थिक गतिरोध (मन्दी) को तोड़ने के लिए भारतीय बुर्जुआज़ी ने 1980 से नवउदारवादी (पहला दौर) नीतियों की शुरुआत की थी। इन नीतियों पर व्यवहार की बदौलत जब भारतीय अर्थव्यवस्था 1980 के अन्त में और अधिक गहरे संकट में जा फँसी तो 1991 से नवउदारवादी नीतियों (दूसरे दौर) पर सम्पूर्ण व्यवहार शुरू हुआ। नवउदारवाद के गुज़रे दो दशकों के दौरान जब जब भारतीय अर्थव्यवस्था संकट में घिरी तो भारतीय हुक्मरानों इसे और अधिक आर्थिक सुधारों (उदारीकरण, निजीकरण, भूमण्डलीकरण) के टीके लगाते रहे हैं। अब एक बार फिर भारत एक गहरे आर्थिक संकट की दहलीज़ पर है। इस बार यह संकट विश्वव्यापी है और भारत का आर्थिक संकट इस विश्वव्यापी आर्थिक संकट का अंग है।

भारत अपने निर्यातों के लिए काफ़ी हद तक (लगभग 31 प्रतिशत) अमेरिका और यूरोपीय यूनियन पर निर्भर है। पिछले पाँच वर्षों से यह क्षेत्र भयानक आर्थिक संकट का शिकार है। इसके कारण इन देशों को भारत से निर्यात भी कम हो रहे हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में निर्यातों की अहम भूमिका रही है। अब भारतीय उत्पादों के लिए निर्यात बाज़ार

सिकुड़ने से भारत की आर्थिक विकास दर भी सिकुड़ रही है। 2003-04 से 8 प्रतिशत के आस-पास चल रही भारत की कुल घरेलू उत्पादन की वृद्धि दर 2011-12 में 6.3 प्रतिशत रह गयी और इस वित्तीय वर्ष की अन्तिम तिमाही के दौरान यह 5.3 प्रतिशत थी। डालर के मुकाबले भारतीय मुद्रा का मूल्य लगातार लड़खड़ा रहा है। इसी वर्ष 31 मई को इसमें रिकॉर्ड गिरावट दर्ज़ की गयी जब डालर के मुकाबले इसका मूल्य 56.52 रुपये हो गया था। भारतीय अर्थव्यवस्था को डूबता देख कई विदेशी निवेशक भागने लगे। 2012 की पहली तिमाही में ही विदेशी निवेशकों ने यहाँ से 1000.7 करोड़ डालर की पूँजी निकाल ली जो कि इसी वर्ष यहाँ आयी कुल विदेशी पूँजी का 43 प्रतिशत थी। भारत का बजट व व्यापार घाटा नये शिखर छू रहा है।

इस हालत से निपटने के लिए भारतीय हुक्मरानों ने फिर वही पुराना नुस्खा अपनाया। यानी बीमार भारतीय अर्थव्यवस्था को आर्थिक सुधारों का एक और ज़ोरदार टीका लगाया। 13-14 सितम्बर 2012 को भारत सरकार ने भारतीय अर्थव्यवस्था के परचून व्यापार सहित अन्य कई क्षेत्रों में विदेशी पूँजी को अधिक छूटें दी हैं। इसके साथ ही डीज़ल व रसोई गैस पर दी जाने वाली सब्सिडी पर बड़ा कट लगाया है। इसके साथ ही सरकारी संस्थानों के निजीकरण की रफ़्तार को भी तेज़ करने के फैसले लिए गये हैं। कहने का अर्थ यह है कि भारतीय हुक्मरानों ने आर्थिक संकट का बोझ एक बार फिर भारत की मेहनतकश जनता पर लाद दिया है।

उपरोक्त फैसलों के बाद भारत के वित्तीय मन्त्री चिदम्बरम ने घोषणा की है कि भारतीय अर्थव्यवस्था के बुरे दिन ख़त्म हो गये हैं (पंजाबी ट्रिब्यून, 9 अक्टूबर 2010)। लेकिन वित्त मन्त्री के इस बयान में कुछ भी सच्चाई नज़र नहीं आती। भारत में निर्यातों में लगातार गिरावट जारी है। और व्यापार घाटा लगातार बढ़ता जा रहा है। सितम्बर महीने में भारत के निर्यात 10. 78 प्रतिशत गिरकर 23.69 बिलियन डालर रह गये। लेकिन इस समय आयातों में 5 प्रतिशत वृद्धि हुई है। सितम्बर 2012 में यह 41.71 बिलियन डालर हो गये जबकि सितम्बर 2011 में यह 39.75 बिलियन डालर थे। इसका नतीजा एक महीने में 18 बिलियन डालर का घाटा था जोकि पिछले 11 महीनों के दौरान सबसे अधिक था। (दि ट्रिब्यून, 12 अक्टूबर 2012)

सार्वजनिक सब्सिडियों पर बड़ी कटौतियों के बावजूद सरकार के राजकोषीय घाटे में वृद्धि जारी है। यह अप्रैल-अगस्त 2012 में 3.38 ट्रिलियन रुपये था या 2012-2013 के पूरे वित्तीय वर्ष के बजट लक्ष्य का 65.7 प्रतिशत था। (दि ट्रिब्यून, 29 सितम्बर 2012)

भारत सरकार के आर्थिक सुधारों के उपरोक्त फैसलों के बावजूद अन्तराष्ट्रीय मुद्राकोष और अन्य रेटिंग एजेंसियों ने भारत के कुल घरेलू उत्पादन की वृद्धि दर की भविष्यवाणियों में कमी की है। 2012-13 के वित्तीय वर्ष के लिए भारत के कुल घरेलू उत्पादन की वृद्धि दर, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने 4.9 प्रतिशत, एशिया विकास बैंक ने 5.6 प्रतिशत, मारगन स्टैनली ने 5.1 प्रतिशत और मूडी ने 6 प्रतिशत रहने की भविष्यवाणी की है (द ट्रिब्यून, 10 अक्टूबर 2012)।

भारतीय अर्थव्यवस्था का वर्तमान संकट विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के संकट का अंग है और विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के फिलहाल इस संकट से उभरने की दूर-दूर तक सम्भावनाएँ नज़र नहीं आतीं। इसलिए भारतीय अर्थव्यवस्था के बुरे दिन जारी रहने और भविष्य में इसकी हालत और अधिक बिगड़ने की सम्भावनाएँ अधिक हैं।

टिप्पणियाँ

1. 'हेज फण्ड' वह माल, मुद्रा या वित्तीय विनिमय है जो किसी अन्य विनिमय से विपरीत प्रभाव पैदा करने की प्रवृत्ति रखता है, और पिछले से होने वाले नुकसान को कम से कम करने में भूमिका अदा करता है। इस तरह एक एजेण्ट के पास जमा मुद्रा के मूल्य में गिरावट के कारण होने वाले सम्भावित नुकसान की उसी मुद्रा की एक स्थिर क़ीमत पर पहले से ख़रीद करके पूर्ति की जा सकती है। 'फ्यूचर्स' और 'ऑप्शन्स' काण्ट्रैक्टों को मालों के और ऋणपत्रों के विनिमय को 'हेज' करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। हालाँकि कहीं भी हेज फण्डों की कोई प्रमाणित परिभाषा नहीं है, लेकिन उनमें कुछ बातें समान हैं। वे सीमित हिस्सेदारियों के रूप में होते हैं जो आम तौर पर विदेशों में होती हैं, इसलिए मोटे तौर पर अनियन्त्रित होते हैं। वे मोटी फीसें वसूल करते हैं, साधारणत: मुनाफ़े का 20 प्रतिशत तक वे सिर्फ़ अमीरों के लिए होते हैं जिनके सामने यह सापेक्ष कमाई के स्थान पर निरपेक्ष कमाई की सम्भावना पेश करते हैं - यानी कि वे पैसा कमाने पर केन्द्रित करते हैं, न कि किसी सूचक अंक को पीछे छोड़ने पर। क्या हेज फण्ड बड़े स्तर पर सट्टेबाजी चलाते हैं? बहुत सारे ख़ुद को सट्टेबाज नहीं बल्कि हुण्डी-व्यापारी समझते हैं। इसका मतलब यह है कि वे ऐसी परिसम्पत्तियों की तलाश में रहते हैं जिनकी क़ीमत वक़्ती तौर पर अपने बुनियादी मूल्य से नीचे होती है। जिन्हें बेचना वे बहुत महँगा समझते हैं या ख़रीदते हुए बहुत सस्ता करने के बारे में सोचते हैं। ऐसा करते हुए, सैद्धान्तिक तौर पर, हेज फण्ड बाज़ार को अधिक कुशल बनाते हैं। कुछ हेज फण्डों को पड़े घाटों के चलते, हुण्डी व्यापार अब बेरोक सट्टेबाज़ी के लिए किसी काल्पनिक शब्द जैसा लग सकता है। ('रिस्क बिजनेस, द इकनॉमिक टाइम्स, लण्डन, 17 अक्टूबर, 1998)

2. 'स्वॉप' एक ऐसा कारोबारी विनिमय है जिसमें एक ऋणपत्र एक ख़रीददार उसी मूल्य के किसी अन्य ऋणपत्र की ख़रीद के बदले में बेचता है। इसके पीछे के विचार दोनों पार्टियों द्वारा सम्भाले जा रहे पोर्टफोलियो की गुणवत्ता में दिखने योग्य बेहतरी लाने का होता है।

3. 'ऑप्शन्स' काण्ट्रैक्ट लाभपत्र को एक वित्तीय परिसम्पत्ति या माल को तयशुदा क़ीमत पर तयशुदा समय के भीतर ख़रीदने या बेचने का हक देता है। लाभपत्र या तो आप्शन्स का इस्तेमाल कर सकता है या फिर इसे ख़ारिज कर देता है। यह एक तरह से परिसम्पत्तियाँ माल की क़ीमत के परिवर्तनों की दर पर बाज़ी लगाने जैसा है।

4. 'फ्यूचर्स' काण्ट्रैक्ट मालिक को एक तयशुदा मात्रा में मालों या वित्तीय परिसम्पत्तियों को एक पहले से तय क़ीमत पर किसी ख़ास भविष्य की तारीख को ख़रीदने या बेचने का हक देता है। यह एक तरह से माल या परिसम्पत्ति की भावी क़ीमत पर बाज़ी लगाने जैसा है।

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशक : एक सिंहावलोकन

● दीपायन बोस

(पहली किस्त)

(इस लेख की यह पहली किस्त सबसे पहले 'दायित्वबोध' के जनवरी-मार्च 2008 अंक में प्रकाशित हुई थी। अपरिहार्य कारणों से 'दायित्वबोध' का प्रकाशन बन्द हो जाने के कारण इसकी आगे की किस्तें नहीं छप सकीं। करीब पाँच वर्ष का समय बीत जाने के कारण हम इसकी पहली किस्त से ही फिर से इस महत्वपूर्ण लेख का प्रकाशन शुरू कर रहे हैं। – स.)

कुछ चीज़ें धकेल दी गयी हैं
अँधेरे में
उन्हें बाहर लाना है,
जड़ों तक जाना है
और वहाँ से ऊपर उठना है
टहनियों को फैलाते हुए
आकाश की ओर।
सदी के इस छोर से
उठानी है फिर आवाज़
'मुक्ति' शब्द को
एक घिसा हुआ सिक्का होने से
बचाना है।
जनता की सुषुप्त-अज्ञात मेधा तक जाना है
जो जड़-निर्जीव चीज़ों को
सक्रिय जीवन में रूपान्तरित करेगी
एक बार फिर।
जीवन से अपहृत चीज़ों की
बरामदगी होगी ही एक न एक दिन।
आकाश को प्राप्त होगा
उसका नीलापन,

वृक्षों को उनका हरापन,
तुषारनद को उसकी श्वेताभा
और सूर्योदय को उसकी लाली
तुम्हारे रक्त से...
(शशि प्रकाश)

इतिहास की कई एक हारी गयी लड़ाइयाँ ऐसी भी हैं जिन्होंने देश-विदेश के जीवन और भविष्य की दिशा को जीती गयी लड़ाइयों की तुलना में कम नहीं, बल्कि कभी-कभी तो कुछ अधिक ही प्रभावित किया। ऐसी अल्पजीवी घटनाएँ धूमकेतु के समान क्षितिज पर प्रकट हुईं और विलुप्त हो गयीं, लेकिन लोक-स्मृतियों में अपना अमिट स्थान सुरक्षित कर गयीं और आने वाली पीढ़ियों को लम्बे समय तक, इतिहास-निर्माण के लिए आगे डग भरने को प्रेरित करती रहीं। 1967 का नक्सलबाड़ी किसान-उभार भारतीय इतिहास के स्वातन्त्र्योत्तर काल की एक ऐसी ही महान ऐतिहासिक घटना थी।

नक्सलबाड़ी का क्रान्तिकारी जन-उभार एक ऐतिहासिक विस्फोट की तरह घटित हुआ जिसने भारतीय शासक वर्ग के प्रतिक्रियावादी चरित्र और नीतियों को एक झटके के साथ नंगा करने के साथ ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) सहित संशोधनवाद और संसदमार्गी वामपन्थ के विश्वासघाती जन-विरोधी चरित्र को उजागर करते हुए भारत के श्रमजीवी जनसमुदाय को यह सन्देश दिया कि सर्वहारा क्रान्ति के हरावल दस्ते के निर्माण एवं गठन के काम को नये सिरे से हाथ में लेना होगा। नक्सलबाड़ी के तत्काल बाद, सर्वहारा वर्ग की एक अखिल भारतीय पार्टी के गठन की दिशा में तूफ़ानी सरगर्मियों के साथ एक नयी शुरुआत हुई, लेकिन जल्दी ही यह नयी शुरुआत "वामपन्थी" आतंकवाद के भँवर में जा फँसी। तमाम घोषणाओं और दावों के बावजूद, कड़वा ऐतिहासिक तथ्य यह है कि देश स्तर पर सर्वहारा वर्ग की एक एकीकृत क्रान्तिकारी पार्टी नक्सलबाड़ी के उत्तरवर्ती प्रयासों के परिणामस्वरूप वस्तुतः अस्तित्व में आ ही नहीं सकी। 1969 में जिस भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मा-ले) की घोषणा हुई, वह पिछले सैंतीस वर्षों से कई ग्रुपों और संगठनों में बँटी हुई, एकता और फूट के अनवरत सिलसिले से गुजरती रही है। नक्सलबाड़ी की मूल प्रेरणा से गठित जो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन भाकपा (मा-ले) में शामिल नहीं हुए थे, उनकी भी यही स्थिति रही है। इन सभी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों के जिस समूह को कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर कहा जाता रहा है, उनमें से कुछ आज भी "वामपन्थी" दुस्साहसवादी निम्न-पूँजीवादी लाइन के संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण को अमल में ला रहे हैं, कुछ दक्षिणपन्थी सिरे की ओर विपथगमन की प्रक्रिया में हैं तो कुछ सीधे संसदमार्गी वामपन्थियों की पंगत में जा बैठे है, कुछ का अस्तित्व बस नाम को ही बचा हुआ है तो कुछ बाक़ायदा विसर्जित हो चुके हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो नववामपन्थी "मुक्त चिन्तन" की राह पकड़ कर चिन्तन कक्षों में मुक्ति के नये सूत्र ईजाद कर रहे हैं। इस त्रासद स्थिति के कारणों की पड़ताल ज़रूरी है और आगे हम ऐसा करने की एक कोशिश भी करेंगे, लेकिन इतना तय है कि नक्सलबाड़ी में 1967 में घटी घटना भारतीय इतिहास का एक मोड़-बिन्दु और भारतीय वामपन्थ के

इतिहास का एक सन्दर्भ-बिन्दु थी। इस घटना ने, और यहाँ से शुरू हुई मार्क्सवादी-लेनिनवादी राजनीतिक धारा ने पूरे भारतीय राजनीतिक परिदृश्य को, सामाजिक ताने-बाने को और सांस्कृतिक-साहित्यिक आन्दोलन को गहराई से प्रभावित किया। भारतीय समाज और राजनीति का स्वरूप वैसा कत्तई नहीं रह गया जैसा कि वह पहले था। बुर्जुआ मीडिया ने क्रान्तिकारी वामपन्थ के लिए एक नया शब्द ईजाद किया – नक्सलवाद, और पश्चिम बंगाल के दार्जीलिंग जिले के उस सुदूर ग्रामीण अंचल ने इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित करा लिया। आज अपने ढंग से, बुर्जुआ राजनीतिज्ञ और व्यवस्था के सिद्धान्तकार-सलाहकार भी स्वीकार करते हैं कि "नक्सलवाद समस्या" कानून-व्यवस्था की नहीं बल्कि सामाजिक-आर्थिक है और इसका समाधान भी सामाजिक-आर्थिक ही हो सकता है।

नक्सलबाड़ी का क्रान्तिकारी जन-उभार भारत में क्रान्तिकारी वामपन्थ की नयी शुरुआत और संशोधनवादी राजनीति से निर्णायक विच्छेद की एक प्रतीक घटना सिद्ध हुआ। इसने मज़दूर-किसान जनता के सामने राज्यसत्ता के प्रश्न को एक बार फिर केन्द्रीय प्रश्न बना दिया। तेलंगाना-तेभागा-पुनप्रा वायलार और नौसेना विद्रोह के दिनों के बाद, एक बार फिर देशव्यापी स्तर पर जनसमुदाय की क्रान्तिकारी ऊर्जा और पहलक़दमी निर्बन्ध हुई, लेकिन "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के विचारधारात्मक विचलन और विरासत के तौर पर प्राप्त विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण भारतीय सामाजिक-आर्थिक संरचना एवं राज्यसत्ता की प्रकृति की ग़लत समझ और उस आधार पर निर्धारित क्रान्ति की ग़लत रणनीति एवं आम रणकौशल के परिणामस्वरूप यह धारा आगे बढ़ने के बजाय गतिरोध और विघटन का शिकार हो गयी। अब पिछले चार दशकों में गंगा में काफ़ी पानी बह चुका है। 1967 में सामाजिक संक्रमण की जो दिशा थी, उस दिशा में यात्रा काफ़ी आगे के एक सुनिश्चित मुक़ाम तक पहुँच चुकी है। प्रतिक्रान्तिकारी ढंग से, ऊपर से, क्रमिक विकास के रास्ते से, शासक वर्गों द्वारा किये पूँजीवादी भूमि-सुधारों ने किसान आबादी के विभेदीकरण, सर्वहाराकरण और विस्थापन को तीव्र करने के साथ ही गाँवों में भी पूँजी और श्रम के अन्तरविरोध को एकदम स्पष्ट और अत्यधिक तीखा बना दिया है। पूँजीवादी माल-उत्पादन की प्रणाली का वर्चस्व वहाँ निर्णायक ढंग से स्थापित हो चुका है और प्राक्-पूँजीवादी अवशेषों का दायरा अत्यधिक संकुचित हो चुका है। देश में देशी-विदेशी पूँजीपतियों के उद्योग-धन्धों और औद्योगिक सर्वहारा आबादी का भारी विस्तार हुआ है। भूमण्डलीकरण के दौर की नवउदारवादी नीतियों को स्वीकार कर भारतीय पूँजीपति वर्ग ने राजकीय उद्योगों का लगातार, बड़े पैमाने पर निजीकरण किया है और विदेशी पूँजी के लिए राष्ट्रीय बाज़ार को लगभग पूरी तरह से खोल दिया गया है। भारतीय पूँजीपति वर्ग आज की नयी परिस्थितियों में, विश्व पूँजीवादी तन्त्र में साम्राज्यवादी लुटेरों के कनिष्ठ सहयोगी एवं भागीदार की भूमिका में व्यवस्थित हो चुका है। कृषि और उद्योग – दोनों ही क्षेत्रों में आज देशी-विदेशी पूँजी और श्रम के बीच का अन्तरविरोध एकदम स्पष्ट हो चुका है।

1960 के दशक में भी समाज-विकास की यही दिशा थी, लेकिन तब एक संक्रमणशील तरल परिस्थिति थी और विकासमान सारभूत यथार्थ को पहचानकर क्रान्ति की मंज़िल का निर्धारण उच्च विचारधारात्मक क्षमता वाले परिपक्व नेतृत्व, गहन पर्यवेक्षण एवं अध्ययन तथा राजनीतिक वाद-विवाद की एक लम्बी प्रक्रिया की माँग करता था। नक्सलबाड़ी से उभरा नेतृत्व

ऐसा नहीं था, और "वामपन्थी" संकीर्णतावाद ने जनवादी ढंग से विचारों के आदान-प्रदान की सम्भावनाओं का गला घोंट दिया। चीनी क्रान्ति के मार्ग के अनुसरण का नारा दिया गया, लेकिन उस पर भी यदि जनदिशा लागू करते हुए अमल किया जाता तो शायद अनुभवों के समाहार से सही नतीजों तक पहुँचा जा सकता था। पर पहले "वामपन्थी" आतंकवाद और फिर दक्षिणपन्थी विचलनों ने इस सम्भावना के द्वार भी रुद्ध कर दिये। आज पीछे मुड़कर जब हम इतिहास को देखते हैं और विश्लेषण-समाहार करते हैं, तो ज़ाहिर है कि चार दशक पहले के समय में पीछे लौटकर ग़लतियों को ठीक नहीं किया जा सकता। तब से भारतीय समाज काफ़ी आगे निकल आया है। जो 1967 या 1970 में हो सकता था या होना चाहिए था, आज उसकी स्थिति ही नहीं है। नक्सलबाड़ी किसान-उभार आज नहीं हो सकता। उस दौरान, जहाँ तक, जिस हद और मुकाम तक, चीज़ें सही ढंग से विकसित हुईं, वह हमारी विरासत है लेकिन उसकी पुनरावृत्ति नहीं की जा सकती। इतिहास निरन्तरता और परिवर्तन के द्वन्द्व से आगे बढ़ता है। नक्सलबाड़ी और वहाँ से पैदा हुई क्रान्तिकारी वाम धारा के सन्दर्भ में, निरन्तरता के पहलू पर परिवर्तन का पहलू आज प्रधान है। यानी हम वस्तुगत परिस्थितियों और क्रान्ति की मनोगत शक्तियों – इन दोनों ही के सन्दर्भ में एक नये दौर में जी रहे हैं। फिर भी यह तय है कि उस दौर के इतिहास के सही, वस्तुपरक सार-संकलन के बिना, इस दौर में भी कोई नयी शुरुआत आगे नहीं बढ़ सकती। जो विचारधारात्मक भटकाव, पहुँच और पद्धति की जो ग़लतियाँ उस समय सही कार्यभार और सही मार्ग के निर्धारण में बाधक बनी थीं, उनका यदि सही-सटीक, बेलागलपेट विश्लेषण नहीं किया गया तो वही ग़लतियाँ किसी भी नयी यात्रा को बार-बार विपथगामी बनाती रहेंगी। यह जानना ही होगा कि अतीत के किन प्रेतों से हमें पीछा छुड़ाना है और अतीत की किस विरासत को आत्मसात करके उसे आगे विस्तार देना है।

इतिहासग्रस्त होकर इतिहास का निर्माण नहीं किया जा सकता। इतिहास के प्रेत तब तक किसी आन्दोलन या देश का पीछा करते रहते हैं जबतक कि उसके सभी सकारात्मक-नकारात्मक अनुभवों का समाहार करके उन्हें आत्मसात न कर लिया जाये और फिर इसके बाद भी, हम जब कभी नयी परिस्थितियों के रूबरू होते हैं तो नयी ज़मीन पर खड़े होकर, एक बार फिर इतिहास के साथ आलोचनात्मक रिश्ता क़ायम करते हैं। इतिहास, वस्तुतः अतीत के साथ वर्तमान का निरन्तर जारी संवाद होता है। इतिहासग्रस्तता से मुक्ति और नयी परिस्थितियों में भारत में सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी – इन दोनों ही उद्देश्यों से (जो एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं), आज नक्सलबाड़ी का आलोचनात्मक पुनरावलोकन ज़रूरी है। जैसा कि हम कह चुके हैं, आज नक्सलबाड़ी और वहाँ से शुरू हुई प्रक्रिया को, उसकी ग़लतियाँ सुधारकर दुहराया नहीं जा सकता। लेकिन नक्सलबाड़ी से शुरू हुई प्रक्रिया की विफलता और विपथगमन और तज्जन्य दीर्घकालिक गतिरोध के कुछ बुनियादी कारण ऐसे भी हैं जिन्हें समझना आज बेहद ज़रूरी है। इसी उद्देश्य से यहाँ हम नक्सलबाड़ी किसान-उभार और वहाँ से शुरू हुए कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास की चर्चा करेंगे। ज़ाहिर है कि नक्सलबाड़ी की ऐतिहासिक महत्ता और विफलता के आधारभूत कारणों की पूरे भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास की पृष्ठभूमि के बिना ठीक-ठीक शिनाख़्त नहीं की जा सकती। नक्सलबाड़ी भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का एक नया मुकाम था, पर यह उस इतिहास की निरन्तरता से विच्छिन्न कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। यूँ कहें कि नक्सलबाड़ी और वहाँ से शुरू हुई कम्युनिस्ट क्रान्किारी धारा के सिर पर भी इतिहास का एक

बोझ था, जिससे वह उबर नहीं सकी। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का एक नया मोड़-बिन्दु होने के बावजूद, नक्सलबाड़ी और उससे जन्मी नयी धारा ऐतिहासिक निरन्तरता के कुछ बुनियादी नकारात्मक पक्षों से मुक्त नहीं हो सकी। आगे हम देखेंगे कि इन सभी नकारात्मक पक्षों की कुंजीभूत कड़ी थी विचारधारात्मक कमज़ोरी जिससे भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन शुरू से ही ग्रस्त था। हम इस कमज़ोरी की निरन्तरता के वस्तुगत ऐतिहासिक कारण पर भी अपने कुछ अनन्तिम विचार संक्षेप में रखेंगे। यह चर्चा इसलिए भी ज़रूरी है कि हम समझ सकें कि नक्सलबाड़ी और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की सकारात्मक-नकारात्मक – दोनों ही उपलब्धियों के लिए ऐतिहासिक संयोग-दुर्योग या कुछ व्यक्तियों की भूमिका बुनियादी नहीं थी। हाँ, नेतृत्व की भूमिका इस मायने में ज़रूर अहम थी कि इतिहास का सही-सटीक समाहार करने और ठोस परिस्थितियों का अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल तय करने का काम उसे ही करना था। हम यहाँ कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास के विस्तार में तो नहीं जा सकते, लेकिन इसके कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं और मुक़ामों का यहाँ पृष्ठभूमि के तौर पर उल्लेख ज़रूर करेंगे जो कहीं न कहीं नक्सलबाड़ी किसान उभार से जन्मे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की महत्ता और विफलता के ऐतिहासिक मूल तक पहुँचने में हमारी मदद करेंगे।

भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास की कुछ बातें : एक सामान्य परिप्रेक्ष्य

भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन का इतिहास लगभग नौ दशक पुराना है। नक्सलबाड़ी किसान उभार के समय तक यह आधी शताब्दी की यात्रा पूरी कर चुका था। इस पूरी यात्रा के दौरान इसने गौरवशाली संघर्षों और शौर्यपूर्ण बलिदानों के अनेक कीर्तिस्तम्भ स्थापित किये, लेकिन यह विचारणीय मुद्दा आज भी हमारे सामने यक्षप्रश्न की तरह खड़ा है कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन पर कम्युनिस्ट धारा अपना राजनीतिक वर्चस्व क्यों नहीं स्थापित कर पायी? वह भारतीय पूँजीपति वर्ग और उसकी प्रतिनिधि राजनीतिक पार्टी के हाथों से राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व क्यों नहीं छीन पायी? इसके कारण हम किसी ऐतिहासिक संयोग या कुछ व्यक्तियों की भूमिका में नहीं ढूँढ़ सकते। ऐसा करना अनैतिहासिक होगा।

बीसवीं शताब्दी के समूचे भारतीय इतिहास का यदि सिंहावलोकन किया जाये और उसके प्रमुख मोड़-बिन्दुओं की गहन पड़ताल की जाये तो कम्युनिस्ट आन्दोलन की विफलता के बुनियादी कारणों की शिनाख़्त की जा सकती है। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की सारी कमज़ोरियों की कुंजीभूत कड़ी रही है इसकी विचारधारात्मक कमज़ोरी। इस कमज़ोरी के कारण ही, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, उस दौर में भी, जबकि यह संशोधनवाद के दलदल में नहीं जा धँसी थी और बुनियादी तौर पर इसका चरित्र सर्वहारावर्गीय था, कभी भी संगठन के बोल्शेविक उसूलों के अनुरूप इस्पाती साँचे में ढली हुई और जनवादी केन्द्रीयता पर अमल करने वाली पार्टी के रूप में काम नहीं करती रही थी। पार्टी-गठन के बाद लम्बे समय तक इसका ढाँचा ढीला-ढाला और संघात्मक बना रहा और लेनिनवादी अर्थों में इसका नेतृत्वकारी निकाय भी संगठित नहीं था। पहली बार, ब्रिटेन, जर्मनी और चीन की कम्युनिस्ट पार्टियों के

एक संयुक्त पत्र (मई, 1932), 'कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल' में प्रकाशित एक लेख (फरवरी-मार्च, 1933), और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के एक और पत्र (जुलाई, 1933) द्वारा भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के ग्रुपों में बिखरे होने, ग़ैर बोल्शेविक ढाँचा एवं कार्यप्रणाली तथा पार्टी-निर्माण विषयक कार्यभारों की उपेक्षा की आलोचना करने और आवश्यक सुझाव दिये जाने के बाद, दिसम्बर 1933 में 'भाकपा की अस्थायी केन्द्रीय कमेटी के केन्द्रक' का गठन हुआ, जिसे कुछ और लोगों को सहयोजित करके बाद में केन्द्रीय कमेटी का नाम दे दिया गया। इसके बाद ढाई वर्षों तक पार्टी महासचिव पद के कामचलाऊ प्रबन्ध के तहत कोई न कोई सम्हालता रहा। अप्रैल 1936 में पी.सी. जोशी के महासचिव चुने जाने के बाद यह स्थिति समाप्त हो सकी। लेकिन इसके बाद भी पार्टी के बोल्शेविकीकरण की प्रक्रिया को कभी भी सहज ढंग से अंजाम नहीं दिया गया। पी.सी. जोशी के नेतृत्वकाल वाले दक्षिणपन्थी भटकाव के दौर में, पार्टी सदस्यता की शर्तों, कमेटी-व्यवस्था और गुप्त ढाँचे के मामले में पर्याप्त ढिलाई-लापरवाही बरती जाती थी जो 1942 में पार्टी के क़ानूनी घोषित किये जाने के बाद और बढ़ गयी थी। उल्लेखनीय है कि पार्टी की पहली कांग्रेस भी उसके क़ानूनी घोषित होने के बाद ही जाकर (23 मई-1 जून, 1943, मुम्बई) सम्भव हो सकी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत के कम्युनिस्ट राज्यसत्ता के दमन एवं ग़ैरक़ानूनी होने की स्थितियों में पार्टी कार्यों के सुचारू संचालन के लिए बोल्शेविकों और अन्य दक्ष लेनिनवादी पार्टियों की तरह तैयार नहीं थे। एक जनवादी केन्द्रीयता वाले बोल्शेविक ढाँचे के काफ़ी हद तक अभाव के चलते ही, संशोधनवादी विपथगमन की पूर्ववर्ती अवधि में भी दो लाइनों के संघर्ष के सुसंगत संचालन का पार्टी में सदा अभाव रहा। "वामपन्थी" और दक्षिणपन्थी अवसरवादी प्रवृत्तियों का सहअस्तित्व हमेशा बना रहा, कभी एक तो कभी दूसरी लाइन पार्टी पर हावी होती रही और कभी दोनों की विचित्र खिचड़ी पकायी जाती रही। संकीर्ण गुटवाद की प्रवृत्ति केन्द्रीय कमेटी के गठन के बाद भी, हर स्तर पर निरन्तर मौजूद रही। सच कहा जाये तो पार्टी नेतृत्व ने पार्टी निर्माण को कभी एक महत्त्वपूर्ण कार्यभार माना ही नहीं। कतारों की विचारधारात्मक-राजनीतिक-व्यावहारिक शिक्षा के ज़रिये बोल्शेविकीकरण और दोष-निवारण पर कभी ज़ोर नहीं दिया गया।

यह पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरी और नेतृत्व की बौद्धिक अक्षमता-विपन्नता ही थी, जिसके कारण भारत की कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवाद की सार्वजनीन सच्चाइयों को भारत की ठोस परिस्थितियों में लागू करने में हमेशा न केवल विफल रही, बल्कि ऐसा प्रयास तक करने के बजाय हमेशा ही अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व और बड़ी एवं अनुभवी बिरादर पार्टियों का मुँह जोहती रही। ज़्यादातर कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के प्रस्तावों-सर्कुलरों, उसके मुखपत्रों में प्रकाशित लेखों, सोवियत पार्टी के लेखों और ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी के रजनीपाम दत्त जैसे लोगों के लेखों के प्रभाव में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अपनी नीतियाँ और रणनीति तय करती रही। इससे अधिक त्रासद विडम्बना भला और क्या हो सकती है कि 1951 तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के पास भारतीय क्रान्ति का कोई कार्यक्रम तक नहीं था, केवल कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल द्वारा प्रवर्तित आम दिशा और दिशा-निर्देशों के अनुरूप लिखे गये कुछ निबन्ध, प्रस्ताव और रणकौशल एवं नीति-विषयक दस्तावेज़ मात्र ही थे जो बताते थे कि भारत में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यभार सम्पन्न करना है। मुख्यतः भूमि क्रान्ति (एग्रेरियन रिवोल्यूशन) का कार्यभार होने के बावजूद, कोई भूमि कार्यक्रम (एग्रेरियन प्रोग्राम) तैयार करना तो दूर,

भूमि-सम्बन्धों की विशिष्टताओं को जानने-समझने के लिए कभी कोई विस्तृत जाँच-पड़ताल तक नहीं की गयी थी। ऐसी स्थिति के होते हुए, यदि पार्टी राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की नेतृत्वकारी शक्ति नहीं बन सकी, अनुकूल स्थितियों का लाभ उठाने से बार-बार चूकती रही और जन संघर्षों में कम्युनिस्ट कतारों की साहसिक भागीदारी और अकूत कुर्बानियाँ व्यर्थ हो गयीं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पहली बार पार्टी नेतृत्व ने, अपने एक प्रतिनिधिमण्डल की स्तालिन और सोवियत पार्टी के अन्य नेताओं से वार्ता के बाद, 1951 में एक कार्यक्रम और नीति-विषयक वक्तव्य तैयार करके जारी किया जिसे अक्टूबर, 1951 में पार्टी के अखिल भारतीय सम्मेलन और फिर दिसम्बर, 1953 में तीसरी पार्टी कांग्रेस में पारित किया गया। क्रान्ति की मंज़िल और आम दिशा के बारे में मूलत: और मुख्यत: सही होते हुए भी लोक जनवादी क्रान्ति का यह कार्यक्रम कई मायनों में अन्तरविरोधों-विसंगतियों से भरा हुआ था। भारतीय पूँजीपति वर्ग और राज्यसत्ता के चरित्र तथा भूमि सम्बन्धों के रूपान्तरण एवं समाज-विकास की आम दिशा के बारे में इस कार्यक्रम के मूल्यांकन यथार्थ से मेल नहीं खाते थे, इसे आगे चलकर समय ने एकदम स्पष्ट कर दिया। यहीं पर इस तथ्य का उल्लेख भी कर दिया जाना चाहिए कि 1955-56 के दौरान पार्टी नेतृत्व का एक हिस्सा ऐसा सोचने और कहने लगा था कि भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता सामन्ती भूमि सम्बन्धों को ऊपर से, क्रमिक प्रक्रिया में (बिस्मार्ककालीन प्रशा और कमाल अतातुर्ककालीन तुर्की की तरह) रूपान्तरित करने और सामन्तवाद को नियन्त्रित करने का काम कर रही है। लेकिन अपनी बात को साहसपूर्वक उसकी तार्किक परिणति तक पहुँचाने के बजाय उन्होंने निहायत कायराना अवसरवाद के साथ चुप्पी साध ली। बहरहाल, इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस समय तक पूरी तरह से खुली और संसदमार्गी हो चुकी पार्टी संशोधनवाद की राह पर आगे बढ़ चुकी थी और कार्यक्रम के प्रश्न पर यदि सही दिशा में कुछ सोचा भी जाता तो उसका कोई मतलब नहीं था क्योंकि संसदीय वामपन्थियों के लिए क्रान्ति का कार्यक्रम केवल कोल्ड स्टोरेज में रखने की चीज़ होता है।

अपने विचारधारात्मक दिवालियेपन के चलते भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने औपनिवेशिक भारत के उत्पादन-सम्बन्धों और अधिरचना के सभी पहलुओं (जिनमें जाति व्यवस्था, स्त्री प्रश्न और राष्ट्रीयताओं का प्रश्न भी आता है) का ठोस अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल के निर्धारण की कोई स्वतन्त्र कोशिश वस्तुत: की ही नहीं और अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व और बड़ी बिरादर पार्टियों के आकलनों के हिसाब से ही हमेशा निर्णय लेता रहा। ऐसी स्थिति में वह संयुक्त मोर्चा, मज़दूर आन्दोलन और अन्य प्रश्नों पर बार-बार दो छोरों के भटकाव का शिकार होता रहा। ज़ाहिर है कि ऐसे में अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में समय-समय पर पैदा होने वाले विचलन और भारत-विषयक ग़लत या असन्तुलित मूल्यांकन भी भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को प्रभावित करते रहे। इस स्थिति की तुलना यदि हम चीन से करें तो बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है। चीन में 1921 में कम्युनिस्ट पार्टी ने एक निहायत कमज़ोर ज़मीन पर छोटी-सी ताक़त और वैचारिक अधकचरेपन के साथ शुरुआत की थी। लेकिन शुरू से ही चीन की पार्टी ने पार्टी-निर्माण के कार्यभारों पर – पार्टी के बोल्शेविकीकरण पर, कतारों की राजनीतिक शिक्षा पर, पार्टी कमेटियों के सुदृढ़ीकरण एवं कार्यप्रणाली पर, अनुशासन एवं अन्तर्पार्टी जनवाद पर विशेष ज़ोर दिया। चीनी पार्टी लगातार दो लाइनों के बीच संघर्ष के द्वारा आगे विकसित हुई। वह अपनी

ग़लतियों से सीखने में सक्षम थी और इसीलिए पराजय या विफलताओं के झटके कभी उसकी कमर नहीं तोड़ पाये। माओ त्से-तुङ ने कोमिण्टर्न द्वारा उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों में लोक जनवादी कार्यक्रम की आम दिशा को स्वीकारते हुए, चीन की विशिष्ट स्थितियों के ठोस अध्ययन के आधार पर चीनी भूमि क्रान्ति के ठोस रूप और नारे तय किये, चीनी पूँजीपति वर्ग के दलाल और राष्ट्रीय हिस्सों की मौलिक ढंग से पहचान की तथा नवजनवादी क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल तथा दीर्घकालिक लोकयुद्ध के क्रान्ति-पथ की ठोस रूपरेखा तैयार की। ऐसा करते हुए कई बार उनके विचार कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल और स्तालिन के चीनी क्रान्ति विषयक सुझावों से कदापि मेल नहीं खाते थे, पर अपने देश की ठोस परिस्थितियों के ठोस अध्ययन और व्यवहार से निकले निष्कर्षों को साहसपूर्वक प्रस्तुत और लागू करने में उन्होंने कभी कोई हिचक नहीं दिखायी। चीनी क्रान्ति की सफलता के पीछे यही बुनियादी कारण था और इसी विशिष्टता का हमें भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व में नितान्त अभाव दीखता है। 1949 में चीनी नवजनवादी क्रान्ति की निर्णायक विजय होने तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अभी भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम तक प्रस्तुत नहीं कर पायी थी। हाँ, अब मुँह जोहने और अनुकरण करने के लिए उसे एक और बड़ी बिरादर पार्टी ज़रूर मिल गयी थी। चूँकि माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में चीन की पार्टी ने ही ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष चलाया, इसलिए 1960 के दशक में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) से बाहर आये कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के नये नेतृत्व को यह सर्वथा उचित लगा कि वह चीनी पार्टी द्वारा प्रतिपादित विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा के दस्तावेज़ के ही हिसाब से भारत में भी साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी क्रान्ति की मंज़िल मान ले और उत्पादन सम्बन्धों, वर्गीय संरचना और राज्यसत्ता के चरित्र के अध्ययन की कोई जहमत न उठाये। उससे भी आगे बढ़कर, चीनी पार्टी के भारत-विषयक आकलनों को हूबहू अपना लेने के बाद, क्रान्ति-पूर्व चीन जैसी ही वर्गीय संरचना की कल्पना करके चीनी क्रान्ति के मार्ग को हूबहू लागू करने की घोषणा करते हुए भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मा-ले) ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की पुरानी परम्परा को ही आगे बढ़ाया था। इस स्थिति में बदलाव की सम्भावना तब और धूमिल हो गयी, जब पुरानी परम्परा के ही अनुसार, पेण्डुलम संशोधनवाद से हटता हुआ "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के दूसरे छोर तक जा पहुँचा और फिर उसके बाद "वामपन्थी" और दक्षिणपन्थी अवसरवाद के सहअस्तित्व के लम्बे दौर की शुरुआत हो गयी। बहरहाल, इस दौर की चर्चा हम आगे विस्तार से करेंगे।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाना भी स्वाभाविक है कि भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन की बौद्धिक विपन्नता के वस्तुगत ऐतिहासिक कारण आखिरकार क्या थे? हालाँकि इस प्रश्न का सुसंगत उत्तर विस्तृत ऐतिहासिक-सामाजिक पड़ताल की माँग करता है, जो इस निबन्ध की सीमाओं को देखते हुए यहाँ सम्भव नहीं है। फिर भी भारत के कम्युनिस्ट नेतृत्व की विचारधारात्मक कमज़ोरी और अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व या बड़ी बिरादर पार्टियों का मुँह जोहने की प्रवृत्ति के सर्वाधिक मूलभूत कारण का संक्षिप्त उल्लेख तो यहाँ किया ही जा सकता है। किसी भी देश में कम्युनिस्ट आन्दोलन अचानक शून्य से नहीं पैदा हो गया और उसकी सफलता-असफलता या उसके नेतृत्व की परिपक्वता-अपरिपक्वता महज़ इत्तफ़ाक नहीं था। इन सबके पीछे देश-विशेष के इतिहास में वर्ग-संघर्ष के सुदीर्घ, गतिमान सिलसिले और उससे नि:सृत बौद्धिक-सांस्कृतिक विरासत की निरन्तरता का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म यदि यूरोप में हुआ और सबसे पहले उसने यूरोपीय मज़दूर-आन्दोलन में जड़ें जमायीं, तो इसके ऐतिहासिक वस्तुगत कारण थे। पुनर्जागरण काल ने मध्ययुगीन जड़ता को तोड़कर इतिहास की जिस तीव्र वेगवाही यात्रा की शुरुआत की थी, वह बीच के कुछ उत्क्रमणों-विपर्ययों की दशाब्दियों को छोड़कर, निरन्तर जारी रही और प्रबोधन काल और पूँजीवादी जनवादी क्रान्तियों के दौरों से होती हुई उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आ पहुँची, जहाँ बुर्जुआ वर्ग द्वारा धूल में फेंक दिये गये मुक्ति के लाल झण्डे को सर्वहारा वर्ग ने उठा लिया और वर्ग-संघर्ष के नये ऐतिहासिक युग में वैज्ञानिक समाजवाद उसका मार्गदर्शक सिद्धान्त बना। यूरोपीय मज़दूर वर्ग को विगत चार शताब्दियों के इतिहास की प्रचण्ड गतिमानता ने समृद्ध बौद्धिक-दार्शनिक विरासत से लैस किया था। मुख्यत: उपनिवेशों की लूट से घूस खाकर यूरोपीय मज़दूर वर्ग का उन्नत हिस्सा जब कुलीन और सुविधाजीवी हो गया तो क्रान्ति के तूफ़ानों का केन्द्र पश्चिम से पूर्व की ओर स्थानान्तरित होने लगा और पहली सर्वहारा क्रान्ति रूस में हुई जो पूर्व-पश्चिम सेतु पर स्थित था। रूस एक ऐसा देश था जो ज़ारशाही निरंकुशता और सामन्ती भूदासता की बेड़ियों में जकड़ा था, पर वहाँ पूँजीवाद का क्रमिक मन्थर विकास भी जारी था। वह कमज़ोर, उत्पीड़ित राष्ट्रों का जेलखाना और विशाल सैन्य शक्ति से सम्पन्न था, लेकिन पश्चिमी यूरोपीय देशों के शोषण का शिकार भी था। विकसित यूरोप की पूँजी का चरागाह होने के बावजूद वह एक स्वतन्त्र देश था जो स्वयं पड़ोसी पूर्वी यूरोपीय देशों का उत्पीड़क था। रूस में पूरब का पिछड़ापन और बर्बर शोषण-उत्पीड़न भी था और वहाँ का बौद्धिक समाज यूरोप के वैचारिक केन्द्रों की दार्शनिक-सांस्कृतिक-वैज्ञानिक सरगर्मियों से जीवन्त रूप से जुड़ा हुआ था। रूस कभी गुलाम नहीं बना, अपने अतीत से कभी विच्छिन्न नहीं हुआ और उसे अपने पिछड़ेपन का अहसास भी था। इसी ज़मीन पर उन्नीसवीं शताब्दी में रूस के महान क्रान्तिकारी यथार्थवादी साहित्यकार और बेलिंस्की, हर्ज़न, चेर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्यूबोव आदि जैसे महान क्रान्तिकारी जनवादी दार्शनिक पैदा हुए। लेनिन और उनके सहयोद्धाओं की पीढ़ी को यह महान वैचारिक-सांस्कृतिक सम्पदा विरासत के तौर पर मिली थी जिसने उन्हें स्वतन्त्र तर्कणा का साहस दिया था। चीन अपनी तमाम मध्ययुगीन जड़ता और एशियाई सुस्ती के बावजूद, अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक गति की निरन्तरता से कभी पूर्णत: विच्छिन्न नहीं हुआ था। कई साम्राज्यवादी देशों की लूट और आंशिक क़ब्ज़ों के बावजूद तथा कई पराजयों के बावजूद, चीन कभी पूर्णत: औपनिवेशिक गुलामी का शिकार नहीं हुआ। इसीलिए, वहाँ यदि एक दलाल पूँजीपति वर्ग था तो एक राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग भी था। यदि बुद्धिजीवी समाज का एक हिस्सा बौद्धिक उपनिवेशन का शिकार था, तो दूसरा, स्वतन्त्र चिन्तन का साहस रखने वाला राष्ट्रवादी हिस्सा भी था। बौद्धिक-वैचारिक सम्पदा की दृष्टि से चीन विगत कुछ शताब्दियों के दौरान पीछे छूट गया था, लेकिन गुलाम नहीं होने के कारण सुदूर अतीत की बौद्धिक-वैचारिक सम्पदा से चीन के राष्ट्रवादी बौद्धिक समाज का सम्बन्ध टूटा नहीं था और पश्चिम के अवदानों को सम्मोहित दास भाव से ग्रहण करने की प्रवृत्ति से भी वह मुक्त था। साथ ही, चीन के कम्युनिस्ट आन्दोलन को डा. सुन यात-सेन और 1911 की अधूरी जनवादी क्रान्ति की विरासत भी मिली थी। यही कारण था कि निहायत कमज़ोर विचारधारात्मक ज़मीन से शुरुआत करने के बावजूद, चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व का मुँह जोहने और भक्तिभाव से निर्देश-पालन की

बजाय अपने देश की ठोस परिस्थितियों का विश्लेषण करके चीनी क्रान्ति का स्वरूप एवं मार्ग स्वयं निर्धारित करने का साहस किया।

भारत का प्राचीन इतिहास तूफ़ानी सामाजिक संघर्षों से भरा हुआ और विपुल दार्शनिक-सांस्कृतिक सम्पदा से समृद्ध रहा था। सुदीर्घ मध्यकालीन गतिरोध के टूटने के संकेत (पूँजीवादी विकास और निर्गुण भक्ति आन्दोलन से लेकर सतनामी विद्रोह जैसे किसान संघर्षों तक के रूप में) अभी मुखर हो ही रहे थे कि इसके उपनिवेशीकरण की शुरुआत हो गयी जो एक शताब्दी के दौरान (उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक) पूरी हो गयी। उपनिवेशीकरण ने भारतीय समाज की स्वतन्त्र आन्तरिक गति को पूरी तरह से नष्ट करके इसके ऊपर एक औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित कर दी। इस आरोपित औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के घटक नये वर्ग इतिहास की अभिशप्त सन्तानें थे। भारतीय पूँजीपति वर्ग और भारत के बुद्धिजीवी किसी पुनर्जागरण और प्रबोधन की प्रक्रिया से विकसित नहीं हुए थे। वे ऐतिहासिक जड़ों से विच्छिन्न और औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना की उपज थे। यही कारण था कि भारतीय पूँजीपति वर्ग के किसी रैडिकल हिस्से ने भी कभी कोई क्रान्तिकारी संघर्ष नहीं किया और समूचे पूँजीपति वर्ग ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध आद्यन्त 'समझौता-दबाव-समझौता' की नीति अपनाई तथा जन संघर्षों और विश्व परिस्थितियों का लाभ उठाकर सत्ता हासिल की। उसके इस व्यवहार ने उसे जनता के साथ छल करने और शासन चलाने की करिश्माई कुटिलता तो सिखाई, लेकिन दार्शनिक-वैचारिक सम्पदा के मामले में वह कंगाल ही था। भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय का जो हिस्सा रैडिकल राष्ट्रीय जनवादी था, उसके राष्ट्रवाद और जनवाद को भी तर्कणा और भौतिकवाद की वह समृद्ध ज़मीन हासिल नहीं थी, जैसी यूरोपीय या रूसी बुद्धिजीवी वर्ग को थी। साथ ही, औपनिवेशिक मानसिकता के चलते स्वतन्त्र चिन्तन के बजाय यूरोप का अन्धानुकरण या अतीत की ज़मीन पर खड़े होकर यूरोपीय ज्ञान सम्पदा का कुण्ठित अन्ध-विरोध भारतीय बुद्धिजीवियों की आम प्रवृत्ति थी। भारत के मज़दूर वर्ग के सामने विरासत के तौर पर अपनाने के लिए बुर्जुआ पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति की कोई सम्पदा नहीं थी। मध्यवर्गीय रैडिकल राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों का जो हिस्सा वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों का क़ायल होकर मज़दूर आन्दोलन से जुड़ा, वह भी औपनिवेशिक सामाजिक संरचना में जन्मे होने के ऐतिहासिक अभिशाप से मुक्त नहीं था। उसके पास न तो ऐतिहासिक निरन्तरता का बोध था, न ही किसी भी देश की क्रान्ति या वर्ग-संघर्ष के विचारधारात्मक सारतत्व को आसवित करने और अपने देश की ठोस परिस्थितियों का अध्ययन करके उनमें उसे लागू करने का बौद्धिक विवेक एवं साहस था। मज़दूर आन्दोलन में वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा को लाने वाले इन बुद्धिजीवियों ने यही विरासत भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व को दी जिससे वह आज तक मुक्त नहीं हो सका है। औपनिवेशिक मानस भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व में इस रूप में मौजूद रहा है कि सफल क्रान्तियों, उन्हें नेतृत्व देने वाली पार्टियों एवं उनके नेताओं तथा अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व का अन्धानुकरण लगातार, कमोबेश इसकी एक आम प्रवृत्ति रही है।

भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व के चिन्तन में मौलिकता, साहस और गहराई के अभाव के जिस कारण की हमने ऊपर चर्चा की है, ज़ाहिर है कि वह एकमात्र कारण नहीं है। अन्य अनेक कारण हो सकते हैं, लेकिन उपरोक्त कारण एक बुनियादी वस्तुगत ऐतिहासिक कारण है, इतना हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं। यह एक अप्रिय सत्य है, लेकिन उस ज़मीन

को पहचानना बेहद ज़रूरी है, जिस पर खड़े होकर हमें नयी शुरुआत करनी है। औपनिवेशिक अतीत की इस ज़मीन को पहचानकर हम उसके अभिशापों से आज अधिक सुगमता से मुक्त हो सकते हैं क्योंकि उस अतीत को हम आधी सदी पीछे छोड़ आये हैं। औपनिवेशिक या यांत्रिक भौतिकवादी इतिहास-दृष्टि से मुक्त होकर भारतीय इतिहास का अध्ययन करने के लिए परिस्थिति भी आज अधिक अनुकूल है। दूसरे, आज की दुनिया में देश-विदेश की ऐतिहासिक सीमाओं से मुक्त होकर सोचने और विश्व बौद्धिक सम्पदा को आत्मसात करने के लिए अधिक अनुकूल वस्तुगत परिस्थिति है। तीसरे, आज ऐसा कोई अन्तरराष्ट्रीय केन्द्र या नेतृत्व या समाजवादी देश नहीं है, जिसका अन्धानुकरण किया जा सके, इसलिए परिस्थितियाँ स्वयं अपनी राह ढूँढ़ने के लिए बाध्य कर रही हैं। चौथे, देश-दुनिया के हालात में बदलाव इतने स्पष्ट हैं कि आधी सदी पहले की किसी क्रान्ति की नकल करने की कोशिश सिर्फ़ कोई जड़मति ही करेगा। यानी स्वतन्त्र रूप से ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण के लिए परिस्थितियाँ आज अधिक अनुकूल हैं। नक्सलबाड़ी का समाहार करते हुए मूल प्रसंग से कुछ हटकर यह ऐतिहासिक चर्चा इसी आशा के साथ की गयी है कि नयी सदी की नयी सर्वहारा क्रान्तियों के इस दौर में भारत के सर्वहारा क्रान्तिकारियों की नयी पीढ़ी अतीत से सबक ले और भारतीय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन को एक नयी दिशा दे।

पटभूमि के तौर पर इस चर्चा के बाद हम अब मुख्य विषय पर लौटते हैं। नक्सलबाड़ी किसान संघर्ष की कोख से जन्मे भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन या मार्क्सवादी-लेनिनवादी धारा के सकारात्मक-नकारात्मक पहलुओं के विश्लेषण-समाहार से पहले संक्षेप में यह जान लेना ज़रूरी है कि भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर वे परिस्थितियाँ किस रूप में तैयार हुईं कि कम्युनिस्ट कतारों का बड़ा हिस्सा संशोधनवाद से विच्छेद और संशोधनवादी नेतृत्व के विद्रोह करने की स्थिति तक जा पहुँचा, नक्सलबाड़ी किसान उभार जिसका निमित्त बना। साथ ही, नक्सलबाड़ी में विस्फोट की परिस्थितियाँ किस रूप में तैयार हुईं, किसान-उभार का ज्वार किस प्रकार उठा और आगे बढ़ा, इन तथ्यों और घटना-क्रम से भी, संक्षेप में परिचित हो लेना ज़रूरी है।

निकट अतीत की पृष्ठभूमि : नक्सलबाड़ी-पूर्व दो दशकों के दौरान भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन

नक्सलबाड़ी में क्रान्तिकारी किसान-उभार के ऐतिहासिक महत्त्व के वस्तुगत आकलन के लिए यह जानना ज़रूरी है कि भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में ये हालात क्यों और किस प्रकार तैयार हुए कि पश्चिम बंगाल के एक सुदूर तराई अंचल में स्थानीय कम्युनिस्ट संगठनकर्ताओं के नेतृत्व में किसानों का हथियारबन्द जन-विद्रोह शुरू हुआ (जो बमुश्किल तमाम सिर्फ़ ढाई माह तक ही चला) और उसके पक्ष-विपक्ष में पूरे देश का कम्युनिस्ट आन्दोलन बँट गया तथा वह घटना संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद का मानक, प्रस्थान-बिन्दु, रूपक और प्रतीक-चिन्ह बन गयी। नक्सलबाड़ी तेलंगाना के छूटे हुए सिरे को पकड़कर आगे विस्तार दे सकता था, पर ऐसा नहीं हो सका। कई रूपों में नक्सलबाड़ी के बाद, मा.ले. आन्दोलन की मुख्य धारा ने रणदिवे-कालीन "वामपन्थी" संकीर्णतावाद को ही और अधिक विकृत भोंड़े रूप

में दुहराया। मज़दूर आन्दोलन संशोधनवादी पाप की कीमत अतिवामपन्थी भटकाव के दण्ड के रूप में चुकाता है। लेनिन की इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए 17 वर्षों लम्बे संशोधनवादी दौर की प्रतिक्रिया नक्सलबाड़ी किसान उभार के दो वर्षों बाद "वामपन्थी" आतंकवाद के रूप में सामने आयी। लेकिन इन बातों को अहसास के गहरे धरातल पर जाकर समझने के लिए तेलंगाना किसान संघर्ष और उसके उत्तरवर्ती सत्रह वर्षों के पार्टी इतिहास की अति संक्षिप्त चर्चा यहाँ ज़रूरी है। नक्सलबाड़ी के ऐतिहासिक महत्त्व और उसकी ऐतिहासिक विफलता – इन दोनों को ही समझने के लिए यह चर्चा ज़रूरी है।

नक्सलबाड़ी स्वातन्त्र्योत्तर भारत के इतिहास के एक ऐसे दौर में हुआ जब नेहरू की पूँजीवादी नीतियों के समाजवादी मुखौटे की असलियत उजागर हो चुकी थी। महँगाई और बेरोज़गारी से त्रस्त आम लोग सड़कों पर उतर रहे थे। छात्र-युवा आन्दोलन, मज़दूर आन्दोलन और महँगाई-विरोधी जनान्दोलनों का अविराम क्रम जारी था। पूँजीवादी संसदीय राजनीति के दायरे के भीतर इस व्यापक मोहभंग और जनाक्रोश की अभिव्यक्ति 1967 के आम चुनावों के बाद, पहली बार देश के नौ राज्यों में गैरकांग्रेसी सरकारों के गठन के रूप में सामने आयी। लेकिन अहम बात यह थी कि 1947 के बाद के वर्षों में और तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रा-वायलार और नौसेना-विद्रोह के दिनों के बाद, पहली बार देशव्यापी स्तर पर जनसमुदाय में व्यवस्था-विरोधी भावनाएँ और क्रान्तिकारी परिवर्तन की आकांक्षाएँ उमड़-घुमड़ रही थीं जिन्हें दिशा और नेतृत्व देने वाली कोई क्रान्तिकारी शक्ति राजनीतिक रंगमंच पर मौजूद नहीं थी। स्मरणीय है कि यही वह समय था जब वियतनामी क्रान्ति अमेरिकी साम्राज्यवादी के विरुद्ध विजयोन्मुख थी और पूरी दुनिया में, यहाँ तक कि पश्चिमी देशों में भी छात्र-युवा, बुद्धिजीवी और मेहनतकश सड़कों पर उतरकर उसका समर्थन कर रहे थे। अफ्रीकी देशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष एक के बाद एक जीतें हासिल कर रहे थे और लातिन अमेरिका में भी सैनिक जुण्टाओं के विरुद्ध प्रतिरोध संघर्ष उफान पर थे। फ्रांस में छात्र आन्दोलन और अमेरिका में अश्वेतों, स्त्रियों और युवाओं के आन्दोलनों तथा युद्ध-विरोधी आन्दोलन का अविराम सिलसिला जारी था। सोवियत संशोधनवाद के विरुद्ध चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा चलायी गयी 'महान बहस' के बाद, 1966 से चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का तूफ़ान शुरू हो चुका था, जो न केवल पूरी दुनिया के मेहनतकशों और कम्युनिस्ट कतारों को संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष करने और क्रान्ति का मार्ग चुनने के लिए प्रेरित कर रहा था, बल्कि बड़े पैमाने पर युवाओं और बुद्धिजीवियों को भी माओ के विचारों और चीनी सांस्कृतिक क्रान्ति के युगान्तरकारी प्रयोग की ओर आकृष्ट कर रहा था। यह अन्तरराष्ट्रीय माहौल भारत की उन्नत चेतना वाली कम्युनिस्ट कतारों को और रैडिकल छात्रों-युवाओं-बुद्धिजीवियों को भी गहराई से प्रभावित और प्रेरित कर रहा था। इधर देश के भीतर, संशोधनवादी नेतृत्व से कम्युनिस्ट कतारों का मोहभंग निराशा से आगे बढ़कर आक्रोश और विद्रोह की भावना में परिणत होता जा रहा था। 1964 में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी में विभाजन के बाद नेतृत्व के एक हिस्से को संशोधनवादी घोषित करते हुए दूसरे हिस्से ने जब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) का गठन किया था तो रैडिकल कतारों का बहुलांश उसमें इस उम्मीद से शामिल हुआ था कि नयी पार्टी तेलंगाना की विरासत को आगे बढ़ाते हुए क्रान्तिकारी संघर्षों में उतरेगी, लेकिन जल्दी ही यह स्पष्ट होने लगा कि अपने तमाम भ्रामक रैडिकल तेवर के बावजूद माकपा का नेतृत्व भी अर्थवादी-संसदवादी सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए तैयार नहीं है। चीन की पार्टी द्वारा

ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष ('महान बहस') के दस्तावेज़ भारत के कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों को जब मिले (टूट के कगार पर खड़ी भाकपा के डांगेपन्थी धड़े ने ही नहीं बल्कि बासवपुनैया-सुन्दरैया-नम्बूदरीपाद-रणदिवे धड़े ने भी इस पॉलिमिक्स को कतारों तक पहुँचाने की कोई कोशिश नहीं की, और उन्हें तब तक अँधेरे में रखा जब तक कि ये दस्तावेज़ अलग स्रोतों से कतारों तक नहीं पहुँच गये) और फिर इस बहस से भारत की कम्युनिस्ट कतारों के अग्रिम तत्व परिचित हुए, तो यहाँ भी संशोधनवाद के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के लिए एक नयी दिशा मिली। 1966 में चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के शुरू होते ही वहाँ पार्टी के भीतर के बुर्जुआ हेडक्वार्टर को ध्वस्त करने के माओ के आह्वान ने भारतीय कम्युनिस्ट कतारों को भी नेतृत्व पर काबिज़ संशोधनवादियों के विरुद्ध खुली बग़ावत की प्रेरणा दी।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष किसी न किसी रूप में तेलंगाना किसान संघर्ष के समय से ही जारी था। इसमें नेतृत्व का एक पक्ष संशोधनवादी विचलन का शिकार था और दूसरा पक्ष जो कतारों की क्रान्तिकारी आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता था, वह भी विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण विसंगति, अनिर्णय और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट नेतृत्व और बड़ी पार्टियों पर मार्गदर्शन के लिए निर्भरता की प्रवृत्ति का शिकार था। इसके परिणामास्वरूप, यह दूसरा पक्ष भी 1950 का दशक शुरू होते-होते संशोधनवादी पंककुण्ड में जा गिरा और दोनों पक्षों के बीच मतभेद का मुद्दा सिर्फ़ यह रह गया कि राष्ट्रीय जनवाद के नारे के तहत नेहरू सरकार के प्रति सहयोग का रास्ता अपनाया जाये या लोक जनवाद के नारे के तहत मुख्यत: संसदीय विपक्ष की भूमिका निभाते हुए कुछ रैडिकल जनान्दोलन भी चलाये जायें।

तेलंगाना किसान संघर्ष कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चला पहला ऐसा सशस्त्र संघर्ष था जिसके परिणामस्वरूप 16000 वर्ग मील का क्षेत्र – जिसमें तीन हज़ार गाँव शामिल थे – मुक्त किया गया था और लगभग डेढ़ वर्षों तक इस क्षेत्र की सारी शासन-व्यवस्था किसानों की गाँव कमेटियों के हाथों में थी। कुल 4,000 किसान और पार्टी के छापामार इसमें शहीद हुए और दस हज़ार कम्युनिस्ट कार्यकर्ता तीन से चार वर्षों तक जेलों में बन्द रहे। इस दौरान कुल 30 लाख एकड़ ज़मीन किसानों में बाँटी गयी, बेदखली और बेगार प्रथा बन्द कर दी गयी और न्यूनतम मज़दूरी लागू कर दी गयी।

फरवरी-मार्च 1948 में जब भाकपा की दूसरी कांग्रेस में दक्षिणपन्थी पी.सी. जोशी को हटाकर बी.टी. रणदिवे को पार्टी महासचिव बनाया गया, उस समय तेलंगाना किसान संघर्ष सशस्त्र छापामार संघर्ष की मंज़िल तक पहुँच चुका था। ग़ौरतलब है तेलंगाना के प्रतिनिधियों के ज़ोर देने के बाद ही दूसरी कांग्रेस की थीसिस में तेलंगाना संघर्ष के महत्त्व का उल्लेख करते हुए उसे समर्थन दिया गया और पूरे देश में ऐसे संघर्ष संगठित करने तथा मज़दूर वर्ग से भी उनके समर्थन में आन्दोलन करने का आह्वान किया गया। लेकिन इस आह्वान के पीछे "वामपन्थी" अवसरवादी रणदिवे की यह सोच थी कि इससे पूरे देश में सशस्त्र आम विद्रोह की स्थिति पैदा हो जायेगी। रणदिवे ने युगोस्लाविया की टीटोपन्थी संशोधनवादी पार्टी के एक सिद्धान्तकार एडवर्ड कार्डेल्ज़ के विचार के आधार पर यह थीसिस पेश की कि जनवादी और समाजवादी क्रान्तियाँ एक साथ होनी चाहिए, और कम्युनिस्टों को न केवल बड़े बुर्जुआ को बल्कि सभी बुर्जुआओं को अपने हमले का निशाना बनाते हुए देशव्यापी आम हड़ताल और

सशस्त्र विद्रोह का मार्ग अपनाना चाहिए। इस "वामपन्थी" दुस्साहसवाद ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को जो क्षति पहुँचायी, वह इतिहास का एक तथ्य है। साथ ही, इस लाइन ने तेलंगाना संघर्ष के अग्रवर्ती विकास को भी रोकने का काम किया। मई, 1948 में आन्ध्र की पार्टी इकाई ने रणदिवे थीसिस का विरोध करते हुए अपनी यह लाइन रखी कि भारतीय क्रान्ति का चरित्र रूसी क्रान्ति से भिन्न है और यह चीन में जारी नवजनवादी क्रान्ति से काफ़ी हद तक समानता रखती है, यहाँ चार वर्गों का संयुक्त मोर्चा बनाना होगा ओर दीर्घकालिक लोकयुद्ध का मार्ग अपनाना होगा। आन्ध्र थीसिस में माओ त्से-तुङ के नवजनवाद के सिद्धान्त को प्रासंगिक बताते हुए भारत में सर्वहारा क्रान्ति को दो अवस्थाओं में सम्पन्न करने की योजना प्रस्तुत की गयी। रणदिवे ने इस थीसिस का विरोध करते हुए माओ के विचारों का भी विरोध किया और उन्हें टीटो और अल-ब्राउडर की श्रेणी का संशोधनवादी तक कह डाला। दो वर्षों तक पार्टी पर रणदिवे-लाइन के वर्चस्व ने तेलंगाना संघर्ष को भारी क्षति पहुँचाई। देश के विभिन्न हिस्सों में किसान संघर्षों को तेलंगाना की राह पर आगे बढ़ाने और मज़दूर वर्ग के संघर्षों को उनके साथ जोड़ने के बजाय "वामपन्थी" दुस्साहसवाद ने पार्टी को जन समुदाय से अलग-थलग कर दिया और कतारों की पहलकदमी को पंगु बना दिया गया। 1949 में चीनी क्रान्ति के बाद, 1950 में कोमिन्फॉर्म ने माओ के नवजनवाद के सिद्धान्त का समर्थन किया। सोवियत पार्टी के एक सिद्धान्तकार जुकोव ने उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में चार वर्गों के संश्रय को अनिवार्य बताया और दूसरे सिद्धान्तकार बालाबुशेविच ने तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष का समर्थन करते हुए उसे कृषि क्रान्ति का अग्रदूत और भारतीय जनता की लोक जनवादी सत्ता स्थापित करने का प्रथम प्रयास बताया। अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व से नयी दिशा मिलते ही भारत में भी रणदिवे की "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन रातोंरात अलग-थलग पड़ गयी। मई-जून 1950 में राजेश्वर राव पार्टी के महासचिव बने और पार्टी ने आन्ध्र-थीसिस को आधिकारिक लाइन के तौर पर स्वीकार किया। लेकिन इस समय तक, पहले ही काफ़ी देर हो चुकी थी। देशव्यापी स्तर पर संघर्ष के विस्तार की सम्भावनाओं का, ग़लत लाइन काफ़ी हद तक गला घोंट चुकी थी और नयी बुर्जुआ सत्ता को अपने सुदृढ़ीकरण के लिए तीन वर्षों का कीमती समय मिल चुका था। चूँकि "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन की पराजय पूरी पार्टी में चले दो लाइनों के अन्दरूनी संघर्ष की परिणति नहीं थी बल्कि कोमिन्फॉर्म और सोवियत पार्टी की अवस्थिति के हिसाब से चलने की प्रवृत्ति का नतीजा थी, इसलिए पार्टी कतारें सही-ग़लत के बारे में विभ्रमग्रस्त थीं। विभ्रम का यह सिलसिला पहले से ही चल रहा था और 1947 से तो लगातार जारी था। राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं के प्रति ग़लत अवस्थिति अपनाने और फिर उन्हें आनन-फानन में उलट देने तथा पार्टी नेतृत्व में लगातार दो छोरों की विरोधी लाइनों की मौजूदगी के चलते कतारें निराश हो रही थीं। इसी समय भारतीय सेना ने हैदराबाद में प्रवेश किया। निज़ाम के आत्मसमर्पण के बाद, भारतीय सेना ने कम्युनिस्ट छापामार दस्तों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। छोटे-छोटे छापामार दस्तों में बँटी जनता की सशस्त्र सेना का सामना अब उन्नत हथियारों से लैस 50-60 हज़ार संख्या वाली सेना से था। फिर भी बहुत कठिनाइयों और अभूतपूर्व दमन के बाद ही भारतीय सेना छापामार दस्तों को पीछे धकेल सकी। मलाया सरकार की ब्रिग्स योजना की ही तरह ऐसे गाँव बसाये गये जहाँ के निवासियों को सेना के नियन्त्रण में रहना था। जंगलों की दो हज़ार आदिवासी बस्तियों को नेस्तनाबूद कर दिया गया और लोगों को यातना शिविरों में रखा गया। छापामार गाँवों को छोड़कर निकटवर्ती जंगलों में चले गये

और वहाँ भी सेना का दबाव बढ़ने पर दूरवर्ती जंगली क्षेत्रों में बिखर गये।

उल्लेखनीय है कि पार्टी के बम्बई मुख्यालय में हावी एस.ए.डांगे, घाटे और अजय घोष आदि का दक्षिणपन्थी धड़ा शुरू से ही आन्ध्र लाइन का विरोध कर रहा था। तेलंगाना में सेना-प्रवेश के बाद वहाँ भी रवि नारायण रेड्डी के नेतृत्व में कुछ लोग संघर्ष को वापस लेने के लिए दबाव बनाने लगे, हालाँकि आन्ध्र कमेटी का बड़ा हिस्सा फिर भी संग्राम को जारी रखना चाहता था। उसका मानना था कि फ़ौरी तौर पर नुकसान के बावजूद, संघर्ष को जारी रखना और देश के अन्य अनुकूल परिस्थितियों वाले भूभागों में उसका फैलाव मुमकिन है। इस समय दक्षिणपन्थी धड़े का हाथ मज़बूत करने में ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी और उसके एक नेता रजनी पामदत्त ने विशेष भूमिका निभाई। दत्त का मानना था कि शीतयुद्ध की नयी विश्वपरिस्थितियों में भारत के कम्युनिस्टों को सशस्त्र संघर्ष के रास्ते को छोड़कर विश्व शान्ति आन्दोलन को मज़बूत बनाने का काम करना चाहिए और साम्राज्यवादी शिविर से भारत सरकार के दूर रहने और समाजवादी खेमे से नज़दीकी रिश्ता बनाने तथा कोरियाई जनयुद्ध का समर्थन करने के लिए नेहरू सरकार पर दबाव बनाना चाहिए। इसी विचार का विकसित रूप आगे चलकर भाकपा के दक्षिणपन्थी धड़े के राष्ट्रीय जनवादी मोर्चा की सोच और "प्रगतिशील" बुर्जुआ नेहरू सरकार के प्रति सहयोग-समर्थन की नीति के रूप में सामने आया। पार्टी के संशोधनवादियों ने आधिभौतिक निगमनात्मक पद्धति से अन्तरराष्ट्रीय अन्तरविरोधों के ही अनुसार राष्ट्रीय अन्तरविरोधों को भी देखने तथा दोनों में विरोध होने पर अन्तरराष्ट्रीय अन्तरविरोधों के हिसाब से अपना कार्यभार तय करने का काम एक बार फिर किया। यह ग़लती द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भी की गयी थी और उसके पहले भी की जाती रही थी। ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीतिक समिति ने भारतीय पार्टी को लिखे गये एक पत्र में अपने उपरोक्त सुझावों के साथ ही क़ानूनी कामों में लगने तथा डेढ़ वर्षों बाद होने वाले आगामी आम चुनाव पर ज़ोर दिया और साथ ही नेतृत्व को बदलने की भी राय दी क्योंकि राजेश्वर राव के नेतृत्व वाली केन्द्रीय कमेटी जनवादी तरीके से नहीं चुनी गयी थी। इन परिस्थितियों ने पार्टी में दक्षिणपन्थी नेतृत्व के हाथ मज़बूत करने का काम किया। 1 जुलाई, 1950 को राजेश्वर राव की जगह अजय घोष पार्टी के महासचिव बनाये गये।

पार्टी में मौजूद मतभेद, संकट और विभ्रम की स्थिति को दूर करने के लिए, एक बार फिर अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व पर भरोसा किया गया और चार सदस्यों का एक प्रतिनिधिमण्डल 1951 के प्रारम्भ में सोवियत पार्टी के नेतृत्व से बातचीत करने के लिए मास्को गया। इसमें दो – राजेश्वर राव और बासवपुनैया तेलंगाना संघर्ष के नेता थे, जबकि अन्य दो – अजय घोष और डांगे उसका विरोध कर रहे थे। सोवियत पार्टी की ओर से स्तालिन, मालेंकोव, मालरोव और सुस्लोव ने बातचीत की। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, इस बातचीत के बाद भारतीय प्रतिनिधिमण्डल भारत लौटा तो पहली बार भारत में जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम का एक मसौदा तैयार किया गया और एक नीति-विषयक वक्तव्य जारी किया गया। नीति-विषयक वक्तव्य रणकौशलात्मक लाइन के वृहद दस्तावेज़ का ही एक अंश था जिसे क़ानूनी तौर पर प्रकाशित किया गया। उपरोक्त दोनों दस्तावेज़ों में हालाँकि सशस्त्र संघर्ष का जिक्र नहीं था लेकिन रणकौशल-विषयक दस्तावेज़ में "अपरिपक्व विद्रोह और जोखिम भरी कार्रवाइयों से सावधान रहते हुए" किसानों के छापामार युद्ध के साथ ही मज़दूरों की वर्गीय हड़तालों और संघर्ष के अन्य रूपों के इस्तेमाल की बात कही गयी थी। उसमें इस धारणा को भी ग़लत

ठहराया गया था कि देश के किसी हिस्से में सशस्त्र विद्रोह तभी शुरू किया जा सकता है, जब पूरे देश में विद्रोह की स्थिति तैयार हो। दस्तावेज़ के अनुसार, किसी एक बड़े भूभाग में किसान संघर्ष के ज़मीन-ज़ब्ती के स्तर पर पहुँचने के बाद, व्यापक जनान्दोलन और छापामार युद्ध यदि ठीक तरह से संगठित हों तो देश भर के किसानों को उद्वेलित करके संघर्ष को उच्च धरातल पर पहुँचा देना सम्भव है।

किसान-संघर्ष के बारे में सोवियत पार्टी के आम सुझाव सही थे, पर तेलंगाना संघर्ष के बारे में ठोस निर्णय भारतीय पार्टी के नेतृत्व को लेना था, जिस पर दक्षिणपन्थी अवसरवादी हावी हो चुके थे। केन्द्रीय कमेटी ने आन्ध्र की कमेटी को संघर्ष केवल तब तक जारी रखने को कहा जब तक पार्टी सरकार से उसे स्थगित करने की शर्तों पर बातचीत पूरी न कर ले। इन शर्तों में किसानों के क़ब्ज़े की ज़मीन ज़मीन्दारों को वापस न करना, कैदियों की रिहाई, मुकदमे वापस लेना और पार्टी से प्रतिबन्ध हटाना प्रमुख थीं। लेकिन केन्द्रीय कमेटी के इस निर्णय के विपरीत अजय घोष के नेतृत्व वाले दक्षिणपन्थी धड़े और आन्ध्र के रवि नारायण रेड्डी गुट ने बिना शर्त संघर्ष वापसी के लिए दबाव बनाना शुरू किया। पार्टी की इस स्थिति का लाभ उठाकर नेहरू सरकार ने किसी भी शर्त को मानने और बातचीत करने से इन्कार कर दिया। मई, 1951 तक केन्द्रीय कमेटी में आन्ध्र के सदस्य भी मान चुके थे कि अब आंशिक छापामार संघर्ष भी जारी रख पाना सम्भव नहीं है। अक्टूबर, 1951 में पार्टी ने बिना किसी शर्त, निहायत घुटनाटेकू ढंग से संघर्ष वापस लेने की घोषणा कर दी। जंगल के छापामार नेताओं को इसकी ख़बर बाद में लगी। पार्टी अब पूरी तरह से संसदीय राह पर चल पड़ी। दक्षिणपन्थी धड़े के सामने उसके विरोधियों ने आत्मसमर्पण कर दिया और कतारों में भारी पस्ती का माहौल फैल गया।

आज पश्चदृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि तेलंगाना संघष की तत्कालीन पराजय कई कारणों से उस समय लगभग तय हो चुकी थी। इसका सर्वोपरि कारण यह था कि पार्टी बोल्शेविक ढंग से एकीकृत नहीं थी और उसमें ऊपर से नीचे तक "वाम" और दक्षिण के धड़े मौजूद थे, इसलिए वह भारतीय क्रान्ति को नेतृत्व देने में अक्षम थी। 1946 से 1951 के बीच पहले पी.सी. जोशी काल के दक्षिणपन्थी भटकाव ने, फिर रणदिवे काल के "वामपन्थी" भटकाव ने और फिर अजय घोष काल के दक्षिणपन्थी भटकाव ने पूरे देश स्तर पर और तेलंगाना के स्तर पर पार्टी के कार्यों को काफ़ी नुकसान पहुँचाया था। यह एक ऐसा संक्रमण-काल था, जब नयी सत्ता के सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई थीं लेकिन नौसेना-विद्रोह, तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रा वायलार के किसान संघर्षों और देशव्यापी मज़दूर आन्दोलनों को एक कड़ी में पिरोकर जनक्रान्ति की धारा को आगे बढ़ाने में पार्टी-नेतृत्व नाकाम रहा। यदि यह प्रक्रिया आगे बढ़ती तो कांग्रेस की समझौतापरस्ती का पहलू और नंगा होकर सामने आता और पार्टी के नेतृत्व में यदि जनवादी क्रान्ति जल्दी पूरी नहीं भी होती तो या तो दीर्घकालिक लोकयुद्ध मज़बूत आधार पर, आगे की मंज़िलों में प्रविष्ट हो गया होता या जनसंघर्षों के दबाव में नेहरू सरकार भूमि क्रान्ति के कार्यभारों को हालाँकि प्रशियाई मार्ग से ही सही और ऊपर से ही सही लेकिन तेज़ी के साथ पूरा करने को विवश हो जाती और तेज़ पूँजीवादी विकास के साथ भारत जल्दी ही समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रविष्ट हो जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। 1951 तक, पार्टी-नेतृत्व में मतभेद के चलते तेलंगाना संघर्ष को इतना नुकसान पहुँच चुका था कि कम से कम, फौरी तौर पर

उसकी पराजय सुनिश्चित हो चुकी थी। फिर भी, उस समय यदि नेतृत्व पर दक्षिणपन्थी धड़ा काबिज़ नहीं होता और पूरी तरह से आत्मसमर्पण करने की बजाय, फौरी तौर पर पीछे हटने और अपनी सैन्य शक्ति को दुर्गम जंगल क्षेत्रों में बिखरा देने के बाद, नये सिरे से उस क्षेत्र में तथा देश के अन्य ऐसे भूभागों में किसान-संघर्ष संगठित किये जाते, तो स्थिति को सँभालकर फिर से आगे बढ़ने का अवसर मिल जाता। इस तथ्य की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि राजेश्वर राव के नेतृत्व में जिस धड़े ने तेलंगाना में सही लाइन ली थी, वह भी विचारधारात्मक रूप से कमज़ोर था। इसके चलते, कुछ समय तक केन्द्रीय कमेटी में प्रभावी होने के दौर में भी वह अपनी लाइन का देशव्यापी स्तर पर सुदृढ़ीकरण नहीं कर सका, विरोधी लाइन के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के बजाय उसने समझौता करने का रुख़ अपनाया और अन्ततः घुटने टेक दिये। इस बुनियादी तथ्य की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि 1951 तक भारत की पार्टी के पास न तो जनवादी क्रान्ति का कोई सुसंगत कार्यक्रम था, न ही कोई भूमि-क्रान्ति का कार्यक्रम (एग्रेरियन प्रोग्राम)। 1951 में सोवियत पार्टी की राय से, जब कार्यक्रम और रणकौशलात्मक लाइन के दस्तावेज़ तैयार हुए तब तक नेतृत्व पर दक्षिणपन्थी काबिज़ हो चुके थे, पार्टी संशोधनवाद की राह पर आगे बढ़ चुकी थी और तेलंगाना संघर्ष की पराजय तय हो चुकी थी। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चीनी क्रान्ति जैसे दीर्घकालिक लोकयुद्ध के मार्ग का पक्षधर धड़ा, अपनी सही अवस्थिति के बावजूद, यदि स्थितियाँ उसके अनुकूल होतीं, तब भी संघर्ष को किस हद तक आगे ले जा पाता, यह संदिग्ध है, क्योंकि विचारधारात्मक रूप से यह धड़ा भी काफ़ी अपरिपक्व था और भारतीय परिस्थितियाँ हूबहू चीन जैसी नहीं थी। क्रान्ति पूर्व अर्द्धऔपनिवेशिक चीन एक प्राक्औपनिवेशिक मंज़िल में था, जबकि 1947 के बाद का भारत विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हो पाने के बावजूद एक उत्तर औपनिवेशिक समाज था, जिसकी एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता थी, जो एक ऐसे औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के हाथों में थी, जो चीन जैसा दलाल पूँजीपति वर्ग नहीं था। अपनी इस प्रकृति के चलते आगे चलकर राष्ट्रीय बाज़ार के निर्माण के लिए, प्रशियाई मार्ग से सामन्ती भूमि-सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण का मार्ग अपनाना और साम्राज्यवादियों का कनिष्ठ साझीदार होते हुए भी अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर अपने आर्थिक विकल्पों का विस्तार करना इसके लिए अपरिहार्य था। भारतीय पूँजीपति वर्ग के इस चरित्र की ओर सबसे पहले इतिहासकार डी.डी. कोसम्बी ने इंगित किया था। इस मायने में 1951 का कार्यक्रम वर्ग-सम्बन्धों की दृष्टि से तत्कालीन समय में क्रान्ति की मंज़िल और मार्ग का तो ठीक निर्धारण कर रहा था लेकिन भारतीय पूँजीपति वर्ग और राज्यसत्ता के चरित्र के मूल्यांकन में सटीकता और स्पष्टता की कमी के चलते वह भारतीय समाज के विकास की दिशा के बारे में कुछ नहीं कहता था। वह इस बात को स्पष्ट नहीं करता था कि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति यदि सम्पन्न नहीं होती, तो भारतीय पूँजीपति वर्ग ग़ैरक्रान्तिकारी रास्ते से, ऊपर से क्रमशः भूमि सम्बन्धों को बदलने का काम करता ही, क्योंकि यह उसके वर्गहित का तक़ाज़ा था। वह इस बात को भी स्पष्ट नहीं करता था कि एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता और सापेक्षतः अधिक पूँजीवादी विकास के कारण, 1947-51 के दौरान राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंज़िल होते हुए भी, दीर्घकालिक लोकयुद्ध के चीनी रास्ते को हूबहू यहाँ लागू कर पाना सम्भव नहीं था। उस समय चीनी पार्टी ने भी आगाह किया था कि हर

उपनिवेश-अर्द्धउपनिवेश-नवउपनिवेश में छापामार किसान संघर्ष के चीनी अनुभव को आँख मूँदकर दुहराया नहीं जा सकता। इन जटिल, तरल संक्रमणकालीन स्थितियों में, यदि सब कुछ तेलंगाना में सही लाइन लागू करने वाले धड़े के अनुकूल होता, तो भी यह कह पाना मुश्किल है कि अपनी विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण, वह संघर्ष को कहाँ तक आगे ले जा पाता और चीनी क्रान्ति के मार्ग के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति से बच पाता भी या नहीं। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के उत्तरवर्ती दौर का इतिहास तो यही बताता है कि ऐसा बहुत मुश्किल होता।

बहरहाल, इतिहास में जो घटित हुआ, वह यह कि पार्टी 1951 में ही शान्तिपूर्ण संविधानवाद का रास्ता अपना चुकी थी और मुख्यत: और मूलत: मेंशेविक और काउत्स्कीपन्थी यूरोपीय पार्टियों के साँचे में ढल चुकी थी। 1951 से लेकर 1962-63 तक इसमें दो लाइनों का संघर्ष वस्तुत: संसदवाद-अर्थवाद की नरम धारा और रैडिकल धारा के बीच संघर्ष के रूप में ही मौजूद रहा। कतारों का बड़ा हिस्सा क्रान्तिकारी आकांक्षाओं और चरित्र वाला था। (हालाँकि सुधारवादी तत्वों की नयी भरती लगातार जारी थी), लेकिन अपनी विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण वह नेतृत्व के रैडिकल संशोधनवादी धड़े को ही क्रान्तिकारी मानता था। जो नरमपन्थी उदारवादी धड़ा था, उसका नेतृत्व डांगे, मोहित सेन, भवानी सेन, भूपेश गुप्त, दामोदरन, जी. अधिकारी आदि के हाथों में था और मध्यमार्गी अजय घोष भी मूलत: उन्हीं के साथ थे। दूसरे धड़े का नेतृत्व सुन्दरैया, गोपालन, बासवपुनैया, प्रमोद दासगुप्ता आदि के हाथों में था। पहले धड़े की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की थीसिस यह थी कि नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस में मौजूद धड़ा प्रगतिशील राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की थीसिस यह थी कि नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस में मौजूद धड़ा प्रगतिशील राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधि है और नेहरू सरकार विऔपनिवेशीकरण और भूमि-सुधारों के राष्ट्रीय जनवादी कार्यभारों को अंजाम दे रही है, इसलिए भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को उसके प्रति मुख्यत: सहयोग का रुख अपनाना चाहिए। साथ ही, यह सरकार समाजवादी शिविर के प्रति भी दोस्ताना रुख़ रखती है। इसे मज़बूत बनाने के लिए और साथ ही विश्व शान्ति आन्दोलन को मज़बूत बनाकर शीतयुद्ध का प्रतिकार करने के लिए नेहरू सरकार के प्रति सहयोगी रुख़ अपनाना ज़रूरी है। दूसरी ओर रैडिकल संशोधनवादी धड़े का यह मानना था कि भारत में राज्यसत्ता का बड़ा साझीदार बड़ा पूँजीपति वर्ग है जो साम्राज्यवाद के साथ समझौते कर रहा है और राष्ट्रीय जनवादी कार्यभारों को कत्तई पूरा नहीं करना चाहता। इसके विरुद्ध चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय के आधार पर लोक जनवादी क्रान्ति के लिए संघर्ष करना होगा, जिसका केन्द्रीय तत्व भूमि क्रान्ति होगा। ऊपरी तौर पर देखने पर यह कार्यक्रम क्रान्तिकारी लगता था, लेकिन वास्तविकता यह थी कि क्रान्तिकारी किसान संघर्ष को पुनस्संगठित करके तेलंगाना किसान-संघर्ष की परम्परा को आगे बढ़ाने की कोई ठोस कार्य-योजना इसके वाहक धड़े ने कभी प्रस्तुत नहीं की। जगह-जगह भूमिहीनों के बीच ग़ैरमजरुआ, पंचायती व सीलिंग से निकली ज़मीन बाँटने, सरकार पर भूमि-सुधारों की गति तेज़ करने के लिए दबाव बनाने, न्यूनतम मज़दूरी जैसी माँगों पर संघर्ष करने, संसद में नेहरू की नीतियों के ख़िलाफ़ रैडिकल भाषण देने और औद्योगिक मज़दूरों की बोनस, वेतनवृद्धि व अन्य सुविधाओं को लेकर आन्दोलन संगठित करने के अतिरिक्त लोक जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम देने वाले धड़े ने और कुछ भी नहीं किया। यहाँ यह उल्लेख भी कर दिया जाना चाहिए कि 1955-56 के दौरान अजय घोष, नम्बूदिरिपाद, डांगे, जगन्नाथ

सरकार, बालकृष्ण मेनन आदि कुछ लोग इस तरीके की बात कर रहे थे कि भारतीय सत्तारूढ़ बुर्जुआ भी बिस्मार्ककालीन प्रशा की तरह, ऊपर से, भूस्वामित्व ढाँचे का क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण कर रहा है, लेकिन फिर वे इस मसले पर कायराना और अवसरवादी ढंग से चुप्पी साध गये। यूँ तो एक संशोधनवादी पार्टी के लिए कार्यक्रम के सही-ग़लत होने का कोई मतलब नहीं होता, लेकिन यह ज़रूर है कि भूमि सम्बन्धों के रूपान्तरण से जुड़े पक्षों पर उस समय यदि बहस चली होती तो नक्सलबाड़ी के बाद, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच भी यह मुद्दा बहस के एजेण्डे पर आसानी से आ जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। कहा जा सकता है कि पहला धड़ा जहाँ एकदम सामाजिक जनवादी आचरण करते हुए पार्टी को बुर्जुआ वर्ग की गोद में बैठा देना चाहता था, वहीं दूसरा धड़ा रैडिकल अर्थवादी-ट्रेडयूनियनवादी-संसदवादी विरोध की कार्रवाइयाँ चलाते हुए एक ज़िम्मेदार संसदीय विपक्ष, व्यवस्था के भीतर सक्रिय एक 'प्रेशर ब्लॉक' और व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा-पंक्ति की भूमिका निभाना चाहता था। लेकिन इस धड़े के संशोधनवादी चरित्र को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि संसदीय और आर्थिक संघर्षों के अतिरिक्त इसने 1951 से 1964 तक किसानों के क्रान्तिकारी भूमि संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए तथा मज़दूर वर्ग के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार एवं राजनीतिक संघर्ष संगठित करने के लिए कुछ भी नहीं किया। पूरी पार्टी के क़ानूनी बना दिये जाने और चवन्नियाँ सदस्यता सहित सभी मेंशेविक ढंग-ढर्रों को अपना लेने पर इस धड़े ने कभी कोई सवाल नहीं उठाया। 1958 में हुई पार्टी की पाँचवीं (विशेष) कांग्रेस (अमृतसर) में जब सोवियत पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में स्वीकृत ख्रुश्चेवी संशोधनवादी नीतियों को अपनाया गया और पार्टी संविधान की प्रस्तावना से 'क्रान्तिकारी हिंसा' शब्दावली को हटा दिया गया तो एक भी प्रतिनिधि ने इसका विरोध नहीं किया। नक्सलबाड़ी किसान-उभार से जन्मी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा के भी नेतृत्व की विचारधारात्मक कमज़ोरी को समझने के लिए यहीं पर यह उल्लेख भी ज़रूरी है कि इस कांग्रेस में भावी मा-ले नेतृत्व के कई लोग भी प्रतिनिधि के रूप में मौजूद थे। उनमें डी.वी. राव (केन्द्रीय कमेटी के सदस्य भी थे) और नागी रेड्डी तो राष्ट्रीय स्तर के नेता माने जाते थे जबकि कई अन्य राज्य स्तर के नेता थे। छठी कांग्रेस (विजयवाड़ा, 1961) में दो परस्पर-विरोधी कार्यक्रम के मसौदों पर अवश्य गम्भीर मतभेद सामने आया, लेकिन सोवियत प्रतिनिधिमण्डल के ख्रुश्चेवपन्थियों के बीच-बचाव से फूट को टाल दिया गया। उल्लेखनीय है कि 1956-61 के दौरान ख्रुश्चेवी संशोधनवाद का विरोध परोक्ष रूप से करते हुए चीन की पार्टी स्तालिन और सर्वहारा क्रान्ति के मार्क्सवादी-लेनिनवादी उसूलों के पक्ष में सकारात्मक तौर पर अपने मुखपत्रों में लिख रही थी, लेकिन संशोधनवाद पर खुला हमला बोलने की जगह वह पार्टी-स्तर पर बातचीत के ज़रिये मतभेदों को हल करने की कोशिश कर रही थी। उसे उम्मीद थी कि पूरी सोवियत पार्टी शायद ख्रुश्चेव के साथ न हो और बातचीत करके सोवियत पार्टी को सही रास्ते पर लाया जा सकता है तथा विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन को फूट से बचाया जा सकता है। इसी प्रक्रिया में 1957 और 1960 के अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट सम्मेलनों द्वारा पारित दस्तावेज़ों में चीन की पार्टी ने अपनी अवस्थिति दर्ज़ कराने के बावजूद समझौते भी किये। इन विचारधारात्मक समझौतों के चलते इन दस्तावेज़ों में कई संशोधनवादी प्रस्थापनाएँ शामिल हो गयी थीं, जिनका पूरा लाभ पूरी दुनिया की पार्टियों के संशोधनवादियों ने उठाया। चीन की पार्टी की उम्मीदों का इतिहास के अनुभव समर्थन नहीं करते थे और उसका आचरण सुधारवाद और संशोधनवाद के विरुद्ध तत्क्षण संघर्ष छेड़ देने के

मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के आचरण से मेल नहीं खाता था। संशोधनवाद के विरुद्ध खुले संघर्ष में चीन की पार्टी द्वारा किये गये अनावश्यक विलम्ब से पूरी दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलन में संशोधनवादियों को लाभ मिला। कतारों को दिग्भ्रमित करने और अपना सुदृढ़ीकरण करने में उन्होंने इस अन्तराल का भरपूर लाभ उठाया। भारत के कम्युनिस्ट नेतृत्व को तो दुनिया की किसी बड़ी पार्टी या मान्य अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व से दिशा पाये बिना सोचने की आदत ही नहीं थी। ऐसे में, पाँचवीं और छठी कांग्रेस में ख्रुश्चेवी संशोधनवाद पर सवाल उठाने का भला सवाल ही कहाँ उठता है? कतारों की क्रान्तिकारी स्पिरिट भी 1951 के बाद से लगातार क्षरित हो रही थी। अब स्तालिन की आलोचना और संसदीय मार्ग की स्वीकृति ने उनमें और अधिक पस्ती और निराशा पैदा करने का काम किया।

1962 में भारत के चीन युद्ध के समय डांगेपन्थी धड़े ने अपनी वर्ग-सहयोगी लाइन की तार्किक परिणति के तौर पर अन्धराष्ट्रवादी अवस्थिति अपनायी और चीन को हमलावर मानते हुए नेहरू सरकार की सीमानीति को पुरज़ोर समर्थन दिया। उस समय चीन पश्चिमी शक्तियों की घेरेबन्दी और कुत्साप्रचार के घटाटोप का शिकार था, फिर भी पश्चिमी मीडिया और पश्चिमी बुद्धिजीवियों का बहुलांश भारत-चीन सीमा विवाद में अमेरिका व अन्य पश्मिची देशों की शह और अपनी क्षेत्रीय विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा के चलते उकसावे और हमले की कार्रवाई के लिए भारत को ही ज़िम्मेदार मानता था। कई पुस्तकों में इन तथ्यों की सविस्तार चर्चा मिलती है जिसमें अमेरिकी पत्रकार नेविल मैक्सवेल की पुस्तक सर्वाधिक प्रसिद्ध है। भारत में भी पुराने क्रान्तिकारी पं. सुन्दरलाल सहित कई लोग नेहरू की विस्तारवादी नीतियों और हमले की कार्रवाई के कटु आलोचक थे और तथ्यों को सामने लाने वाली कई पुस्तकें व लेख यहाँ भी लिखे गये लेकिन अन्धराष्ट्रवादी प्रचार की लहर में वे व्यापक जनता तक नहीं पहुँच सके। भारत की कम्युनिस्ट कतारें सीमा-विवाद सम्बन्धी इस सारी सामग्री से परिचित नहीं थीं, लेकिन अपने सहज वर्ग-बोध से समाजवादी चीन को विस्तारवादी और हमलावर मानने को वे तैयार नहीं थी और भारतीय बुर्जुआ सत्ता के प्रतिक्रियावादी तथा विस्तारवादी चरित्र को भी वे भली-भाँति समझती थीं। भारी अन्धराष्ट्रवादी लहर का मुक़ाबला करते हुए भारत की कम्युनिस्ट कतारों के बड़े हिस्से ने नेहरू सरकार की हमलावर विस्तारवादी सीमा-नीति का विरोध किया। पार्टी-नेतृत्व के भीतर डांगेपन्थियों का विरोधी जो दूसरा धड़ा था (जो कि अल्पमत में था), उसने डांगेपन्थियों के बहुमत द्वारा ली गयी लाइन को मार्क्सवाद-विरोधी और बुर्जुआ राष्ट्रवाद के अवसरवादी सिद्धान्त पर आधारित घोषित किया। लेकिन आने वाले समय की घटनाओं ने सिद्ध किया कि ऐसा सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के प्रति प्रतिबद्धता के चलते नहीं, बल्कि क्रान्तिकारी कतारों को अपने पक्ष में करने के लिए किया गया था। चीनी "हमले" के मिथक के पीछे की सच्चाइयों को साहसपूर्वक उजागर करने और अन्धराष्ट्रवाद-विरोधी प्रचार का कोई कार्यक्रम हाथ में लेने के बजाय, इस दूसरे धड़े की ओर से राममूर्ति ने पार्टी की राष्ट्रीय परिषद में एक वैकल्पिक प्रस्ताव पेश किया जिसमें सिर्फ़ इतना ही कहा गया था कि चीन और भारत दो महान पड़ोसी देश हैं, उन्हें आपसी युद्ध में नहीं उलझना चाहिए क्योंकि इससे दोनों देशों को तबाही-बर्बादी का सामना करना पड़ेगा। लेकिन इस कायराना जोड़तोड़ के बावजूद वे बच नहीं सके। भारत सरकार ने उनमें से अधिकांश को, डांगे द्वारा दी गयी सूची के आधार पर, गिरफ़्तार करके जेल भेज दिया।

1963 के उत्तरार्द्ध से, 'क्रान्ति या शान्तिपूर्ण संक्रमण?' के बुनियादी विचारधारात्मक प्रश्न पर, भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में शायद पहली बार अभूतपूर्व आयामों वाली एक ऐसी बहस की शुरुआत हुई जिसने समूची पार्टी कतारों को अपनी ज़द में ले लिया। 1957 से 1962 के बीच सोवियत पार्टी और चीनी पार्टी का जो भी साहित्य भारत की कम्युनिस्ट कतारों के एक हिस्से तक पहुँच पा रहा था, उससे यह बात तो स्पष्ट हो ही चुकी थी कि चीन की पार्टी न केवल तोग्लियाती और टीटो के संशोधनवाद का विरोध करती है, बल्कि वह ख्रुश्चेव के तीन "शान्तिपूर्णों" के सिद्धान्त और उसके द्वारा प्रस्तुत स्तालिन की आलोचना को भी स्वीकार नहीं करती है। लेकिन पूरे देश की व्यापक कतारों तक सोवियत लेखन की ही पहुँच थी। चीनी पार्टी का साहित्य ज़्यादातर कुछ महानगरों के मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों और प्रबुद्ध कतारों तक ही पहुँच पाता था। पार्टी नेतृत्व अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के बीच जारी मतभेदों से परिचित था, लेकिन उसके दूसरे धड़े ने भी कभी चीनी पार्टी की अवस्थिति को कतारों तक पहुँचाने की कोई कोशिश नहीं की। जून, 1963 में चीनी पार्टी ने पहली बार बहस को खुला करते हुए ख्रुश्चेवी लाइन के विरुद्ध विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन की वैकल्पिक आम दिशा का दस्तावेज़ प्रस्तुत किया। इसके बाद सितम्बर 1963 से लेकर जुलाई 1964 के बीच क्रमशः नौ निबन्धों के ज़रिये चीनी पार्टी ने ख्रुश्चेवी नकली कम्युनिज़्म को पूरी तरह बेनक़ाब करते हुए सोवियत पार्टी को पूँजीवादी रास्ते का राही घोषित किया। यही बहस अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में 'महान बहस' नाम से प्रसिद्ध हुई। उस समय आधिकारिक पार्टी-लाइन का विरोध करने वाले धड़े का बड़ा हिस्सा जेल में था। जो लोग बाहर थे, उन्होंने 'महान बहस' के दस्तावेज़ों को पार्टी-कतारों तक पहुँचाने के लिए कुछ भी नहीं किया। ये दस्तावेज़ मुख्यतः बुद्धिजीवियों के बीच से पार्टी कतारों तक पहुँचे और फिर बात तेज़ी से फैली। अब पहलकदमी पूरी तरह से कतारों के हाथ में थी। जुझारू कतारों के बड़े हिस्से ने चीनी अवस्थिति का समर्थन किया। उसे यह समझते देर नहीं लगी कि चीनी "हमले" के दुष्प्रचार और अन्धराष्ट्रवादी लहर का निशाना दरअसल चीनी पार्टी की क्रान्तिकारी लाइन है, इसलिए कतारों ने अन्धराष्ट्रवाद के विरुद्ध साहसिक प्रचार-कार्य पूरी तरह से अपनी स्वतन्त्र पहल पर करना शुरू किया। यह मुहिम बंगाल में सर्वाधिक सशक्त थी। कलकत्ता के शहीद मैदान में एक भारी रैली हुई और फिर सड़कों पर जुलूस निकाला गया। जिसका प्रमुख नारा था : 'चीन का हौवा खड़ा करने वाले साम्राज्यवाद के एजेण्ट हैं।' पूरी स्थिति को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि पार्टी का बंगला मुखपत्र 'स्वाधीनता' नेतृत्व के आधिकारिक पार्टी-लाइन विरोधी गुट के नियन्त्रण में होने के बावजूद इस पूरे मसले पर चुप्पी साधे हुए था। दूसरी ओर, पार्टी कतारों की पहल पर शुरू हुआ नया साप्ताहिक 'देशहितैषी' और नया मासिक 'नन्दन' इस पूरे प्रश्न पर जुझारू मुखरता के साथ स्टैण्ड लेकर लिख रहे थे और संशोधनवाद पर चोट कर रहे थे।

आधिकारिक पार्टी-लाइन विरोधी पक्ष के नेतागण जब जेलों से बाहर आये तो स्थितियाँ उन्हें अपनी समझ और नियन्त्रण की सीमा से परे प्रतीत हुईं। जेल जाने से पहले वे चीनी लाइन के साथ जोड़कर देखे जाते थे, हालाँकि वे स्वयं ऐसा नहीं कहते थे। जेल में उनके भीतर भी मतभेद पैदा हो गये थे। कुछ उदारपन्थियों का कहना था कि सोवियत और चीनी पार्टी – दोनों की अवस्थितियाँ ग़लत हैं जबकि उनके विरोधियों का कहना था कि चीनी अवस्थिति मुख्यतः सही है। आधिकारिक लाइन विरोधी नेतृत्व का एक छोटा-सा हिस्सा जो

बंगाल में गिरफ़्तारी से बच गया था और भूमिगत होकर पार्टी की राज्य कमेटी के रूप में काम कर रहा था, उसने 'पृथ्वीराज' छद्मनाम से एक दस्तावेज़ निकाला था जिसमें यह स्पष्ट कहा गया था कि अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में मतभेद मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलों पर हैं। लेकिन यह कहने के बावजूद, 'पृथ्वीराज' इकाई के एक सदस्य समर मुखर्जी ने स्पष्ट कर दिया था कि वे फूट के लिए अपनी ओर से कोई पहल नहीं करेंगे। जेल से बाहर आये नेताओं की भी यही सोच थी, लेकिन उन्होंने महसूस किया कि कतारों में यह भावना प्रचण्ड रूप में मौजूद है कि पार्टी नेतृत्व पर हावी डांगेपन्थियों के बहुमत के साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में विचारधारात्मक मुद्दे से कतारों का ध्यान हटाने के लिए आधिकारिक पार्टी-लाइन विरोधी धड़े ने राष्ट्रीय अभिलेखागार से डांगे का वह पत्र निकलवाकर ख़ूब ज़ोर-शोर से कतारों में बाँटना शुरू कर दिया, जो उसने ब्रिटिश सत्ता को जेल से माफ़ीनामे के तौर पर भेजा था। लेकिन यह जुगत काम न आयी। विचारधारात्मक संघर्ष और तीखा हो गया और इन नेताओं के सामने इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प शेष नहीं बचा कि वे एक नयी पार्टी के गठन की दिशा में आगे कदम बढ़ायें। इस उद्देश्य से तेनाली (आन्ध्र प्रदेश) में एक कन्वेंशन बुलाया गया। लेकिन नेताओं के इस धड़े की नीयत और चरित्र को इस बात से समझा जा सकता है कि इस कन्वेंशन के ऐन पहले ज्योति बसु समझौते का एक प्रस्ताव लेकर भूपेश गुप्त और राजेश्वर राव से मिलने उड़कर दिल्ली पहुँचे। उनकी शर्त थी कि यदि अगली पार्टी कांग्रेस 1962 की सदस्यता के आधार पर हो और यदि डांगे को पार्टी-चेयरमैन पद से हटा दिया जाये, तो नयी पार्टी बनाने का विचार छोड़ा जा सकता है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि ऐसे नेतृत्व के लिए, फूट का मुद्दा विचारधारात्मक-राजनीतिक नहीं था, बल्कि संसदीय राजनीति के दायरे में ही अधिक नरम या अधिक गरम नीतियों-रणनीतियों को लेकर था। 'पृथ्वीराज दस्तावेज़' में सोवियत व चीनी पार्टी के बीच के मतभेदों को विचारधारात्मक बताते हुए चीनी अवस्थिति का स्पष्ट समर्थन किया गया था जबकि राष्ट्रीय परिषद में हावी डांगेपन्थियों ने यह प्रस्ताव पारित करवाया था कि चीनी आक्रमणकारी है। इन दोनों लाइनों के एक ही पार्टी में सहअस्तित्व की बात सोचने वाले लोग परले दरजे के अवसरवादी ही हो सकते थे।

ऐसे अवसरवादी नेतृत्व के प्रति रैडिकल कतारें शुरू से ही सशंकित थीं, फिर भी उन्हें यही लगा कि डांगेपन्थियों से अलग होने के बाद इस नये नेतृत्व के ढुलमुलपन पर दबाव बनाकर नयी पार्टी को रास्ते पर लाया जा सकता है। कतारों को तब और आश्चर्य हुआ था जब, जिस नेतृत्व से एक क्रान्तिकारी लाइन लागू करने की अपेक्षा थी, वह दमनकारी राज्य मशीनरी की भरपूर सक्रियता के समय खुले तौर पर एक कांग्रेस के लिए एकत्र हुआ और फिर वही हुआ जो होना था। आधिकारिक-लाइन विरोधी सभी अग्रणी नेताओं को शान्तिपूर्वक उठाकर जेल में डाल दिया गया। जब अन्धराष्ट्रवादी लहर के ख़िलाफ़ रैडिकल कतारें सड़कों पर थीं, उस समय नेतृत्व के इस धड़े को जेल शायद अधिक महफ़ूज जगह लगी। कतारों की इस नये नेतृत्व के प्रति शंकाओं को तब और अधिक बल मिला जब नयी पार्टी (माकपा) के गठन के लिए प्रस्तावित कांग्रेस के लिए इसने मसौदा पार्टी कार्यक्रम वितरित किया। हालाँकि लोक जनवादी क्रान्ति की बात करते हुए इसमें मजदूर वर्ग के नेतृत्व, मज़दूर-किसान संश्रय पर आधारित संयुक्त मोर्चे और भूमि-क्रान्ति के धुरी होने की बात की गयी थी, लेकिन इसमें संशोधनवाद और सुधारवाद के कई तत्त्व थे और भविष्य में क्रान्तिकारी लाइन को पूरी तरह से

छोड़ देने की तमाम गुंजाइशें इसमें अन्तर्निहित थीं, जिन्हें रैडिकल कतारों के एक बड़े हिस्से ने भाँप लिया। नतीज़तन, कांग्रेस की तैयारी के लिए आयोजित पार्टी कन्वेंशन के सभी स्तरों पर तीखी बहसें उठ खड़ी हुईं। यहाँ तक कि पार्टी कांग्रेस तक में कार्यक्रम का एक वैकल्पिक मसौदा पेश किया गया, लेकिन पुराने नौकरशाहाना ढंग से, जोड़तोड़ के बहुमत के सहारे हर रैडिकल आलोचना को दबा दिया गया। पार्टी कार्यक्रम के मसौदे के सिर्फ़ कुछ शब्दों में छोटे-मोटे बदलाव किये गये।

इतना कुछ होने के बावजूद, रैडिकल कतारें यह समझने में विफल रहीं कि जो नयी पार्टी गठित की जा रही है, वह भी नेतृत्व और नीतियों की दृष्टि से एक संशोधनवादी पार्टी है। उन्हें अपेक्षा थी कि इस पार्टी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष चलाकर और मध्यमार्गियों को ठिकाने लगाकर इसे क्रान्तिकारी रास्ते पर उन्मुख किया जा सकता है। इस विभ्रम के लिए पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरी का लम्बा इतिहास, राजनीतिक शिक्षा के अभाव की लम्बी परम्परा और निपट संशोधनवाद का चौदह वर्षों लम्बा दौर ज़िम्मेदार थे। नवगठित पार्टी ने सर्वहारा क्रान्ति के मूलभूत विचारधारात्मक प्रश्न पर जो अवस्थिति अपनायी उसकी सारवस्तु स्पष्टत: संशोधनवादी थी। ख्रुश्चेवी संशोधनवाद की आलोचना करने के बावजूद माकपा-नेतृत्व का मानना था कि चीनी पार्टी अतिवामपन्थी संकीर्णतावादी भटकाव की शिकार है। सोवियत संघ के बारे में उनका कहना था कि वहाँ की पार्टी संशोधनवादी भटकाव की शिकार है किन्तु राज्य और समाज का चरित्र अभी भी समाजवादी है। यह अवस्थिति अपने आप में हास्यास्पद रूप से विसंगतिपूर्ण थी। लेनिन की परिभाषा के अनुसार, संशोधनवादी पार्टी का मतलब है समाजवादी मुखौटे वाली बुर्जुआ पार्टी। ऐसी कोई पार्टी यदि राज्य पर काबिज़ हो तो राज्य का चरित्र सर्वहारा अधिनायकत्व का नहीं, बल्कि बुर्जुआ अधिनायकत्व का ही होगा और उस राज्य के होते समाजवादी समाज का विघटन केवल समय की बात होगी। 1955 से 1964 तक सोवियत संघ का समाजवादी तानाबाना पूरी तरह विघटित हो चुका था और उसका स्थान राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद ले चुका था। 1968 में चेकोस्लोवाकिया पर हमले के बाद, सोवियत संघ का साम्राज्यवादी चरित्र भी नंगा हो गया। बाद के दशक के दौरान, राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्षों को मदद देने के नाम पर उनमें फूट डालने, उन्हें सशस्त्र संघर्ष का रास्ता छोड़ समझौते की नसीहत देने, नवस्वाधीन देशों का सहायता के नाम पर शोषण करने और पूर्वी यूरोपीय देशों की जनता का शोषण करने की सोवियत नीति ने सोवियत संघ के सामाजिक साम्राज्यवादी चरित्र को दिन के उजाले की तरह साफ़ कर दिया। लेकिन माकपा नेतृत्व सोवियत संघ को तब तक समाजवादी मानता रहा जब तक राजकीय पूँजीवाद का स्थान पश्चिमी ढंग के निजी पूँजीवाद ने नहीं ले लिया और सोवियत संघ का विघटन नहीं हो गया। माकपा की थीसिस के अनुसार, पैंतीस वर्षों तक एक संशोधनवादी पार्टी के शासन में राज्य और समाज का चरित्र समाजवादी बना रहा। मार्क्सवाद के साथ इससे बड़ा मज़ाक भला और क्या हो सकता है! और बात केवल इतनी ही नहीं थी। धीरे-धीरे माकपा ने सोवियत पार्टी को संशोधनवादी कहना भी बन्द कर दिया।

पूँजीवादी पुनर्स्थापना के कारणों और समाजवादी संक्रमण की अवधि में जारी वर्ग संघर्ष की प्रकृति के बारे में माओ त्से-तुङ के विश्लेषण और सैद्धान्तिक निष्पत्तियों पर माकपा ने कभी विस्तार से कुछ नहीं लिखा, लेकिन महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के प्रयोग को वह शुरू से अस्वीकार करती रही और ल्यू शाओ-ची व देङ सियाओ-पिङ के उत्पादक शक्तियों

के विकास के संशोधनवादी सिद्धान्त को मार्क्सवादी मानती रही। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वह आज के चीन के "बाज़ार समाजवाद" नामधारी नग्न पूँजीवाद को समाजवाद मानती है और सांस्कृतिक क्रान्ति को देंगपन्थियों के सुर में सुर मिलाते हुए एक "अतिवामपन्थी भूल" और "महाविपदा" घोषित करती है। वैसे, आम तौर पर मध्यमार्ग अपनाने वाली हर संशोधनवादी पार्टी की तरह माकपा अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के हर अहम विचारधारात्मक मसले पर प्रायः चुप्पी का ही रवैया अख़्तियार करती रही है और विवश होने पर ही अपनी संशोधनवादी अवस्थिति को रखती रही है। 'महान बहस' में चीन की अवस्थिति को कथनी में सही मानते हुए भी उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों-नवउपनिवेशों में क्रान्ति सहित विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा के बारे में चीनी पार्टी द्वारा 1963 में प्रस्तुत अवस्थिति की जगह उसने ख्रुश्चेवी संशोधनवादी आम दिशा को ही सारतः स्वीकार किया। माओ की मृत्यु के बाद, चीन में प्रतिक्रियावादी तख़्तापलट करके सत्तासीन हुए पूँजीवादी पथगामियों ने सोवियत पार्टी को जब बिरादराना पार्टी कहना शुरू कर दिया, तो माकपा ने इसका कोई विरोध नहीं किया और उनके इस कुटिल पैंतरापलट को चुपचाप स्वीकार कर लिया। माकपा का यह संशोधनवादी चरित्र समय बीतने के साथ ही ज़्यादा से ज़्यादा नंगा होता गया, लेकिन विचारधारात्मक अवस्थिति और पार्टी की प्रकृति की दृष्टि से देखें तो अपने जन्मकाल से ही यह एक संशोधनवादी पार्टी थी।

यानी संकीर्ण अनुभववादी पर्यवेक्षण के बजाय, यदि पार्टी संगठन के लेनिनवादी उसूलों के नज़रिये से देखा जाये तो माकपा का संशोधनवादी चरित्र 1964 में ही एकदम साफ़ था। 1951 से ही जारी पार्टी के एकदम खुले, क़ानूनी, संसदीय चरित्र और कार्यप्रणाली को माकपा ने यथावत जारी रखा। पार्टी-सदस्यता की प्रकृति इसमें मेंशेविकों से भी गयी-गुज़री थी। अमृतसर कांग्रेस में पार्टी संविधान में किया गया बदलाव भी 1964 की सातवीं कांग्रेस में यथावत क़ायम रखा गया। लोक जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के अनुसार, क्रान्ति का मार्ग दीर्घकालिक लोकयुद्ध का ही हो सकता था, लेकिन इसका कोई उल्लेख करने की जगह पार्टी कार्यक्रम में कपटपूर्ण भाषा में "संसदीय और ग़ैरसंसदीय" रास्ते का उल्लेख किया गया। कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी बुर्जुआ संसदीय चुनावों का परिस्थिति अनुसार रणकौशल के तौर पर ही इस्तेमाल करती है। संसदीय रास्ते को ग़ैर संसदीय मार्ग के समकक्ष रखना अपने आप में संशोधनवाद है। यूँ बाद में मा-ले आन्दोलन की "वामपन्थी" दुस्साहसवादी धारा के चुनाव-बहिष्कार के नारे का विरोध करते हुए माकपा लेनिन के हवाले से यही कहती थी कि एक रणकौशल के तौर पर चुनाव का इस्तेमाल किया जा सकता है और वह यही कर रही है। लेकिन विगत तीन दशकों से बुर्जुआ व्यवस्था के अन्तर्गत एक राज्य में शासन करते हुए वह बुर्जुआ नीतियों को भरपूर वफ़ादारी के साथ लागू करती रही है और जनसंघर्षों की तैयारी के लिए चुनाव व संसदीय मंच का इस्तेमाल करने की जगह लगातार हर जनान्दोलन को कुचलने के लिए राज्यतन्त्र का बर्बर निरंकुश ढंग से इस्तेमाल करती रही है। अपना यह चरित्र वह नक्सलबाड़ी किसार उभार का बर्बर दमन करके साठ के दशक के अन्तिम वर्षों में ही नंगा कर चुकी थी।

जहाँ तक कार्यक्रम का प्रश्न है, माकपा ने अपने लोक-जनवादी कार्यक्रम के अन्तर्गत भारतीय बड़े पूँजीपति वर्ग का चरित्र दलाल न मानकर दोहरी प्रकृति का माना था और कुल मिलाकर इसकी स्थिति साम्राज्यवाद के कनिष्ठ साझीदार की मानी थी, जो वास्तविकता के

अधिक निकट था। लेकिन सत्तारूढ़ पूँजीपति वर्ग के इस चरित्र का अन्तर्निहित तर्क यही हो सकता था कि वह अपने औद्योगिक-वित्तीय हितों के अनुरूप, ऊपर से, एक क्रमिक प्रक्रिया में, प्रशा के जुंकर-टाइप रूपान्तरण से मिलते-जुलते रास्ते से अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्धों को बदलने की कोशिश करे, सामन्ती भूस्वामियों को पूँजीवादी भूस्वामी बनने का अवसर दे (और जो ऐसा न करें, उन्हें उजड़ने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दे), धनी काश्तकारों को मुनाफ़ाख़ोर कुलक बना दे, अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर तथा आयात-प्रतिस्थापन की नीति अपनाकर अपने आर्थिक हितों की हिफ़ाज़त एवं विस्तार करे तथा सुदूरवर्ती गाँवों तक को एक राष्ट्रीय बाज़ार के अन्तर्गत लाने की कोशिश करे। वास्तव में हुआ भी यही (और यह प्रक्रिया 1964 में गति पकड़ चुकी थी)। माकपा से जुड़े अर्थशास्त्री देश में पूँजीवादी विकास की सच्चाई को अंशों में स्वीकारते भी रहे हैं, हालाँकि इस तर्क को उसकी स्वाभाविक निष्पत्ति तक पहुँचाने से कन्नी काटते रहे हैं। माकपा भारतीय पूँजीपति वर्ग के चरित्र-निरूपण से निगमित तर्क को उसके नतीजे तक पहुँचाने की जगह, आज तक यही मानती है कि भारत विगत आधी सदी से लोक जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में ही खड़ा है। वैसे किसी संशोधनवादी पार्टी के लिए क्रान्ति के कार्यक्रम का कोई ख़ास मतलब नहीं होता। भारत में समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल मानने वाली कई छोटी-छोटी संशोधनवादी पार्टियाँ भी हैं, जो गाँवों और शहरों के सर्वहाराओं को लेकर लगातार अर्थवादी-ट्रेडयूनियनवादी क़वायद करती रहती हैं और संसद-विधानसभाओं के चुनाव लड़ती रहती हैं, या फिर मात्र सिद्धान्त-चर्वण करती रहती हैं। लेकिन माकपा सापेक्षत: एक बड़े सामाजिक आधार वाली पार्टी है, जिसे गाँवों में बड़े मँझोले मालिक किसानों को और शहरों में छोटे बुर्जुआओं और उच्च मध्यवर्ग को हर हाल में अपने साथ रखना है, वरना उसके वोट बैंक को भारी नुकसान पहुँचेगा (संगठित मज़दूरों के आर्थिक हितों को लेकर, मरियल ही सही, लेकिन क़ानूनी और अर्थवादी लड़ाइयाँ लड़कर तथा संसद में वेतन संशोधन, पी.एफ., पेंशन, सेवाशर्तों आदि पर सत्ता का विरोध करने का पाखण्ड करके वह उनमें अपना वोट बैंक बनाये रखती है, पर मात्र इसी आधार पर उसकी चुनावी गोट लाल नहीं हो सकती)। इसलिए गाँवों के बड़े मालिक किसानों, शहरों के छोटे बुर्जुआओं और उच्च मध्य वर्ग के प्रति वर्ग-सहयोगवादी रवैया अपनाने में लोक जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम में निहित चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय की सोच माकपा को एक सैद्धान्तिक आड़ देने का काम करती है। इसीए माकपा आज भी लोक जनवादी कार्यक्रम की बात करती है।

बहरहाल, यह तो आगे की बात हुई। हमें 1964 के काल में वापस लौटना होगा। माकपा का जो संशोधनवादी चरित्र आज उसके घनघोर जनविरोधी सामाजिक-जनवादी चरित्र के रूप में एकदम नंगा हो चुका है, वह अपने जन्मकाल से वैसा ही था। लेकिन चूँकि माकपा नेतृत्व उस समय डांगेपन्थी संशोधनवादियों पर हमले कर रहा था और चूँकि वह दबी-जुबान से ही सही लेकिन खुश्चेवी संशोधनवाद का विरोध करता प्रतीत हो रहा था इसलिए आनुभविक ढंग से चीज़ों को देखने के आदी, निम्न सैद्धान्तिक समझ और चेतना वाले कतारों के बड़े हिस्से ने उन्हें क्रान्तिकारी समझा। फिर भी यह एक निर्विवाद सच्चाई है कि कतारों का एक बड़ा हिस्सा उन्हें संशय की दृष्टि से देख रहा था और मध्यमार्गी ढुलमुलपन का शिकार मान रहा था। जो अधिक चेतनशील कार्यकर्ता थे, वे 1964 की कांग्रेस के बाद मायूस थे, पर उन्हें कोई विकल्प नहीं दीख रहा था। एक बड़ा हिस्सा ऐसा था जो नेतृत्व को संशोधनवादी मानते हुए

भी, पार्टी के साथ फ़िलहाली तौर पर ही था और इन्तज़ार की मानसिकता में था। बुद्धिजीवियों और कार्यकर्ताओं का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा ऐसा भी था, जो इस नये नेतृत्व से कोई उम्मीद नहीं रखने के कारण निष्क्रिय हो गया था। कुल मिलाकर कहें, तो एक सर्वभारतीय पार्टी के गठन से जिस उत्साह, उम्मीद और जोश का माहौल होना चाहिए था, वह कहीं भी नहीं था।

तैयार होती ज़मीन, वह ऐतिहासिक विस्फोट और उसके बाद

नवम्बर, 1964 में जब कलकत्ता के त्यागराज हॉल में पार्टी कांग्रेस हो रही थी, उस समय बाहर कुछ लोगों के एक छोटे से ग्रुप ने पर्चे बाँटकर नयी पार्टी के नेतृत्व पर भी मध्यमार्गी और संशोधनवादी भटकाव का शिकार होने का आरोप लगाया। पार्टी कांग्रेस से ज़्यादातर प्रतिनिधि निराश और संशयग्रस्त होकर लौटे। 1965 के जनवरी महीने में नवगठित माकपा के महासचिव पी. सुन्दरैया गिरफ़्तार हुए और फिर सरकारी अनुमति से इलाज के लिए सोवियत संघ गये। वहाँ से लौटने के बाद सोवियत नेतृत्व के कई सकारात्मक पहलू गिनाते हुए उन्होंने लिखा कि सोवियत पार्टी की बातों में भी दम है। इधर, महान बहस के दस्तावेज़ निचले स्तर के संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं तक भी पहुँचने लगे थे और उन्नत चेतना वाले कार्यकर्ताओं का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा यह समझने लगा था कि संशोधनवाद और मार्क्सवाद के बीच मध्यमार्ग अपनाने की कोई गुंजाइश ही नहीं है और ऐसा करने का एकमात्र मतलब होगा संशोधनवाद के पाले में खड़ा होना। यह समय था जब दक्षिण वियतनाम, फिलीप्पींस और मलाया से लेकर अफ्रीकी देशों और लातिन अमेरिकी देशों में जारी राष्ट्रीय मुक्ति-युद्धों और नवउपनिवेशवाद-विरोधी सशस्त्र संघर्षों में राष्ट्रीय बुर्जुआ नेतृत्व माओ के दीर्घकालिक लोकयुद्ध की सामरिक रणनीति को लागू कर रहा था और इनमें से अधिकांश संघर्ष विजय की दहलीज़ पर खड़े थे। अफ्रीकी मुक्ति संघर्ष के अमिल्कर कबराल, क्वामे एन्क्रूमा, जूलियस न्यरेरे जैसे नेता माओ की सामरिक रणनीति के अवदान को घोषित तौर पर स्वीकार कर रहे थे। राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों के साथ मोलतोल करके मदद करने तथा उन्हें शासकों के साथ बातचीत की टेबुल पर बैठकर मोलतोल करने और सुलह-सफ़ाई के ज़रिये सत्ता हासिल करने का सुझाव देने वाले ख्रुश्चेवी संशोधनवादी ज़्यादा से ज़्यादा बेनक़ाब होते जा रहे थे। क्यूबाई मिसाइल संकट के समय अमेरिकी धौंस के सामने ख्रुश्चेव के घुटने टेकने के बाद सोवियत शासन के चरित्र के बारे में दुनिया भर की कम्युनिस्ट कतारों के भीतर पहले ही सवाल पैदा हो चुका था। साम्राज्यवादियों के साथ लगातार सुलह-सफ़ाई की उसकी नीति भी उसे शंकाओं के घेरे में खड़ा कर रही थी। 1965 के अन्त में इण्डोनेशिया में कम्युनिस्टों का अभूतपूर्व बर्बर दमन हुआ और इस घटना ने भी भारत के कम्युनिस्ट कतारों के सामने स्पष्ट कर दिया कि यदि कोई पार्टी विशाल जनाधार और कैडर-शक्ति के बावजूद गुप्तता, कैडर-भरती, कार्य संस्कृति के अनुशासन और सामरिक तैयारी के मामले में ढिलाई बरतेगी तो बुर्जुआ राज्यसत्ता बर्बर सैन्यबल से उसे कुचलकर ख़ून के दलदल में धँसा देगी। इस घटना ने भारतीय कम्युनिस्ट कतारों को भी सोवियत और चीनी रास्तों के विचारधारात्मक फ़र्क को समझने में काफ़ी मदद की और वे इसी रोशनी में माकपा के नये नेतृत्व के बारे में भी सोचने लगे। 'महान बहस' के तत्काल के बाद चीन में 1964 से 'महान समाजवादी शिक्षा आन्दोलन' की शुरुआत हो चुकी

थी। यह आन्दोलन वस्तुतः समाजवादी निर्माण के प्रश्न पर चीनी पार्टी के भीतर संशोधनवाद और क्रान्तिकारी लाइन के बीच के संघर्ष का ही एक रूप था और इस दौरान महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार होने लगी थी। इस आन्दोलन से सम्बन्धित चीनी पार्टी के दस्तावेज़ भी माकपा से जुड़े बुद्धिजीवियों और चेतनशील कार्यकर्ताओं तक पहुँच रहे थे और चीज़ों को समझने में सहायक बन रहे थे। सातवीं कांग्रेस में जनान्दोलन की लम्बी-चौड़ी बातों के उलट, कांग्रेस के ठीक बाद कहीं भी भूमि संघर्ष संगठित करने या मज़दूरों की राजनीतिक-आर्थिक माँगों को लेकर जुझारू आन्दोलन संगठित करने की नेतृत्व की ओर से कोई पहल नहीं दीख रही थी। नियमित अनुष्ठान से अलग क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार एवं शिक्षा की कोई कार्रवाई भी नहीं संगठित की जा रही थी, जो किसी नवगठित पार्टी के लिए आवश्यक कार्यभार होता है। पार्टी-नेतृत्व का मुख्य या लगभग पूरा ज़ोर कांग्रेस-विरोधी व्यापक संयुक्त मोर्चा बनाकर आगामी चुनावों में कांग्रेस का विकल्प प्रस्तुत करने की तैयारी पर था। हालाँकि अपने चुनावी चरित्र पर पर्दा डालने के लिए वह लगातार "जनान्दोलनों को मज़बूत बनाने वाली संक्रमणकालीन सरकारों की स्थापना" (वह "संक्रमणकाल" आज तक जारी है!) की ही बात कह रही थी। 1965 के भारत-पाक युद्ध के समय भी पार्टी ने बुर्जुआ अन्धराष्ट्रवाद-विरोधी और युद्ध-विरोधी क्रान्तिकारी प्रचार का कोई भी कार्यक्रम हाथ में लेने का साहस नहीं किया। राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय पटल की ये सारी घटनाएँ और विश्व-इतिहास के उस दौर में चतुर्दिक आगे बढ़ते मुक्ति संघर्षों के ज्वार माकपा की कतारों की चेतना का क्रान्तिकारीकरण करने में, उन्हें संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के बीच अन्तर करना सिखाने में तथा माकपा नेतृत्व के असली चरित्र को पहचानने में मदद पहुँचा रहे थे। पार्टी नेतृत्व का व्यवहार स्वयं उसके चरित्र को उजागर करता जा रहा था।

नवगठित पार्टी-नेतृत्व के चरित्र पर प्रश्न उठाने वाले कुछ लोगों ने सातवीं कांग्रेस के तत्काल बाद, पार्टी के भीतर गुप्त तरीके से (उनका आकलन था कि नौकरशाह पार्टी नेतृत्व पार्टी के भीतर उन्हें बुनियादी सैद्धान्तिक मुद्दों पर कत्तई बहस नहीं चलाने देगा और ऐसा करते ही उन्हें उग्रवादी और दुस्साहसवादी बताकर किनारे लगा दिया जायेगा। उनका यह सोचना एकदम ठीक था, तमाम मसलों पर माकपा नेतृत्व के बाद के व्यवहार ने यही सिद्ध किया) सैद्धान्तिक संघर्ष चलाने के लिए कन्हाई चटर्जी, अमूल्य सेन और चन्द्रशेखर दास की पहल पर, उन्हीं की अगुवाई में एक गुप्त क्रान्तिकारी केन्द्र का गठन किया। इस केन्द्र की ओर से मार्च, 1965 में 'चिन्ता' नामक बुलेटिन का पहला अंक निकला और पार्टी कतारों के बीच (विशेषकर बिहार और बंगाल में) इसे गुप्त रूप से बाँटा गया। ठीक इसी समय, चारू मजूमदार ने भी अपने प्रसिद्ध आठ दस्तावेज़ों की शृंखला का लेखन प्रारम्भ किया। 28 फरवरी, 1965 को इस शृंखला का पहला दस्तावेज़ 'वर्तमान स्थिति में हमारे कर्त्तव्य' उन्होंने पूरा किया। माकपा के नवसंशोधनवाद के विरुद्ध का बिगुल फूँकने वाली ये दो निर्णायक पहलकदमियाँ अलग-अलग, लेकिन एकदम एक ही समय में ली गयीं। इनके अतिरिक्त, आन्ध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार और पंजाब के कई लोग सातवीं कांग्रेस के बाद से ही पार्टी नेतृत्व को संशोधनवादी रास्ते का राही मानने लगे थे और इस मसले पर सोच-विचार रहे थे कि पार्टी के भीतर संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाने का रास्ता क्या हो सकता है? कुछ लोग (विशेषकर पार्टी बुद्धिजीवी) ऐसे भी थे, जिन्होंने पार्टी को संशोधनवादी मानकर उसकी सदस्यता छोड़ दी थी या सदस्यता के बावजूद

निष्क्रिय हो गये थे।

मार्च, 1965 से लेकर 1966 के मध्य तक 'चिन्ता' बुलेटिन के कुल छह अंक निकले। इसके बाद इस क्रान्तिकारी केन्द्र के सूत्रधारों को उग्रवादी और दुस्साहसवादी क़रार देकर पार्टी से निष्कासित कर दिया गया। निष्कासन के बाद, संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष और भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल से जुड़े विविध प्रश्नों पर बहस को व्यापक आधार पर चलाने के लिए 1966 के मध्य से कन्हाई चटर्जी-अमूल्य सेन के नेतृत्व वाले इस ग्रुप ने 'दक्षिण देश' नाम से एक खुली पत्रिका का नियमित प्रकाशन शुरू किया। चारु मजूमदार अगस्त, 1966 तक अपनी 'आठ दस्तावेज़श्रृंखला' के छः दस्तावेज़ लिख चुके थे। सातवाँ और आठवाँ दस्तावेज़ उन्होंने क्रमशः 1967 के फरवरी और अप्रैल महीने में लिखा, जब नक्सलबाड़ी में किसानों के बड़े-बड़े जुलूस निकलने लगे थे और मई में शुरू होने वाले किसान-विद्रोह की ज़मीन तैयार हो चुकी थी। इन दस्तावेज़ों और 'चिन्ता' के अंकों की विषयवस्तु की चर्चा से पहले नक्सलबाड़ी के बारे में यह जानना ज़रूरी है कि इस विद्रोह की वस्तुगत परिस्थितियाँ किस प्रकार वहाँ मौजूद थीं और नक्सलबाड़ी में किसान संघर्षों और कम्युनिस्ट आन्दोलन की किस प्रकार पहले से ही एक परम्परा रही थी।

दार्जीलिंग ज़िले के सिलीगुड़ी सबडिवीज़न स्थित नक्सलबाड़ी क्षेत्र का ग्रामीण इलाका तराई अंचल है। वहीं से पहाड़ी क्षेत्र शुरू हो जाता है। खेती के अलावा इस इलाके में चायबागान भी हैं, जो गाँवों से एकदम लगे हुए हैं। इस क्षेत्र के किसानों और बागान मज़दूरों के बीच कम्युनिस्ट पार्टी ने व्यवस्थित ढंग से काम की शुरुआत 1951 में की। दार्जीलिंग ज़िला ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत एक 'नॉन-रेग्यूलेटेड एरिया' था। 1947 के बाद भी वहाँ के माहौल पर इसकी छाप थी। इलाके में चाय बागान मालिक प्लाण्टर-भूस्वामियों और जोतदारों (भूस्वामियों) की निरंकुश सत्ता क़ायम थी। बागान मज़दूरों की कोई यूनियन नहीं थी और बागान मालिकों का आतंक इतना था कि वे इस दिशा में सोच तक नहीं सकते थे। किसी भी राजनीतिक पार्टी का कार्यकर्ता जोतदारों की मर्ज़ी और इजाज़त के बग़ैर किसानों की झोंपड़ियों तक पहुँच भी नहीं सकता था। इन कठिन परिस्थितियों में पार्टी ने इस क्षेत्र में काम शुरू किया। चारु मजुमदार उस सिलीगुड़ी लोकल कमेटी के नेता थे, जिसके अन्तर्गत नक्सलबाड़ी क्षेत्र आता था।

चारु मजुमदार 1930 के दशक में पाबना (अब बंगलादेश) के एडवर्ड कॉलेज में पढ़ते समय कम्युनिस्ट छात्र-छात्राओं के सम्पर्क में आये और कम्युनिस्ट बने। इण्टरमीडियट की फाइनल की परीक्षा छोड़कर वे जलपाईगुड़ी ज़िले के देवीगंज थाने (अब बंगलादेश) के पचागढ़ में किसानों के बीच काम करने लगे। कम्युनिज़्म की प्रारम्भिक शिक्षा उन्हें माधवदत्त से मिली और फिर वे जलपाईगुड़ी के कम्युनिस्ट नेता शचिन दासगुप्त और वीरेन दत्त के सम्पर्क में आये। किसानों के अधियार आन्दोलन में भागीदारी के बाद उन्होंने लालमनिहार जं. (दिनाजपुर ज़िला) से लेकर जलपाईगुड़ी तक के रेल मज़दूरों और दुआर के चायबागान के मज़दूरों के बीच संगठनकर्त्ता के रूप में काम किया। उत्तर बंगाल के क़रीब 70 लाख किसानों के प्रसिद्ध तेभागा आन्दोलन (1946-47) में भी वे सक्रिय रहे। उल्लेखनीय है कि तेभागा आन्दोलन का प्रत्यक्ष नेतृत्व जब बर्बर दमन का प्रतिरोध करने के लिए किसानों की सशस्त्र प्रतिरक्षा संगठित करने के बारे में सोच रहा था, उसी समय मुस्लिम लीग सरकार के कोरे आश्वासनों के बाद प्रादेशिक नेतृत्व ने आन्दोलन वापस ले लिया। तब प्रादेशिक नेतृत्व की

तीखी आलोचना करने वालों में चारु मजुमदार भी थे। 1947 में देश के विभाजन के बाद चारु मजुमदार का मुख्य कार्यक्षेत्र जब पूर्वी पाकिस्तान (अब बंगलादेश) में चला गया तो वे जलपाईगुड़ी ज़िले के उस हिस्से में चाय बागान मज़दूरों, रेल मज़दूरों और आदिवासी किसानों के बीच काम करने लगे, जो भारत में आया था। रणदिवे काल की अतिवामपन्थी लाइन और पार्टी के ग़ैरक़ानूनी करार दिये जाने के दौर में चारु जेल में थे। वहीं उन्हें तेलंगाना संघर्ष के दौरान पार्टी में जारी बहस और आन्ध्र दस्तावेज़ के बारे में पता चला। जेल में उन्हें माओ और चीनी पार्टी की लाइन के पक्षधर के रूप में जाना जाता था। तेलंगाना संघर्ष वापस लिये जाने के बाद, मार्च 1952 में चारु जेल से रिहा हुए। अब उनका नया कार्यक्षेत्र दार्जीलिंग ज़िले का सिलीगुड़ी सब-डिवीज़न बना जहाँ की लोकल कमेटी का नेतृत्व चारु मजुमदार ने सम्हाला। 1951 में पार्टी ने नक्सलबाड़ी क्षेत्र के गाँवों के किसानों और चाय बागान मज़दूरों के बीच कामों की शुरुआत की। इसी समय कानू सान्याल ने भी यहाँ पूर्णकालिक संगठनकर्त्ता के रूप में काम करना शुरू किया और जंगल सन्थाल, कदम लाल मल्लिक, खोदनलाल मल्लिक आदि स्थानीय कार्यकर्ताओं की एक टीम तैयार हुई।

1951 से लेकर 1954 तक का दौर नक्सलबाड़ी में किसानों और बागान मज़दूरों के संगठित होने का प्रारम्भिक दौर था, लेकिन इलाके में जोतदारों के अत्याचार का इतना अधिक बोलबाला था कि उनके साथ ख़ूनी झड़पों के बिना शुरुआती काम भी असम्भव था। पार्टी संगठनकर्ताओं ने जोतदारों की अवैध वसूलियों और अत्याचारों के विरुद्ध किसानों को संगठित करते हुए निकटवर्ती चाय बागान मज़दूरों को भी उनके पक्ष में संगठित किया। इस तरह, स्थानीय स्तर पर, व्यवहार में मज़दूरों और किसानों का संयुक्त मोर्चा तैयार हुआ और 1955 से 1957 के बीच नक्सलबाड़ी के किसानों-मज़दूरों ने एक साथ मिलकर लगातार संघर्ष चलाये। जोतदारों और बागान मालिकों के निरंकुश अत्याचार के चलते इस इलाके के किसानों और मज़दूरों को शुरू से ही अपने आत्मरक्षार्थ परम्परागत हथियारों की मदद लेनी पड़ी। यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था कि नक्सलबाड़ी के किसानों में उस समय से ही क़ानूनी और शान्तिपूर्ण तरीकों के बारे में कोई भ्रम नहीं था। 1955 का चाय बागान मज़दूरों का बोनस आन्दोलन हालाँकि एक आर्थिक संघर्ष था, लेकिन हज़ारों मज़दूरों-किसानों ने इसमें भी अपनी जुझारू एकजुटता और लड़ाकूपन का प्रदर्शन किया और न केवल बाग़ान मालिकों के भाड़े के गुण्डों को बल्कि पुलिस को भी पीछे हटने पर मज़बूर कर दिया। एक मौक़े पर दस हज़ार हथियारबन्द बागान मज़दूरों और किसानों ने पुलिस बल को निःशस्त्र होने के लिए मज़बूर कर दिया था। नक्सलबाड़ी में वर्ग-संघर्ष के विकास की दृष्टि से 1955-56 का यह दूसरा दौर विशेष महत्त्व रखता है।

1958-62 के काल को नक्सलबाड़ी में किसानों-मज़दूरों के संघर्ष के विकास का तीसरा दौर कहा जा सकता है। इस दौरान पश्चिम बंगाल किसान सभा ने 'बेनामी' जमीन पर किसानों द्वारा फिर से क़ब्ज़ा का नारा दिया। लेकिन सिलीगुड़ी की सबडिवीज़नल किसान समिति के नक्सलबाड़ी में हुए सम्मेलन ने इस आह्वान को वास्तविक भूमि-सुधार की उद्देश्य-पूर्ति के लिए अधूरा मानते हुए जोतदारों की ज़मीन की कुल उपज ज़ब्त करने का आह्वान किया। सम्मेलन ने किसानों का आह्वान किया कि वे सारी फसल काटकर अपनी जगहों पर रखें, मालिकाना का सबूत पेश करने पर ही किसान समितियाँ जोतदारों को उनका हिस्सा दें और पुलिस एवं जोतदारों से फसल को बचाने के लिए किसान हथियारबन्द हो जायें। इस आन्दोलन

के दौरान, सिर्फ़ 1958-59 के वर्ष में दो हज़ार किसान गिरफ़्तार हुए और उन पर सात सौ आपराधिक मुकदमे पुलिस ने दर्ज़ किये। जोतदारों और पुलिस से किसानों की सशस्त्र झड़पें हुईं और जोतदारों के हथियार छीनने की कई घटनाएँ घटीं। किसान 80 फीसदी फसल अपने क़ब्ज़े में लेने और उसका बड़ा हिस्सा पुलिस द्वारा छीने जाने से बचाने में सफल रहे।

पूरे आन्दोलन के दौरान एक भी नेतृत्वकारी संगठनकर्ता को पुलिस गिरफ़्तार नहीं कर पायी। चारु मजुमदार इस आन्दोलन से सीधे नहीं जुड़े थे। उसके संगठनकर्ता कानू सान्याल, जंगल सन्थाल, कदम मल्लिक आदि थे। चारु मजुमदार की एक नकारात्मक भूमिका यह ज़रूर रही थी कि राज्य किसान सभा के नेताओं के निर्देश पर, संघर्ष के नेताओं और भागीदार किसान कार्यकर्ताओं से सलाह-मशविरा किये बिना ही, उन्होंने संघर्ष वापस लेने की घोषणा कर दी थी। इसके बावजूद, नक्सलबाड़ी के किसान कमोबेश 1962 तक इस संघर्ष की उपलब्धियों की हिफ़ाज़त में सफल रहे।

1962-64 के दौर को नक्सलबाड़ी में किसानों के संघर्ष और उनके बीच पार्टी कार्य के विकास का चौथा दौर माना जा सकता है। 1962 के भारत-चीन सीमा-युद्ध के समय और उसके बाद के वर्षों में घनघोर अन्धराष्ट्रवाद और कम्युनिज़्म-विरोध के माहौल में भी नक्सलबाड़ी क्षेत्र के कम्युनिस्ट कार्यकर्ता दृढ़तापूर्वक इस अवस्थिति पर खड़े रहे कि हमलावर चीन नहीं है और यह युद्ध साम्राज्यवादियों की शह और अपनी विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा से भारतीय शासक वर्ग ने छेड़ा है। किसानों-मज़दूरों में कम्युनिस्टों की साख इतनी मज़बूत थी कि वे दृढ़तापूर्वक उनके साथ खड़े थे। उस समय सही अवस्थिति लेने वाले कम्युनिस्टों की गिरफ़्तारी की जो मुहिम चली थी, उसके तहत अकेले नक्सलबाड़ी में सौ किसान-मज़दूर गिरफ़्तार हुए थे। इन कठिन वर्षों में भी जोतदारों और टी-प्लाण्टरों के हमलों और सत्ता के दमन का मुकाबला करते हुए इस क्षेत्र के किसान-मज़दूर अपनी सांगठनिक ताक़त को बनाये रखने में सफ़ल रहे थे। 1964 में दार्जीलिंग ज़िले के मज़दूर, किसान और मध्यवर्गीय कार्यकर्ताओं ने संशोधनवाद के विरुद्ध जमकर संघर्ष किया और डांगेपन्थियों को पूरी तरह से अलगाव में डाल दिया। सिलीगुड़ी सबडिवीज़न के कार्यकर्ता दृढ़तापूर्वक ख्रुश्चेवी संशोधनवाद का विरोध कर रहे थे और चीनी पार्टी के पक्ष का समर्थन कर रहे थे।

नक्सलबाड़ी में जोतदारों-बागान मालिकों के बर्बर दमन की जो विशेष परिस्थितियाँ थीं और वहाँ के किसानों-मज़दूरों के बीच कम्युनिस्ट कतारों के काम और कम्युनिस्ट नेतृत्व में उनके जुझारू संघर्षों का जो डेढ़ दशक लम्बा इतिहास था, उसने नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह और उस पर क्रान्तिकारी कम्युनिज़्म के विचारधारात्मक-राजनीतिक वर्चस्व-स्थापना का आधार तैयार किया था। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि जुझारू संघर्षों का यह सिलसिला ही स्वत: विकसित होकर 1967 में नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के रूप में सामने आया। ऐसा मानना स्वयंस्फूर्ततावादी भटकाव होगा। नक्सलबाड़ी सशस्त्र किसान विद्रोह महज़ एक विद्रोह नहीं था। वह एक क्रान्तिकारी किसान-उभार था, जिसका नेतृत्व क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के हाथों में था। नक्सलबाड़ी ने संशोधनवाद को सहज वर्ग-प्रवृत्ति से ख़ारिज नहीं किया था, बल्कि उसके पीछे एक सचेतन विचारधारात्मक नेतृत्व की भूमिका थी, चाहे उस नेतृत्व की अपनी सैद्धान्तिक कमज़ोरियाँ-विसंगतियाँ जो भी रही हों। चारु मजुमदार की सकारात्मक और नकारात्मक भूमिका का सवाल इसी मुद्दे की विवेचना से जुड़ा हुआ है।

1964 में माकपा के गठन के बाद, पार्टी कांग्रेस के ठीक पहले पूरे पश्चिम बंगाल में

कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं की बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारी हुई। अक्टूबर 1964 से लेकर 1965 के पूर्वार्द्ध तक सिलीगुड़ी सबडिवीज़न के लगभग सभी पार्टी कार्यकर्ता गिरफ़्तार किये जा चुके थे। चारु मजुमदार तबतक दिल की बीमारी से ग्रस्त हो चुके थे और बीमारी के कारण ही उन्हें गिरफ़्तार नहीं किया गया था। बाद में, 1965 के अन्त में उन्हें भी गिरफ़्तार कर लिया गया। 1964 से जून, 1966 के बीच जेल में रहने के दौरान दार्जीलिंग ज़िले के पार्टी कार्यकर्ताओं ने माकपा नेतृत्व के संशोधनवाद को जानने-समझने का काम किया, उसके विरुद्ध दृढ़तापूर्वक स्टैण्ड लिया और इस नतीजे पर पहुँचे कि चीनी मार्ग ही भारतीय मुक्ति-संघर्ष का भी मार्ग होगा। जेल में बन्दी इन कार्यकर्ताओं ने संशोधनवाद के विरुद्ध अपनी राजनीतिक तैयारी भले की हो, लेकिन माकपा नेतृत्व के विरुद्ध उन्होंने कोई दस्तावेज़ लिखने और उसे कतारों के अन्य हिस्सों तक पहुँचाने की कोई कोशिश नहीं की। यदि वे जेल से बाहर होते तो ऐसा करते या नहीं करते, यह अटकल की बात है और इतिहास की वस्तुगत सच्चाइयों की जाँच-पड़ताल करते हुए इस अटकल का कोई महत्त्व नहीं है। चारु मजुमदार का यह योगदान असन्दिग्ध है कि उन्होंने आठ दस्तावेज़ लिखकर माकपा के नवसंशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद में एक बुनियादी भूमिका निभायी। हाँ, इस बहुप्रचलित धारणा को ज़रूर संशोधित करने की ज़रूरत है कि ऐसा करने वाले वह अकेले व्यक्ति थे। ठीक उसी समय 'चिन्ता ग्रुप' (आगे चलकर 'दक्षिण देश' ग्रुप) ने भी अपनी बुलेटिन के ज़रिये कलकत्ता में यह काम शुरू कर दिया था और यह बुलेटिन चारु की दस्तावेज श्रृंखला की तुलना में पश्चिम बंगाल के कतारों की अपेक्षाकृत बड़ी संख्या तक पहुँच रहा था। आगे चलकर नक्सलबाड़ी किसान-संघर्ष की चमक और उसके निर्माता के रूप में चारु मजुमदार और उनके आठ दस्तावेज़ों की ख्याति के चलते 'चिन्ता' ग्रुप के प्रयास अपने महत्त्व के समुचित मूल्यांकन से काफ़ी हद तक वंचित रह गये। जहाँ तक नक्सलबाड़ी किसान-संघर्ष के निर्माता के रूप में चारु की और उनके आठ दस्तावेजों की भूमिका का प्रश्न है, उसका सही मूल्यांकन उस समय के ठोस तथ्यों की पड़ताल के बाद ही किया जा सकता है। अत: उनकी हम यहाँ संक्षेप में चर्चा करेंगे।

फरवरी, से सितम्बर 1965 के बीच चारु मजुमदार ने तत्कालीन राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए और उन परिस्थितियों में कम्युनिस्टों के कार्यभारों का विश्लेषण करते हुए पाँच लेख लिखे : 'वर्तमान स्थिति में हमारे कर्त्तव्य', 'संशोधनवाद के खिलाफ़ संघर्ष कर जनता की जनवादी क्रान्ति को सफ़ल बनायें', 'भारत के स्वत:स्फूर्त क्रान्तिकारी सैलाब का स्रोत क्या है', 'आधुनिक संशोधनवाद के खिलाफ़ संघर्ष चलाते जायें' और '1965 किस सम्भावना का निर्देश दे रहा है।' इसके बाद वे गिरफ़्तार कर लिये गये। जेल में बीमारी गम्भीर हो जाने के कारण उन्हें कलकत्ता के एक अस्पताल में भर्ती किया गया और वहीं से वे 7 मई 1966 को रिहा कर दिये गये। अगस्त, 1966 में उन्होंने अपना छठवाँ लेख लिखा। प्रसिद्ध 'आठ दस्तावेज़ श्रृंखला' के इन छ: लेखों में चारु मजुमदार ने जो स्थापनाएँ दी थीं, संक्षेप में उनका उल्लेख यहाँ ज़रूरी है।

इन दस्तावेज़ों के अनुसार, किसान सभा और ट्रेड यूनियन के ज़रिये आंशिक माँगों पर आन्दोलन चलाते रहने के संकीर्ण दायरे से बाहर निकलकर राजनीतिक सत्ता के लिए संघर्ष करना होगा। राजनीतिक सत्ता पर क़ब्ज़ा का अर्थ सरकार पर क़ब्ज़ा करना नहीं, बल्कि सशस्त्र संघर्ष द्वारा इलाकावार सत्ता-दख़ल करना है। चीन का रास्ता ही भारत की मुक्ति का रास्ता है

और सशस्त्र संघर्ष हमारा फौरी कार्यभार है। इसके लिए क्रान्तिकारी कार्यकर्ता तैयार करने होंगे और गुप्त ढाँचा खड़ा करना होगा, फिर गुप्त सशस्त्र दस्ते बनाने होंगे, जोतदारों पर हमले करने होंगे, उनके घरों में आग लगानी होगी, फसल क़ब्ज़ा करनी होगी और हथियार एकत्र करने होंगे। राजनीतिक प्रचार एवं उद्वेलन की कार्रवाई की पूरी उपेक्षा करते हुए इन लेखों में यह स्थापना दी गयी थी कि 'ऐक्शन' (जोतदारों पर 'काम्बैट ग्रुपों' के सशस्त्र व्यक्तिगत हमलों) के प्रभाव से ही जन-गोलबन्दी की शुरुआत हो जायेगी। यद्यपि इन दस्तावेज़ों में जन संगठनों और जनान्दोलनों को उसी तरह से सुधारवादी-संशोधनवादी काम नहीं करार दिया गया था, जैसाकि चारु मजुमदार ने कमोबेश 1969 से कहना शुरू कर दिया था, लेकिन सशस्त्र जनसंघर्षों के विकास में जनआन्दोलनों की कोई भूमिका बताने के बजाय सीधे गुप्त सशस्त्र दस्तों के निर्माण और ऐक्शन से ही कार्रवाई की बात की गयी थी, यानी पार्टी के कार्यभारों में जनआन्दोलन संगठित करने की कार्रवाई और राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई की सीधे-सीधे उपेक्षा की गयी थी और सीधे छापामार संघर्ष से शुरुआत की बात की गयी थी। दस्तावेज़ों में आर्थिक संघर्षों को ही अर्थवादी करार देते हुए उनकी आलोचना की गयी थी और कहा गया था कि मज़दूरों के आन्दोलनों को समर्थन देते हुए भी पार्टी ट्रेड यूनियन व क़ानूनी संघर्षों में अपना समय जाया नहीं करेगी। छठे दस्तावेज़ में माकपा को स्पष्ट शब्दों में एक संशोधनवादी पार्टी बताते हुए कतारों से उसके ढाँचे को तोड़कर नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह का आह्वान किया गया था और यह कहा गया था कि माकपा-नेतृत्व जनान्दोलनों को महज़ सरकार बनाने के लिए इस्तेमाल करना चाहता है और उसके कांग्रेस विरोधी संयुक्त मोर्चे के नारे का एकमात्र अर्थ है बुर्जुआ वर्ग का दुमछल्ला बनना। इसी दस्तावेज़ में यह भी स्पष्ट कहा गया था कि सोवियत पार्टी के संशोधनवाद की मुख़ालफ़त किये बिना क्रान्तिकारी संघर्ष आगे नहीं बढ़ सकता और आज की दुनिया में माओ ने लेनिन का स्थान ग्रहण कर लिया है, अतः उनका विरोध करने वाले वास्तव में संशोधनवाद के विरोधी नहीं हैं। दरअसल, इसकी पृष्ठभूमि में माकपा की केन्द्रीय कमेटी की हाल ही में हुई वह बैठक थी जिसमें एक प्रस्ताव पारित करके चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा भारत सरकार की आलोचना को ग़लत ठहराया गया था और यह भी कहा गया था कि सोवियत नेतृत्व की आलोचना करना अभी उचित नहीं है क्योंकि इससे लोगों के मन में समाजवाद के प्रति भरोसा घट जायेगा। इसके अतिरिक्त इन दस्तावेज़ों में, भारतीय व्यवस्था के संकट, गहराते दमन और बढ़ते जनाक्रोश की चर्चा के साथ ही चीन और पाकिस्तान के ख़िलाफ़ भारतीय शासक वर्ग द्वारा अन्धराष्ट्रवादी लहर उभाड़ने की कड़ी निन्दा की गयी थी तथा सोवियत संघ के सहयोग से बने सार्वजनिक क्षेत्र को भारतीय एकाधिकारी पूँजीपति वर्ग के हित में खड़ा किया गया उपक्रम बताया गया था।

30 अगस्त '66 को जारी चारु का छठा दस्तावेज़ 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का माओवादी केन्द्र' की ओर से जारी किया गया था। वस्तुतः इस नाम का केवल प्रतीकात्मक महत्त्व था क्योंकि ऐसा कोई केन्द्र उस समय तक अस्तित्व में नहीं आया था और इस दस्तावेज़ का लेखन अकेले चारु ने ही किया था। चारु मजुमदार के पहले लेख से ही दार्जीलिंग की कम्युनिस्ट कतारों के बीच (जो जेल से बाहर थे), बहस की शुरुआत हो चुकी थी। चारु के जेल जाने तक उनके पाँच दस्तावेज़ सीमित लोगों तक ही पहुँच सके थे। मई में जेल से बाहर आने के बाद उन्होंने चुने हुए पाँच छः युवा कार्यकर्ताओं को पाँच दस्तावेज़ों में निरूपित लाइन के प्रचार के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में भेजा। बुर्जुआ प्रेस में भी इन

दस्तावेज़ों की ख़बरें प्रकाशित हुईं और इस तथ्य से अन्य इलाकों के माकपा कार्यकर्ता और जेल में बन्दी लोग भी परिचित हुए।

अगस्त 1966 तक प्रकाशित छः दस्तावेज़ों की अन्तर्वस्तु पर यदि ग़ौर करें तो अन्तरराष्ट्रीय संशोधनवाद और माकपा के नवसंशोधनवाद से रैडिकल विच्छेद की इनमें दो टूक शब्दों में चर्चा की गयी थी और माओ विचारधारा को क्रान्तिकारी विचारधारा के रूप में स्थापित किया गया था। यह इनका मुख्य सकारात्मक पहलू था। लेकिन साथ ही, ये दस्तावेज़ भारतीय परिस्थितियों का अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम निर्धारित करने के कार्यभार की जगह उसे तयशुदा मानकर चलते थे और यह विचार रखते थे कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता पूरी तरह से चीनी क्रान्ति का रास्ता होगा। पर चीनी क्रान्ति में सशस्त्र छापामार युद्ध का रास्ता क्रान्तिकारी जनदिशा के आधार पर विकसित हुआ था, जबकि चारु मजुमदार जनकार्रवाइयों की उपेक्षा करते हुए शुरू से ही गुप्त सशस्त्र दस्तों के निर्माण और उनके 'ऐक्शन' पर ज़ोर दे रहे थे और इन्हीं के द्वारा जन-गोलबन्दी पर बल दे रहे थे। उनके अनुसार, चूँकि इन कार्रवाइयों को व्यापक जन समुदाय का समर्थन प्राप्त होगा, अतः इन्हें आतंकवाद नहीं कहा जा सकता। यही लाइन आगे चलकर नग्न "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन के रूप में सामने आयी, लेकिन वस्तुतः इस भटकाव के तत्व इन छह दस्तावेज़ों में ही स्पष्ट रूप में मौजूद थे।

जेल से दार्जीलिंग के पार्टी कार्यकर्ताओं की रिहाई के बाद, सिलीगुड़ी लोकल कमेटी के नेतृत्वकारी संगठनकर्ताओं के साथ चारु मजुमदार की बातचीत हुई। उनमें इस बात पर आम सहमति बनी कि माकपा के संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष करना होगा, भारत की मुक्ति का रास्ता चीन का रास्ता होगा, भूमि क्रान्ति को सशस्त्र संघर्ष के ज़रिये ही पूरा किया जा सकता है तथा, भूमि क्रान्ति की राजनीति का किसानों-मज़दूरों के बीच प्रचार करना होगा, उन्हें संगठित करना होगा और गुप्त पार्टी संगठन का निर्माण करना होगा। लेकिन कानू सान्याल सहित लोकल कमेटी के पार्टी संगठनकर्ताओं का विचार था कि मज़दूरों और किसानों के जन संगठन और जनान्दोलन अपरिहार्य हैं, राजनीतिक काम सशस्त्र कार्रवाई की तैयारी की अनिवार्य पूर्वशर्त है, 'पॉलिटिक्स इन कमाण्ड' के बिना 'ऐक्शन' का कोई मतलब नहीं है, जन संघर्षों के द्वारा ही संघर्ष के उच्चतर रूप विकसित किये जा सकते हैं और शहरी क्षेत्रों में भी जनसंगठन बनाने होंगे। चारु मजुमदार इस विचार से सहमत नहीं थे। ऐसी स्थिति में यह समझौता हुआ कि सिलीगुड़ी लोकल कमेटी के संगठनकर्ता नक्सलबाड़ी में अपनी लाइन लागू करेंगे और चारु मजुमदार की लाइन को उनके पक्षधर नये कार्यकर्ता नक्सलबाड़ी से सटे पश्चिमी दिनाजपुर ज़िले के चतरहाट-इस्लामपुर इलाके में लागू करेंगे।

चतरहाट-इस्लामपुर में चारु मजुमदार के छः दस्तावेज़ों के आधार पर काम की शुरुआत हुई। गुप्त दस्तों ने कुछ जोतदारों के घरों को जलाया और कुछ फसल भी रात में काट ली गयी। जनसंगठन बनाने या जनान्दोलन की कोई कोशिश नहीं की गयी। जल्दी ही 'कॉम्बैट ग्रुप' लुम्पन तत्त्वों के जमावड़े बनने लगे। 1967 में, जब नक्सलबाड़ी उभार शिखर पर था, उस समय चतरहाट-इस्लामपुर में जोतदारों ने गुप्त 'कॉम्बैट ग्रुपों' के ज्ञात सदस्यों के घरों पर संगठित होकर हमला किया। पूरी किसान आबादी ने उनका समर्थन किया। ग्रुपों के कार्यकर्ता किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और ये गुप्त दस्ते जल्दी ही बिखर गये। इस तरह चारु की लाइन का पहला प्रयोग बुरी तरह विफल रहा।

नक्सलबाड़ी में जनदिशा लागू की गयी। जिला कमेटी में बहुमत को पक्ष में करने के लिए क्रान्तिकारी पार्टी कार्यकर्ताओं ने माकपा के भीतर विचारधारात्मक संघर्ष चलाने का निर्णय लिया। जिला कमेटी के 26 सदस्यों में से 20 ने सिलीगुड़ी लोकल कमेटी की राजनीतिक लाइन को स्वीकार किया और फिर जिला कमेटी के भीतर एक गुप्त कमेटी का गठन किया गया। व्यापक प्रचार के बाद, दार्जीलिंग जिले के पहाड़ी और मैदानी इलाकों के ज़्यादातर बागान मज़दूर गुप्त जिला कमेटी की राजनीतिक लाइन का समर्थन करने लगे थे। संशोधनवादी यूनियन नेताओं से असन्तुष्ट बागान मज़दूर आर्थिक माँगों को लेकर जुझारू संघर्ष के लिए कमर कसने लगे। 1966 के उत्तरार्द्ध का पूरा समय ऐसा था जब दार्जीलिंग जिले में नक्सलबाड़ी किसान उभार की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। सितम्बर 1966 में चाय उद्योग में हुई नौ दिनों की आम हड़ताल इस दौर की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। जलपाईगुड़ी जिले में हड़ताल जब टूटने की ओर अग्रसर थी, उस समय भी दार्जीलिंग में मज़दूर डटे हुए थे। लाल झण्डा यूनियन के मज़दूरों के साथ ही अन्य यूनियनों के मज़दूर और बागानों के असंगठित मज़दूर भी हड़ताल में शामिल हो गये थे। इससे भयभीत संशोधनवादी नेता पूरी कोशिश कर रहे थे कि कोई 'सेटलमेण्ट' हो जाये। दार्जीलिंग में 25,000 से अधिक मज़दूरों ने दमन करने आयी पुलिस का जमकर मुकाबला किया जिसमें पुलिस की गोली से एक मज़दूर शहीद हुआ। इस पूरे दौरान, खेती-बाड़ी के व्यस्त समय के कामों के बावजूद, नक्सलबाड़ी के किसान दृढ़तापूर्वक हड़ताली मज़दूरों का साथ देते रहे। पुलिस के साथ कई बार उनकी झड़प भी हुई। बिना किसी बुनियादी माँग के पूरा हुए, हड़ताल वापस लेने की वजह से संशोधनवादी मज़दूरों में एकदम अलग-थलग पड़ गये। गुप्त जिला कमेटी और लोकल कमेटी के कार्यकर्ताओं ने इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया। प्लाण्टेशन यूनियनों के शाखा सम्मेलनों ने भूमि क्रान्ति के कार्यक्रम के समर्थन में प्रस्ताव पारित किया। पर्वतीय क्षेत्र के चाय बागान मज़दूरों के वार्षिक सम्मेलन ने संशोधनवादी नेताओं की कठोर निन्दा करते हुए उन्हें ट्रेड यूनियनों से निकाल बाहर किया। नक्सलबाड़ी के प्लाण्टेशन मज़दूरों के वार्षिक सम्मेलन ने भूमि-संघर्ष शुरू करने के लिए किसानों का आह्वान करते हुए प्रस्ताव पारित किया। इस तरह, चारु मजुमदार की "वाम" संकीर्णतावादी लाइन का विरोध करते हुए नक्सलबाड़ी में और समग्रता में दार्जीलिंग जिले में, कानू सान्याल और अन्य पार्टी संगठनकर्ताओं ने जो लाइन लागू की, उसके परिणामस्वरूप इलाके में मज़दूरों और किसानों का जुझारू और मज़बूत संश्रय अस्तित्व में आया, पुरानी ट्रेड यूनियनों और जनसंगठनों पर क्रान्तिकारी लाइन का वर्चस्व स्थापित हुआ और नयी यूनियनों व अन्य जनसंगठनों का निर्माण हुआ। मज़दूर-किसान संश्रय की मज़बूती को इस बात से समझा जा सकता है कि नक्सलबाड़ी उभार के दौरान चाय बागानों के मज़दूरों ने उसके समर्थन में तीन बार आम हड़तालें की थीं।

'आठ दस्तावेज़ शृंखला' के सातवें और आठवें दस्तावेज़ – 'संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष कर सशस्त्र पार्टीजन संघर्ष गठित करें' और 'संशोधनवाद के खिलाफ संघर्ष करके ही किसान संघर्ष को आगे बढ़ाना होगा' – चारु मजुमदार ने दार्जीलिंग जिले में, और विशेषकर सिलीगुड़ी के नक्सलबाड़ी क्षेत्र में मज़दूरों-किसानों के जनान्दोलनों की उपरोक्त घटनाओं के बाद लिखे। सातवाँ दस्तावेज़ फरवरी 1967 के आम चुनाव के ठीक पहले और आठवाँ दस्तावेज़ अप्रैल, 1967 में लिखा गया। दार्जीलिंग में विरोधी लाइन के सफल व्यवहार ने चारु मजुमदार को विवश किया कि वे अपने इन दस्तावेज़ों में खुली जनकार्रवाइयों, आर्थिक संघर्षों

और राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई का महत्त्व स्वीकार करें, लेकिन ये दस्तावेज़ भी अतिवामपन्थी भटकाव से मुक्त नहीं थे। इन दस्तावेज़ों में जनता को संगठित करने के प्रारम्भिक चरण से ही हथियार संग्रह और गुप्त सशस्त्र दस्ते संगठित करने की बात की गयी थी, जनकार्रवाइयों की और जनसंगठन बनाने की कोई स्पष्ट योजना नहीं रखी गयी थी, उन्हें प्रकारान्तर से सशस्त्र कार्रवाइयों के पूरक मात्र का दर्ज़ा दे दिया गया था, क्रान्तिकारी शहरी मध्यवर्ग और मज़दूर वर्ग के समक्ष उनके वर्गीय माँगों पर संघर्ष या साझा संघर्ष का कोई कार्यक्रम नहीं रखा गया था, उनका एकमात्र कार्यभार भूमि संघर्ष का समर्थन करना और उसमें भागीदारी करना बताया गया था, तथा भूमि क्रान्ति के ठोस कार्यक्रम और नारे तय कने की आवश्यकता की जगह बस सशस्त्र दस्तों के द्वारा भूस्वामियों की फसल और ज़मीन पर क़ब्ज़े की बात की गयी थी। इन दस्तावेज़ों का सकारात्मक पक्ष यह था कि इनमें एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन पर ठोस रूप में ज़ोर दिया गया था तथा माकपा नेतृत्व की वर्ग सहयोगवादी राजनीति और हर प्रकार के संशोधनवाद के विरुद्ध समझौताहीन संघर्ष करते हुए किसान संघर्ष को आगे बढ़ाने की बात की गयी थी। आने वाले समय ने यह सिद्ध किया कि चारु ने जनदिशा पर सफल अमल और उससे निर्मित माहौल के दबाव में बस थोड़े समय के लिए अपने कदम पीछे खींच लिये थे, अन्यथा अपनी लाइन पर वे सर्वथा सुसंगत और दृढ़ थे। नक्सलबाड़ी में जनदिशा का नेतृत्व करने वाले लोगों की विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण जैसे ही आन्दोलन में गतिरोध पैदा हुआ, वैसे ही चारु ने विकल्प के तौर पर अपनी लाइन आगे बढ़ा दी, हर प्रकार के खुले, क़ानूनी और आर्थिक संघर्ष के रूपों, जनान्दोलनों और जनसंगठनों को संशोधनवाद बताते हुए गुप्त सशस्त्र दस्ते बनाकर वर्ग-शत्रुओं के सफाये को ही छापामार-युद्ध घोषित कर दिया और अत्यन्त भोंड़े विकृत रूप में आतंकवादी लाइन पेश की। लेकिन यह अभी आगे की बात है।

1966 में दार्जीलिंग जिले में, विशेषकर नक्सलबाड़ी क्षेत्र में संशोधनवाद के विरुद्ध जो संघर्ष चल रहा था और मज़दूरों-किसानों के जो जुझारू संघर्ष लगातार विकसित हो रहे थे, सिलीगुड़ी लोकल कमेटी का नेता और दार्जीलिंग जिला कमेटी का सदस्य होने के नाते इन सबमें नेतृत्वकारी भूमिका चारु मजुमदार की ही मानी जा रही थी। संशोधनवादी, दार्जीलिंग के बाहर की कम्युनिस्ट कतारें और बुर्जुआ दायरे के लोग भी यही समझ रहे थे। चारु मजुमदार और नक्सलबाड़ी के स्थानीय संगठनकर्ताओं के बीच के मतभेद की जानकारी दार्जीलिंग जिला कमेटी के भीतर काम कर रही 'गुप्त कमेटी' तक ही सीमित थी। अक्टूबर, 1966 में माकपा राज्य कमेटी और केन्द्रीय कमेटी के कुछ नेतागण चारु मजुमदार को समझाने सिलीगुड़ी आये, पर उन्होंने उनकी बात मानने से इन्कार कर दिया। इसके पहले जुलाई, 1966 में भी बंगाल राज्य कमेटी के सचिव प्रमोद दास गुप्त उन्हें समझाने-बुझाने के लिए सिलीगुड़ी आये थे और विफल लौट गये थे।

नवम्बर, 1966 में दार्जीलिंग जिले में एक किसान सम्मेलन हुआ जिसमें यह तय हुआ कि बटाईदार किसान फसल का कोई भी हिस्सा जोतदारों को नहीं देंगे। फरवरी, 1967 में विधानसभा चुनाव हुए जिसमें जंगल सन्थाल और सौरेन बसु को क्रमशः फाँसीदेवा और सिलीगुड़ी से पार्टी का टिकट मिला। इस चुनाव के मसले पर भी दार्जीलिंग के पार्टी कार्यकर्ताओं और कुछ नये कार्यकर्ताओं में मतभेद था। दार्जीलिंग के कार्यकर्ताओं का निर्णय था कि इस चुनाव का इस्तेमाल क्रान्तिकारी राजनीति के प्रचार के लिए किया जाये और ऐसा ही

किया गया। इसका पर्याप्त लाभ मिला। चुनाव के ठीक बाद, बटाईदारों ने जोतदारों के विरुद्ध फसल-ज़ब्ती का आन्दोलन शुरू कर दिया। किसानों के कई इलाका सम्मेलन हुए जिनमें जोतदारों के क़ब्ज़े की ज़मीन जब्त करने का आन्दोलन शुरू करने के लिए प्रस्ताव पारित किये गये। 7 मई 1967 को सिलीगुड़ी सबडिवीज़नल किसान सम्मेलन हुआ जिसमें यह निर्णय लिया गया कि किसान जोतदारों की ज़मीन पर क़ब्ज़ा और किसान समितियों के माध्यम से उनके पुनर्वितरण का काम शुरू कर दें, जोतदारों के प्रतिरोध का मुक़ाबला करने के लिए हथियारबन्द हो जायें और गाँवों में किसान समितियाँ प्रशासन का काम अपने हाथों में ले लें। इस समय तक पश्चिम बंगाल में ग़ैरकांग्रेसी दलों की संयुक्त मोर्चे की सरकार सत्तारूढ़ हो चुकी थी जिसमें माकपा सबसे बड़ी पार्टनर थी और उसका चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा नंगा होता जा रहा था। 8 मई से नक्सलबाड़ी, खेरीबाड़ी, फाँसीदेवा और सिलीगुड़ी थानों के कई गाँवों से किसान-विद्रोह की शुरुआत हो गयी।

नक्सलबाड़ी किसान-उभार के विस्तार में जाने से पहले यह ज़रूरी है कि प. बंगाल में और देश के अन्य हिस्सों में माकपा के नवसंशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष और विद्रोह की जो प्रक्रिया 1964 से लगातार आगे बढ़ रही थी, उसकी चर्चा के छूटे हुए सिरे को पकड़कर आगे बढ़ायें। ऊपर हमने कन्हाई चटर्जी-अमूल्य सेन के नेतृत्व वाले कम्युनिस्ट ग्रुप की और उसके द्वारा प्रकाशित 'चिन्ता' बुलेटिन के छः अंकों की चर्चा की है। 'चिन्ता' ने अपने अंकों में प्रकाशित लेखों में भूमि क्रान्ति के प्रश्न को और इसे पूरा करने के लिए सशस्त्र संघर्ष की अपरिहार्यता को, क्रान्ति के दीर्घकालिक लोकयुद्ध के मार्ग के प्रश्न को, भारतीय राष्ट्र के नवऔपनिवेशिक चरित्र के प्रश्न को और संशोधनवाद के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष के प्रश्न को व्यवस्थित ढंग से उठाया। कतारों के बीच वितरित होने वाला यह गुप्त प्रकाशन काफ़ी लोकप्रिय हो रहा था और बंगाल में संशोधनवादियों के लिए ख़ासा सिरदर्द पैदा कर रहा था। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि माकपा के केन्द्रीय मुखपत्र 'पीपुल्स डेमोक्रेसी' और 'स्वाधीनता' में तथा राज्य कमेटी के मुखपत्र 'देशहितैषी' में 'चिन्ता' के लेखों के विरुद्ध कई लेख प्रकाशित हुए। 1966 के मध्य में 'चिन्ता' से जुड़े या उससे मिलते-जुलते विचार रखने वाले पश्चिम बंगाल के कई क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को "उग्रवादी" करार देकर संगठन से बाहर कर दिया गया। तब बहस को और व्यापक स्तर पर आम कतारों तक पहुँचाने के लिए कन्हाई चटर्जी-अमूल्य सेन के ग्रुप ने 'दक्षिण देश' नामक खुली पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। 1966 से लेकर अक्टूबर 1969 में 'माओवादी कम्युनिस्ट केन्द्र' के गठन तक 'दक्षिण देश' पत्रिका ने साम्राज्यवाद, नवउपनिवेशवाद, सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद, भारतीय राष्ट्र के चरित्र, भारतीय क्रान्ति की रणनीति और रणकौशल सम्बन्धी समस्याओं, क्रान्तिकारी प्रचार कार्य की जनदिशा, छापामार संघर्ष, संशोधनवाद, अर्थवाद, संसदवाद, स्वत:स्फूर्ततावाद आदि विषयों पर कई महत्त्वपूर्ण लेख छापे। इन लेखों ने माकपा के संशोधनवाद के विरुद्ध कतारों की शिक्षा में विशेष मदद की। साथ ही, इसी पत्रिका के ज़रिये दक्षिण देश ग्रुप ने आगे चलकर ए.आई.सी.सी.सी.आर. पर हावी चारु मजुमदार गुट की लाइन की परोक्ष आलोचना रखते हुए मतभेद के प्रश्नों पर अपनी अवस्थिति भी रखी। इस कालखण्ड की चर्चा लेख में आगे आयेगी। पत्रिका ने इस ग्रुप के आरम्भिक राजनीतिक सुदृढ़ीकरण में काफी सहायता की और इसकी अवस्थिति से सहमत कार्यकर्ताओं को लेकर एक प्रारम्भिक सांगठनिक ढाँचा भी खड़ा हो गया, जिन्हें लेकर मज़दूरों, छात्रों, बुद्धिजीवियों

के बीच कामों की शुरुआत हुई। 1966 के अन्त से इस ग्रुप ने 24 परगना जिले के सोनारपुर इलाके में किसानों के बीच काम की शुरुआत की जहाँ 1967 के अक्टूबर में, नक्सलबाड़ी विद्रोह के पाँच महीने बाद किसानों का सशस्त्र संघर्ष भड़क उठा जिसे मोर्चा सरकार के बर्बर पुलिस दमन का सामना करना पड़ा।

1966 में ही बंगाल में स्वत:स्फूर्त ढंग से खाद्य आन्दोलन की शुरुआत हुई, जो विशेष रूप से कलकत्ता और निकटवर्ती क्षेत्रों में अधिक तेज़ था। उस समय माकपा के, बंगाल के केन्द्रीय और राज्य स्तरीय नेताओं की पूरी पुरानी पीढ़ी जेल में थी और पार्टी गतिविधियों के संचालन के लिए लगभग सभी युवा और नये चेहरों को लेकर एक नया राज्य स्तरीय नेतृत्व संगठित किया गया था। इस नये नेतृत्व ने खाद्य आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए सभी वाम पार्टियों का एक संयुक्त मोर्चा बनाया। लेकिन इस मोर्चे के नेता स्वयंस्फूर्त आन्दोलन को नेतृत्व देने के बजाय जनता के पीछे-पीछे रेंग रहे थे। ज़बर्दस्त पुलिस दमन से आन्दोलन तो बिखर गया, लेकिन माकपा के नये राज्यस्तरीय नेतृत्व की युवा पीढ़ी ने इसके समाहार के आधार पर, अन्य वाम दलों को छोड़कर, स्वयं अपने बूते पर इस आन्दोलन को पुनस्संगठित करने और आगे ले जाने की एक योजना बनाई। यह तय किया गया कि आन्दोलन को विस्तारित करके गाँवों तक ले जाया जाये, भूस्वामियों की फसल बलपूर्वक ज़ब्त करने का नारा दिया जाये और प्रभावी प्रतिरोध की तैयारी के लिए ज़रूरी संगठन खड़े किये जायें। इसी समय पुरानी पीढ़ी के नेतागण जेल से छूटकर बाहर आये। शहीद मैदान मीनार में जनता का गर्मजोशी भरा अभिनन्दन स्वीकार करते हुए इन नेताओं ने खाद्य आन्दोलन में जनता की जुझारू भागीदारी की प्रशंसा की और आन्दोलन को आगे बढ़ाने का संकल्प प्रकट किया। लेकिन मंच से नीचे उतरते ही उन्होंने आगामी फरवरी, 1967 में होने वाले चौथे आम चुनाव में संयुक्त मोर्चा बनाकर भागीदारी करने के लिए भाकपा नेताओं के साथ बन्द कमरों में मीटिंगें शुरू दीं। यह कतारों में व्याप्त भावना के एकदम विपरीत था, जो भाकपा को दुश्मन से कम कुछ भी नहीं समझती थीं। खाद्य आन्दोलन के जुझारू तेवर को भूख हड़ताल का नरम रास्ता अपनाकर कुन्द बनाने के भाकपा के प्रयासों का अनुभव अभी ताज़ा ही था। नतीज़तन, कतारों ने पुराने नेतृत्व की खिल्ली उड़ानी शुरू कर दी। जो नया युवा नेतृत्व था, उसने देखा कि जेल से लौटने के बाद पुरानी पीढ़ी के नेता 'देशहितैषी' और 'नन्दन' के सम्पादकमण्डल के कामों में कदम-कदम पर हस्तक्षेप कर रहे हैं और रोक लगा रहे हैं जो रैडिकल क्रान्तिकारी लाइन पर प्रचार-कार्य को जारी रखना चाहता था। खाद्य आन्दोलन में भाकपा की भूमिका को उजागर करने के लिए मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान की ओर से प्रकाशित पुस्तिका 'भूख हड़ताल का दर्शन' के वितरण को रोक देने का निर्देश जारी किया गया। जेल जाने से पहले मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान की शुरुआत का जिस नेतृत्व ने स्वागत किया था और समर्थन दिया था, उसी ने बाहर आने के बाद इसके कामों को तरह-तरह से रोकना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि बुनियादी मार्क्सवाद की विभिन्न स्तरों पर चलने वाली कक्षाएँ भी रोक दी गयीं और कहा गया कि कक्षाओं में केवल पार्टी कार्यक्रम के सूत्रों के औचित्य की ही व्याख्या की जानी चाहिए। खाद्य आन्दोलन को जुझारू ढंग से आगे बढ़ाने की सारी योजनाओं को स्थगित कर दिया गया। यहाँ तक कि जनता की क्रान्तिकारी पहलकदमी को खोलने वाले स्थानीय आंशिक संघर्षों को भी तरह-तरह की तिकड़मों से और नौकरशाहाना तौर-तरीकों से रोका

जाने लगा। इन सभी कार्रवाइयों के चलते, माकपा के गठन के समय से ही जारी अन्तर्पार्टी संघर्ष और अधिक गहरा हो गया। भाकपा के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की कोशिशें चुनाव के पहले तो परवान नहीं चढ़ सकीं लेकिन चुनाव के बाद भाकपा, कांग्रेस से अलग होकर बनी बांगला कांग्रेस और सभी गैर कांग्रेसी विपक्षी दलों को साथ लेकर माकपा ने संयुक्त मोर्चे की सरकार बनायी जिसमें गृह और पुलिस विभाग के मन्त्री ज्योति बसु बने। माकपा नेतृत्व का एकमात्र तर्क यह था कि मोर्चे की सरकार में पार्टी के शामिल होने से रैडिकल भूमि-सुधारों के लिए संघर्ष सहित वर्ग संघर्ष को गति मिलेगी और पुलिस दमन से जनता का बचाव होगा। लेकिन कतारों के सामने पार्टी नेतृत्व का संशोधनवादी-संसदवादी-अर्थवादी और नौकरशाह-चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा नंगा होता जा रहा था। नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के फूट पड़ने की घटना और राज्य सरकार द्वारा उसके बर्बर पुलिस दमन ने माकपा नेतृत्व को कतारों के सामने पूरी तरह से नंगा कर दिया था। 1967-68 के दौरान कलकत्ता और कुछ जिलों में तो ऐसी स्थिति थी कि यदि नक्सलबाड़ी विद्रोह के बाद गठित 'कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' (ए.आई.सी.सी.सी.आर.) में चारु की वामपन्थी आतंकवादी लाइन हावी नहीं होती और यदि जनसंगठनों और जनकार्रवाइयों का पूर्ण परित्याग नहीं किया जाता तो मज़दूरों, किसानों, छात्रों, बुद्धिजीवियों के मोर्चे पर कार्यरत कतारों का बहुलांश क्रान्तिकारी धारा के साथ आ खड़ा होता और माकपा के लिए कम से कम प. बंगाल में, अस्तित्व का संकट पैदा हो जाता।

ज्ञातव्य है कि कलकत्ता में 1965 से ही माकपा के भीतर सुशीतल राय चौधरी, सरोज दत्त, परिमल दास गुप्त, असित सेन, प्रमोद सेनगुप्त आदि ने 'अन्तर्पार्टी संशोधनवाद विरोधी कमेटी' बना रखी थी। इस कमेटी से चारु मजुमदार ने 1966 के मध्य में सम्पर्क स्थापित कर लिया था। 'पार्टी के भीतर पार्टी बनाने' का नारा उन दिनों खूब प्रचलित हुआ था और माकपा के भीतर इसी तरह के संशोधनवाद-विरोधी ग्रुप बंगाल के विभिन्न अंचलों के अतिरिक्त आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार में भी अस्तित्व में आ चुके थे। 1966 के अन्त में दार्जीलिंग जिले के क्रान्तिकारी धड़े के साथ 'दक्षिण देश ग्रुप' का भी सम्पर्क स्थापित हो चुका था और 1967 के प्रारम्भ में चारु मजुमदार के साथ उनकी लम्बी बातचीत हुई। दक्षिण देश ग्रुप चुनाव में जंगल सन्थाल और सौरेन बसु को प्रत्याशी बनाये जाने के निर्णय से सहमत नहीं था, बावजूद इसके संशोधनवाद-विरोधी संघर्ष को व्यापक बनाने, किसानों के बीच यथाशक्ति काम को मज़बूत बनाने और परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क रखने पर दोनों पक्षों में सहमति बनी थी।

3 मई 1967 की सुबह, नक्सलबाड़ी और निकटवर्ती तीन थानों के कुछ गाँवों से एक साथ किसान विद्रोह की शुरुआत हुई। बड़ी संख्या में तीर-धनुष से लैस किसान लाल झण्डा उड़ाते हुए जोतदारों के क़ब्ज़े की ज़मीनों और फसलों पर क़ब्ज़ा करने लगे। उनकी बन्दूकें भी ज़ब्त की जाने लगीं। इसी दौरान नक्सलबाड़ी थाने के एक गाँव में घटने वाली एक छोटी-सी घटना ने संघर्ष को नया मोड़ दे दिया। बिगुल नामक एक भूमिहीन किसान को दीवानी अदालत से कुछ ज़मीन पर अधिकार मिला था जिसे स्थानीय जोतदार ईश्वर टिर्की ने मार-पीटकर बेदख़ल करने की कोशिश की। इस पर स्थानीय किसानों ने एकजुट होकर ईश्वर टिर्की के लठैतों को मार भगाया। ख़बर मिलते ही, हमेशा की तरह 23 मई '67 को किसानों को सबक सिखाने और जोतदार की मदद करने जब पुलिस पहुँची तो तीर-धनुष से लैस तीन हज़ार किसानों ने उसे घेर लिया। इस झड़प में कई लोग घायल हुए

जिनमें पुलिस टुकड़ी के भी तीन आदमी थे। इनमें से इंस्पेक्टर सुनाम वांगदी की दो दिनों बाद अस्पताल में मौत हो गयी। विद्रोही किसानों को कुचलने के लिए उसी दिन, यानी 25 मई को पुलिस की एक बड़ी सशस्त्र टुकड़ी फिर गाँव में पहुँची। उस समय वहाँ किसान विद्रोह के पक्ष में स्त्रियों का एक जुलूस निकल रहा था, जिस पर पुलिस ने अन्धाधुन्ध फायरिंग की। इसमें सात स्त्रियों और दो बच्चों सहित दस लोग शहीद हो गये। इस घटना ने बारूद की ढेरी में पलीता लगाने का काम किया। देखते ही देखते पूरे नक्सलबाड़ी में विद्रोह की आग धधकने लगी। ज़मीन और फसल पर क़ब्ज़े की मुहिम तेज़ हो गयी। हज़ारों की तादाद में किसान जगह-जगह एकत्र होते थे, जोतदारों की ज़मीन पर झण्डे गाड़ते थे और ज़ालिम जोतदारों के घरों पर भी धावा बोलते थे। नक्सलबाड़ी पूरे देश में चर्चा का विषय बन गया। 25 मई हत्याकाण्ड के विरोध में चाय बागान मज़दूरों ने हड़ताल कर दी। सिलीगुड़ी में रेल और बिजली मज़दूरों का एक बड़ा जुलूस निकला। शिक्षक, छात्र और आम मध्यवर्ग के लोग भी सड़क पर उतरे। सत्तारूढ़ माकपाई संशोधनवादियों में बदहवासी का आलम था। राज्य के तत्कालीन भूमि और भू-राजस्व मन्त्री हरे कृष्ण कोनार एक और मन्त्री, भाकपा के विश्वनाथ मुखर्जी को साथ लेकर भागे-भागे सिलीगुड़ी पहुँचे। कोनार अभी हाल ही में वियतनाम से वर्ग संघर्ष के अनुभवों से "लैस" होकर लौटे थे! भूमि-प्रश्न के पुराने विशेषज्ञ थे। नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह की गम्भीर स्थिति से निपटने के लिए उनसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति भला और कौन हो सकता था! कोनार सिलीगुड़ी पहुँचकर न तो दार्जीलिंग जिला कमेटी के लोगों से और न ही सिलीगुड़ी के किसान संगठनकर्ताओं से मिले। इसकी जगह सुखना फॉरेस्ट गेस्ट हाउस में शीर्ष पुलिस अधिकारियों के साथ गुप्त बैठक करके वे लौट गये। उधर माकपा के राज्यस्तरीय नेताओं ने सिलीगुड़ी के कई दौरे किये और भूमिगत किसान नेताओं के आत्मसमर्पण की कोशिशें करते रहे। उनका तर्क वही पुराना था कि चूँकि वे अब मन्त्रिमण्डल में हैं, इसलिए आन्दोलन वापस ले लिये जाने पर किसानों की शिकायतें दूर कर दी जायेंगी। लेकिन कार्यकर्ताओं को संशोधनवादी नेतृत्व पर अब रत्ती भर भी भरोसा नहीं रह गया था। ग़ौरतलब है कि माकपा नेताओं ने किसानों की हत्या पर कोई भी शोक नहीं जतलाया। इसके उलट, प्रमोद दासगुप्त ने बयान दिया कि इंस्पेक्टर सुनाम वांगदी की हत्या की प्रतिक्रिया में पुलिस ने उक्त कार्रवाई की थी।

आन्दोलन वापस लिये जाने की सरकारी कोशिशों की विफलता के बाद एक पखवारे का समय भी न बीता था कि राज्य पुलिस और केन्द्र सरकार के अर्द्धसैनिक बलों ने नक्सलबाड़ी में प्रचण्ड दमन चक्र की शुरुआत कर दी। दो हज़ार से भी कुछ अधिक लोग गिरफ़्तार कर लिये गये। फिर भी कानू सान्याल और जंगल सन्थाल सहित कुछ नेतृत्वकारी संगठनकर्ता भूमिगत रहकर संघर्ष को जारी रखने की कोशिश करते रहे। जंगल सन्थाल कुछ महीनों बाद गिरफ़्तार हुए। कानू सान्याल डेढ़ वर्ष बाद गिरफ़्तार किये जा सके। पूरे इलाके में आतंक-राज क़ायम किये जाने के बावजूद, इस किसान उभार को कुचलने में सरकार को तीन महीने से भी कुछ अधिक समय लग गया।

इस जन-विद्रोह ने नक्सलबाड़ी के किसानों की क्रान्तिकारी पहलकदमी और सर्जनात्मकमता को निर्बन्ध कर दिया। 'नक्सलबाड़ी कृषक समिति' द्वारा निर्धारित फौरी कार्यक्रम को लागू करते हुए किसानों ने जोतदारों के क़ब्ज़े की ज़मीन को अपने क़ब्ज़े में लेकर किसान समितियों के माध्यम से उसका पुनर्वितरण शुरू कर दिया। भू-स्वामित्व सम्बन्धी

पुराने सरकारी काग़ज़ात और कर्ज सम्बन्धी काग़ज़ात को सार्वजनिक सभाओं में जला दिया गया। जोतदारों और सूदखोरों के कर्जों को रद्द कर दिया गया और कर्ज़ के एवज़ में गिरवी पड़ी ज़मीनें व अन्य सामान किसानों से जब्त किये गये हल-बैल और अन्य सामान जब्त करके उन्हें किसानों में बाँट दिया गया। ज़ालिम जोतदारों, उनकी मदद करने वाले गुण्डों और सूदखोरों पर किसान समितियों ने खुली अदालतें लगाकर सज़ाएँ सुनायीं और उन्हें तामील किया। कुछ मामलों में मृत्युदण्ड भी दिये गये। बुर्जुआ कोर्ट-क़ानून-प्रशासन की मान्यता को ख़ारिज करते हुए किसान समितियों ने घोषित किया कि केन्द्रीय और इलाकाई क्रान्तिकारी कमेटियों के निर्णय ही क़ानून होंगे। गाँवों के आम प्रशासन – चौकीदारी, आपसी विवाद के निपटारे, स्कूलों की व्यवस्था आदि कामों को भी किसान समितियों ने अपने हाथों में लेने की घोषणा कर दी। जोतदारों के प्रतिरोध का किसानों ने हथियारबन्द होकर मुक़ाबला किया और इन कामों की शुरुआत की। लेकिन यह प्रक्रिया बहुत दिनों तक जारी नहीं रह सकी और बहुत आगे तक नहीं जा सकी। राज्य और केन्द्र के पुलिस बलों ने जब दमन की सुसंगठित मुहिम चलाई और नेतृत्व के ज़्यादातर लोगों को गिरफ़्तार कर लिया गया तो संघर्ष धीरे-धीरे कमज़ोर पड़ने लगा और बिखरने लगा। फिर भी सरकार को स्थिति पर पूरी तरह से नियन्त्रण स्थापित करने में सितम्बर माह तक का समय लग गया।

इस दौरान नक्सलबाड़ी पूरे देश में चर्चा का केन्द्रीय विषय बना रहा। देश के अखबारों में नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह और उसके नेतृत्व की कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी राजनीति की खबरें प्रमुखता के साथ छपती रहीं। कैबिनेट सब-कमेटी ने नक्सलबाड़ी का दौरा किया। बुर्जुआ अर्थशास्त्री, राजनीतिक सिद्धान्तकार, पत्रकार, मार्क्सवादी व बुर्जुआ अकादमीशियन और सरकारी कम्युनिस्ट – सबकी कमोबेश एक ही राय थी कि यदि नक्सलबाड़ी जैसे विस्फोटों से और उनके सम्भावित "भयावह" नतीजों से बचना है तो बुर्जुआ भूमि-सुधारों की गति थोड़ी और तेज़ करनी होगी, भूमि हदबन्दी क़ानून को कम से कम कुछ हद तक प्रभावी बनाना होगा, किसानों के मालिकाने के सवाल के बुर्जुआ हल की दिशा में कुछ प्रभावी कदम उठाने होंगे और भूमिहीनों में ज़मीन वितरण के कुछ बुर्जुआ सुधारवादी कार्यक्रम सरकारी-ग़ैरसरकारी स्तर पर हाथ में लेने होंगे। यह वह समय था जब भारतीय पूँजीपति वर्ग राष्ट्रीय बाज़ार के दायरे और पहुँच-पकड़ के विस्तार के लिए गाँवों में प्राक्पूँजीवादी सम्बन्धों को बदलने की प्रक्रिया में ऊपर से, और क्रमिक परिवर्तन के "प्रशियाई मार्ग" पर धीरे-धीरे कदम बढ़ा रहा था। देश के कुछ हिस्सों में उभरे कुलकों-फार्मरों की प्रेशर-लॉबियाँ कांग्रेस पर इसके लिए दबाव भी बना रही थीं। इधर साम्राज्यवादी भी सीधे "सहायता" और अन्तरराष्ट्रीय एजेन्सियों के ज़रिये भारत सहित तीसरी दुनिया के अधिकांश महत्त्वपूर्ण देशों में गाँवों में पूँजीवादी विकास करके कृषि में पूँजी निवेश का स्कोप बढ़ाना चाह रहे थे और इसलिए "हरित क्रान्ति" मार्का कृषि-नीतियों पर अमल के लिए वे भारत, इण्डोनेशिया, मलयेशिया, फिलिप्पींस, श्रीलंका आदि देशों के बुर्जुआ वर्ग को पूरी मदद देने के लिए तत्पर थे। साठ के दशक के उत्तरार्द्ध में साम्राज्यवादियों और भारतीय पूँजीपति वर्ग के अपने वर्ग-हितों के तक़ाजे से, पहले से ही जारी भूमि सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया एक नये दौर में प्रवेश कर रही थी। नक्सलबाड़ी किसान-उभार ने इस प्रक्रिया को और तेज़ करने और सुव्यवस्थित ढंग से बुर्जुआ भूमि-सुधार को लागू करने के लिए भारतीय शासक वर्ग पर दबाव बनाया जिसके चलते भारतीय समाज के पूँजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया तेज़ हो गयी, देश के

जिन हिस्सों में अभी भी भूमि सम्बन्धों की प्रकृति मुख्यतः प्राक्पूँजीवादी थी, या जहाँ अभी भी प्राक्पूँजीवादी अवशेष बहुत अधिक थे, या फिर जहाँ एक संक्रमणशील पिछड़ी किसानी अर्थव्यवस्था मौजूद थी, उन सभी हिस्सों में पूँजीवादी संक्रमण की गति तेज़ हो गयी। सत्तर के दशक में ही देश के अधिकांश हिस्से में गाँवों में पूँजीवादी वर्गीय संरचना और पूँजीवादी ध्रुवीकरण की स्थिति एकदम स्पष्ट हो चुकी थी। नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के तत्काल बाद, जयप्रकाश नारायण ने विनोबा के सर्वोदय, भूदान, ग्रामदान में कूदकर उसमें जान डालने की पूरी कोशिश की। यह अनायास नहीं कि मुशहरी (बिहार) में और देश के अन्य "नक्सल प्रभावित" इलाकों और भूमि-संघर्ष के सम्भावना सम्पन्न क्षेत्रों में ही जयप्रकाश नारायण ने डेरा डालकर ताकत लगाने का काम किया था और वर्ग संघर्ष की आग पर ठण्डे पानी के छींटे डालने का काम किया था। बंगाल में बरगादारों के पंजीकरण के द्वारा ज़मीन के मालिकाने को आंशिक ढंग से और बुर्जुआ रास्ते से हल करके माकपा के नेतृत्व वाली वाम सरकार ने गाँवों में पूँजीवादी विकास की राह बनाने का वही काम किया जो प्रशा के बिस्मार्क ने और ज़ार के मन्त्री स्तोलिपिन ने किया था। इससे भूमि संघर्षों का तनाव विघटित हो गया और गाँवों में वर्ग-सम्बन्धों में बदलाव के साथ ही बंगाल के गाँवों में नये पैदा हुए निरंकुश कुलकों में माकपा का नया सामाजिक आधार तैयार हुआ। कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि नक्सलबाड़ी किसान-उभार का एक महत्त्वपूर्ण अनुवर्ती प्रभाव और उपजात (बाई प्रोडक्ट) यह था कि बुर्जुआ भूमि सुधार की गति तेज़ करने के लिए भारतीय शासक वर्ग पर एक दबाव निर्मित हुआ और भारतीय समाज के पूँजीवादीकरण की प्रक्रिया मुक़म्मल होने की समयावधि सिकुड़कर थोड़ी और छोटी हो गयी। बहरहाल, नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह का यह लक्ष्य नहीं बल्कि वस्तुगत प्रभाव था। लेकिन इस प्रभाव ने भी वस्तुगत तौर पर समाज-विकास की गति पर प्रगतिशील प्रभाव ही छोड़ा। पूँजीवादी वर्ग-सम्बन्धों के स्पष्ट और तीव्र होने के साथ ही यह समझना और तय कर पाना अधिक आसान हो गया कि भारतीय क्रान्ति की प्रकृति अब राष्ट्रीय जनवादी न होकर समाजवादी ही होगी।

पर जैसाकि ऊपर कहा गया है, उपरोक्त प्रक्रिया नक्सलबाड़ी का उपजात, अनुवर्ती प्रभाव था। यह एक ऐतिहासिक जनविद्रोह का शासक वर्ग की नीतियों पर पड़ने वाला प्रभाव था। देश के एक सुदूर छोटे-से अंचल के जनउभार ने शासक वर्ग को सोचने के लिए विवश ही इसलिए किया कि इसमें निहित क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ स्पष्ट थीं। नक्सलबाड़ी किसान-उभार के दमन और बिखराव के बावजूद, पूरे देश के कम्युनिस्ट आन्दोलन पर उसका जो प्रभाव पड़ा, उसने इस बात को और अधिक स्पष्ट कर दिया। नक्सलबाड़ी कोई स्वयंस्फूर्त किसान-विद्रोह नहीं था। उसके पीछे ऐसे उदीयमान कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्व सक्रिय थे जो संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद करके नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन के लिए संकल्पबद्ध हो चुके थे। इन कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्वों को ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध चीन की पार्टी द्वारा चलायी गयी 'महान बहस' से विचारधारात्मक दिशा मिली थी और 1966 से चीन में पार्टी और राज्य के पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध शुरू हुई 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' ने उन्हें यह राह सुझायी थी कि पार्टी के नेतृत्व पर हावी संशोधनवादियों के विरुद्ध विद्रोह करके नये क्रान्तिकारी केन्द्र की स्थापना ही एकमात्र उचित और सही रास्ता है। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में जारी विचारधारात्मक बहस में पक्ष न लेने वाले मध्यमार्गियों का संशोधनवादी चरित्र माकपा के गठन और उसके बाद नेतृत्व द्वारा उठाये गये

कदमों से काफी हद तक साफ हो चुका था। नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के प्रति उनके रुख़ ने उन्हें एकदम नंगा कर दिया। यही कारण था कि नक्सलबाड़ी के तुरन्त बाद, पूरे देश में माकपा के भीतर कतारों में विद्रोह की लहर फैल गयी। पराजय के बावजूद, नक्सलबाड़ी ने ऐतिहासिक मूल्यांकन की दृष्टि से महान उपलब्धि हासिल की। देश के एक गुमनाम से ग्रामीण अंचल ने इतिहास को इस तरह प्रभावित किया कि वह क्रान्तिकारी कम्युनिज्म की धारा का एक प्रतीक और एक प्रस्थान-बिन्दु बन गया। लगभग अठारह वर्षों तक संसदवाद के पंककुण्ड में दबे रहने के बाद तेलंगाना की स्पिरिट और परम्परा फिर से नक्सलबाड़ी में उभर आयी और पूरे देश में फैल गयी। आगे चलकर, विचारधारात्मक कमज़ोरी और उससे पैदा हुए विविध नकारात्मक पक्षों के चलते नक्सलबाड़ी से उत्पन्न हुई राजनीति भारतीय क्रान्ति की नेतृत्वकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन तथा क्रान्ति के अग्रवर्ती विकास के रूप में भले ही आगे न बढ़ सकी हो, नक्सलबाड़ी से पैदा हुई क्रान्तिकारी वाम की धारा आगे चलकर भले ही फूट और विघटन का शिकार हो गयी हो, लेकिन भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में उस समय हावी संसदीय जड़वामनवाद पर नक्सलबाड़ी ने जो निर्णायक प्रभावी चोट की, उसका भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में हरदम महत्त्व बना रहेगा। नक्सलबाड़ी के कुछ और पहलुओं को समेटते हुए सांगोपांग समाहार से पहले यह ज़रूरी है कि नक्सलबाड़ी किसान-उभार के तुरत बाद वाम राजनीति के दायरे के घटना-प्रवाह पर चर्चा कर ली जाये।

जैसा कि चारु मजुमदार ने 11 नवम्बर 1967 को शहीद मीनार मैदान में हुई जनसभा में अपने भाषण में स्वयं स्वीकार किया था, नक्सलबाड़ी के नेता वे नहीं बल्कि कानू सान्याल, जंगल सन्थाल, कदम मल्लिक और खोकन मजुमदार आदि स्थानीय संगठनकर्ता थे। ऊपर यह चर्चा की जा चुकी है कि अपने आठ दस्तावेज़ों की शृंखला में चारु मजुमदार ने भूमि-क्रान्ति की शुरुआत जनदिशा के बजाय "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के आधार पर करने का जो प्रस्ताव रखा था, उसे ठुकराकर नक्सलबाड़ी का निर्माण हुआ था। नक्सलबाड़ी किसान-उभार वास्तव में क्रान्तिकारी जनदिशा का सत्यापन और "वाम" दुस्साहसवाद का मूर्त नकार था। लेकिन यह कहना ग़लत होगा कि इसमें चारु और उनके आठ दस्तावेज़ों की कोई भूमिका ही नहीं थी, क्योंकि 'आठ दस्तावेज' के दो पहलू थे। उसका अहम पहलू यह था कि उसने संशोधनवाद और संसदीय जड़वामनवाद पर निर्णायक चोट करते हुए एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी पार्टी के पुनर्निर्माण और पुनर्गठन का स्पष्ट प्रस्ताव एजेण्डे पर उपस्थित किया। उसका नकारात्मक पक्ष यह था कि उसने भारतीय आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक संरचना का अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल के निर्धारण के बजाय, न केवल चीनी क्रान्ति के कार्यक्रम व मार्ग के अन्धानुकरण का नारा दिया बल्कि सभी प्रकार की जनकार्रवाइयों, जनसंगठनों के महत्त्व को रद्द करते हुए और आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक शिक्षा एवं प्रचार के महत्त्व को भी नकारते हुए छापामार किसान संघर्ष को सशस्त्र गुप्त दस्तों के 'ऐक्शन' का समानार्थक बनाकर प्रस्तुत किया। नक्सलबाड़ी के नेतृत्व ने इस दूसरे पहलू को ख़ारिज किया, लेकिन पहला पहलू उसका विचारधारात्मक-राजनीतिक आधार बना। कानू सान्याल आदि संगठनकर्ता भी जेल में रहने के दौरान माकपा नेतृत्व के संशोधनवाद के विरुद्ध राजनीतिक तौर पर स्वयं को तैयार कर चुके थे, लेकिन उसके विरुद्ध दस्तावेज़ों की शृंखला लिखने, उसे कतारों तक ले जाने की कोशिश करने और कानू आदि के जेल से बाहर आने के बाद 'आठ दस्तावेज़' के रूप में माकपा नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह की कार्रवाई का सैद्धान्तिक

आधार मुहैया करने का काम तो चारु मजुमदार ने ही किया। यानी एक ओर यदि यह कहना ग़लत है कि नक्सलबाड़ी किसान उभार के नेता और निर्माता चारु थे, वहीं यह तो स्वीकारना ही होगा कि उसका विचारधारात्मक आधार तैयार करने में चारु की बुनियादी रूप से एक अहम भूमिका थी। कहा जा सकता है कि माकपा-राजनीति से निर्णायक विच्छेद करने में चारु की भूमिका निर्णायक थी। चारु नहीं होते तो मुमकिन था कि नक्सलबाड़ी संघर्ष साठ के दशक में उस इलाके में कम्युनिस्ट नेतृत्व में चले बहुतेरे रैडिकल आर्थिक और जनवादी (या संकुचित सीमा वाले राजनीतिक) माँगों पर चलने वाले जन संघर्षों की ही अगली कड़ी बनकर रह जाता। चारु की संशोधनवाद-विरोधी संघर्ष की निर्णायकता के पीछे कहीं एक "वाम" दुस्साहसवादी का निम्न-बुर्जुआ अधैर्य हो सकता है (क्योंकि उनकी "वाम" दुस्साहसवादी लाइन आद्यन्त सुसंगत थी), लेकिन उस समय तो उस निर्णायकता का सकारात्मक पहलू ही प्रभावी था। कहा जा सकता है कि नक्सलबाड़ी के बाद के दौर में क्रान्तिकारी वाम राजनीति के गतिरोध, पराभव और विघटन के लिए चारु की "वामपन्थी" आतंकवादी लाइन ही ज़िम्मेदार बनी, लेकिन दूसरी ओर यह भी सच है कि चारु नहीं होते तो नक्सलबाड़ी किसान-उभार शायद क्रान्तिकारी वाम राजनीति का एक प्रस्थान बिन्दु और प्रतीक-चिह्न नहीं बन पाता। प्रसिद्ध उक्ति है कि संशोधनवाद करने के पाप का दण्ड मज़दूर आन्दोलन "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के रूप में भुगतता है। भारत में भी 18 वर्षों के संशोधनवादी दौर के बाद पेण्डुलम का सिरा दूसरे सिरे तक जाने का अन्देशा था और इतिहास की इस द्वन्द्वात्मक विडम्बना का व्यंग्य शायद यह होना था कि संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद की प्रक्रिया में एक ऐसे व्यक्ति को इतिहास के एक नायक का दर्ज़ा हासिल करना था, जिसकी विचारधारात्मक-राजनीतिक क्षमता नेतृत्वकारी स्तर तक की कदापि नहीं थी और जो अधैर्यशील, आदर्शवादी, भावुक निम्न-बुर्जुआ क्रान्तिकारिता से ग्रस्त था। चारु के समस्त उपलब्ध राजनीतिक लेखन के आधार पर यह कहना ग़लत नहीं होगा।

नक्सलबाड़ी की घटना के क्रान्तिकारी प्रतीक-चिह्न बनने में जहाँ एक सकारात्मक पक्ष है, वहीं एक नकारात्मक पक्ष भी है। नक्सलबाड़ी किसान-उभार के बाद, पूरे देश की कम्युनिस्ट कतारों में संशोधनवाद के विरुद्ध विद्रोह की एक लहर फैल गयी। पूरे देश में माकपा की क्रान्तिकारी कतारें विद्रोह करने लगीं। अनुभवसंगत धरातल पर माकपा के संशोधनवाद के विरुद्ध जो शंका, अविश्वास और बेचैनी की भावना थी, उसे नक्सलबाड़ी ने विद्रोह की दिशा देकर तरल परिस्थिति को अवक्षेपित कर दिया। देश के विभिन्न राज्यों में क्रान्तिकारी पक्ष के जो नेतृत्वकारी संगठनकर्ता थे, वे तो 'महान बहस', चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति और माकपाई मध्यमार्ग की विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु से कमोबेश वाक़िफ थे, लेकिन आम कतारों के लिए संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्ग के बीच फैसला करने का एकमात्र सीधा-सादा पैमाना बस यह बन गया कि कोई व्यक्ति नक्सलबाड़ी के पक्ष में है या विपक्ष में। इससे कतारों का ध्रुवीकरण तो तेज़ गति से हुआ, लेकिन ऐसे किसी भी विचारधारात्मक संघर्ष की सुदीर्घ प्रक्रिया में कतारों की जो विचारधारात्मक-राजनीतिक शिक्षा होती है और सांगठनिक सुदृढ़ीकरण से पूर्व विचारधारात्मक-राजनीतिक सुदृढ़ीकरण की जो आवश्यक प्रक्रिया होती है, वह नहीं हुई। अपनी विचारधारात्मक-राजनीतिक कमज़ोरी के चलते क्रान्तिकारी नेतृत्व ने इस पर कोई बल भी नहीं दिया। यह भी एक कारण था कि आगे चलकर कतारें आसानी से "वामपन्थी" दुस्साहसवाद की लहर में बह गयीं और अपनी पारी में, "वामपन्थी"

दुस्साहसवादी लाइन ने कतारों की विचारधारात्मक-राजनीतिक सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया के आगे बढ़ने की रही-सही सम्भावना का गला भी घोंट दिया। कल्पना करें, यदि 1967 में नक्सलबाड़ी की घटना नहीं घटित हुई होती। तब क्या भारत में मार्क्सवादी-लेनिनवादी धारा पैदा ही नहीं होती? ऐसा नहीं था। आठ दस्तावेज़ों का लेखन, 'चिन्ता' ग्रुप का संशोधनवाद-विरोधी संघर्ष और माकपा के भीतर संशोधनवादी नेतृत्व के विरुद्ध कतारों के असन्तोष और संशोधनवाद-विरोधी धड़ेबन्दियों की विविध रूपों में नक्सलबाड़ी विद्रोह से पहले के दौर में मौजूदगी इस बात का संकेत देती हैं कि उस स्थिति में संशोधनवाद के विरुद्ध लम्बा विचारधारात्मक संघर्ष चलता जो अपनी तार्किक परिणति तक पहुँचकर किसी वैकल्पिक क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी केन्द्र को जन्म देता। ग़ौरतलब है कि एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के बहुतेरे देशों में (और यूरोप-अमेरिका में भी) साठ के दशक में 'महान बहस' और चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति से विचारधारात्मक मार्गदर्शन प्राप्त करके क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कतारें ने ख्रुश्चेवी संशोधनवादी नेतृत्व से विद्रोह करके मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टियों एवं संगठनों का गठन किया था। भारत में भी ऐसा ही होता, इसी की सम्भावना अधिक थी और उस स्थिति में लम्बे विचारधारात्मक संघर्ष के दौरान कतारों की राजनीतिक शिक्षा और सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया बेहतर ढंग से चलती। यानी नक्सलबाड़ी ने संशोधनवाद से विच्छेद और ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तीव्र और संक्षिप्त बना दिया, लेकिन इस तीव्रता और संक्षिप्तता ने दो लाइनों के सघन-सुदीर्घ संघर्ष की प्रक्रिया के दौरान होने वाले कतारों के विचारधारात्मक-राजनीतिक सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव छोड़ा। आज वस्तुगत तौर पर, भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन का जो इतिहास हमारे सामने है, उसमें नक्सलबाड़ी एक मील के पत्थर का स्थान रखता है, लेकिन उसी से जुड़ा हुआ जो अन्तर्निहित दूसरा पहलू है, उसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। उसकी अनदेखी करके नक्सलबाड़ी की गौरवशाली क्रान्तिकारी परम्परा का पुनरुज्जीवन और विस्तार तो कतई सम्भव नहीं है, भावविह्वल परम्परा-पूजा का अनुष्ठान भले ही सम्पन्न कर लिया जाये।

नक्सलबाड़ी के ऐतिहासिक मूल्यांकन से ही जुड़ा एक और पहलू है, जिस पर यहाँ चर्चा ज़रूरी है क्योंकि चार दशक बाद पश्चदृष्टि से देखने पर चीज़ें आज अधिक साफ़ दीखती हैं। नक्सलबाड़ी उत्तर-औपनिवेशिक काल के एक ऐसे दौर में हुआ, जब पूरा भारत असमान रूप से एक संक्रमण से गुज़रते हुए एक लम्बी संक्रमण-अवधि के कमोबेश मध्यबिन्दु पर खड़ा था। सत्तारूढ़ भारतीय पूँजीपति वर्ग विगत दो दशक से बुर्जुआ सत्ता का सुदृढ़ीकरण करते हुए अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर तथा आयात-प्रतिस्थापन की नीतियों को लागू करते हुए अपने औद्योगिक-वित्तीय आधार का विस्तार कर रहा था और साथ ही वह गाँवों को पूँजीवादी राष्ट्रीय बाज़ार की चौहद्दी में समेट लेने के लिए भूमि सम्बन्धों को भी, ऊपर से, बुर्जुआ क्रमिक भूमि सुधार की नीतियों को लागू करते हुए, बदलने के लिए चेष्टाशील था। यह प्रक्रिया पूरे देश में असमान रूप से जारी थी। जैसे, जम्मू-कश्मीर में सापेक्षत: सर्वाधिक रैडिकल भूमि-सुधार सबसे पहले हुए। साठ के दशक के मध्य तक स्थिति यह थी कि पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में पूँजीवादी खेती की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ चुकी थी और कुलक वर्ग शक्तिशाली बन चुका था। देश के कई क्षेत्रों में सामन्ती भूस्वामियों की मौजूदगी के साथ ही उन्हीं के बीच से कुछ पूँजीवादी भूस्वामी भी पैदा हो चुके थे और बड़े काश्तकारों के बीच से कुछ कुलक भी पैदा

हो चुके थे। कुछ क्षेत्रों में सामन्ती अवशेष ज़्यादा थे, कुछ में कम थे, कुछ पिछड़ी हुई किसानी अर्थव्यवस्था की संक्रमणशील अवस्था में थे और कहीं अर्द्ध सामन्ती भूमि सम्बन्धों का पहलू ही अभी प्रधान था। बंगाल, बिहार, उड़ीसा जैसे राज्यों में उस समय, या तो अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्धों की प्रधानता थी या मज़बूत सामन्ती अवशेष मौजूद थे। बंगाल में जब तक बरगादारों के पंजीकरण के द्वारा मालिकाने का सवाल आंशिक तौर पर हल नहीं हुआ था तब तक भूमि-सम्बन्धों का अर्द्धसामन्ती स्वरूप मुख्यत: कायम था। नक्सलबाड़ी किसान-उभार ऐसे ही समय में हुआ। पूरे देश के क्रान्तिकारी कतारों को नक्सलबाड़ी टाइप भूमि-संघर्ष विकसित करने का नारा दिया गया। इस नारे की पहली विसंगति तो यही थी कि यह नक्सलबाड़ी की संशोधनवाद-विरोधी विचारधारात्मक विरासत की जगह नक्सलबाड़ी के रास्ते को ही पूरे भारत के लिए सामान्य बनाकर प्रस्तुत कर रहा था और विचारधारा और कार्यक्रम के प्रश्न को परस्पर गड्डमड्ड कर रहा था। उस पर से अतिरिक्त बात यह कि जब यह नारा दिया जा रहा था, उस समय नक्सलबाड़ी का लेबुल लगाकर वस्तुत: "वामपन्थी" आतंकवाद की लाइन बेची जा रही थी। लेकिन हम कहना यह चाहते हैं कि यदि पूरे देश में नक्सलबाड़ी की क्रान्तिकारी जनदिशा वास्तव में लागू भी की जाती तो सफ़ल नहीं होती। देश के जिन हिस्सों में पूँजीवादी भूमि-सम्बन्ध विकसित हो चुके थे और जहाँ संक्रमणशील अवस्था थी, वहाँ न तो चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय के आधार पर भूमि-क्रान्ति को लागू कर पाना सम्भव था, न ही छापामार संघर्ष का विकास और आधार-क्षेत्र का निर्माण सम्भव था। पूरे देश की स्थिति उस समय भी ऐसी नहीं रह गयी थी कि देहातों में मुक्त क्षेत्र का निर्माण करके गाँवों से शहरों को घेरते हुए दीर्घकालिक लोकयुद्ध की सामरिक रणनीति को अमल में लाया जा सके। अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक चीन से भिन्न उत्तर-औपनिवेशिक दौर के भारत में एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता थी जिसके सामाजिक अवलम्ब व्यापक थे, अधिक विकसित राज्यसत्ता, सैन्यतन्त्र, और संचार-यातायात व्यवस्था थी। यहाँ न तो चीन जैसी स्थिति थी, न ही वियतनाम, कम्बोडिया और सैन्य तानाशाही वाले लातिन अमेरिकी देशों जैसी स्थिति थी। एक समस्या यह भी थी कि चीन की पार्टी के 1963 के विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा-विषयक दस्तावेज़ में या लिन प्याओ के 1965 के लेख 'लोकयुद्ध की विजय अमर रहे' में तीसरी दुनिया के देशों में लोक जनवादी क्रान्ति का जो आम सूत्रीकरण दिया था, वह एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका के अधिकांश उपनिवेशों और नवउपनिवेशों के लिए तो ठीक था, (और आम तौर पर उस समय सही था) पर उसके फ्रेमवर्क या स्कीम में भारत, मिस्र, इण्डोनेशिया, मलाया, आदि ऐसे नवस्वाधीन देश पूरी तरह से फिट नहीं होते थे जहाँ पूँजीवादी संक्रमण की प्रक्रिया जारी थी। चीन की पार्टी द्वारा भारतीय बड़े पूँजीपति वर्ग को दलाल और भारत को नवउपनिवेश मानने का सूत्रीकरण भी सच्चाई से मेल नहीं खाता था। समस्या यह थी कि उत्तर औपनिवेशिक समाजों के परिवर्तनशील यथार्थ की गतिकी को पकड़ने के बजाय उसे औपनिवेशिक दौर की निरन्तरता मानकर चलने की प्रवृत्ति अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में हावी रही थी और चीन की पार्टी के भारत-विषयक सूत्रीकरण भी इस दोष से मुक्त नहीं थे। समस्या यह भी थी कि बिस्मार्ककालीन प्रशा, ज़ारकालीन रूस या कमाल अतातुर्ककालीन तुर्की की स्थितियों से अलग एक उत्तरऔपनिवेशिक समाज में सत्तारूढ़ बुर्जुआ वर्ग (जो साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझीदार था लेकिन राज्यसत्ता का स्वामी था और सीमित बुर्जुआ जनवाद को अमल में ला रहा था), पहली बार बुर्जुआ भूमि-सुधार की

वैसी ही नीतियाँ लागू कर रहा था, इसलिए इसे पुराने फ्रेमवर्क को तोड़कर ही समझा जा सकता था, जो नहीं हुआ। बहरहाल, मूल प्रसंग पर लौटते हुए, हम कहना यह चाहते हैं कि यदि नक्सलबाड़ी टाइप संघर्ष का मॉडल पूरे देश में वास्तव में लागू करने की कोशिश भी होती, यदि जनदिशा लागू भी होती, तो भी, 1967-70 में पूरे देश में ऐसी परिस्थितियाँ नहीं थी कि कोई सफलता मिल पाती। ज़्यादा से ज़्यादा, देश के अर्द्धसामती भूमि-सम्बन्धों वाले इलाकों में, मज़बूत सामन्ती अवशेषों वाले इलाकों में ही ऐसा हो पाता और उसकी तार्किक परिणति महज़ इसी रूप में सामने आती कि बुर्जुआ वर्ग उन क्षेत्रों में बुर्जुआ भूमि सुधारों की गति तेज़ कर देता। यह अनायास नहीं है कि आगे चलकर जिन मा-ले संगठनों ने क्रान्तिकारी जनदिशा के आधार पर लोक जनवादी कार्यक्रम को लागू करने की कोशिश की भी, वे सफल नहीं हो सके और लम्बे गतिरोध की परिणति के तौर पर आज वे संगठन मालिक किसानों के लाभकारी मूल्य और लागत मूल्य की कमी की वर्गीय माँगों को लेकर लड़ने वाले मार्क्सवादी नरोदवादी बन चुके हैं। तात्पर्य यह कि 1967-70 में भी नक्सलबाड़ी पूरे देश के लिए एक सार्विक परिघटना नहीं हो सकता था। यूँ कहें कि, यदि क्रान्तिकारी जनदिशा लागू भी होती तो नक्सलबाड़ी के रास्ते की राष्ट्रव्यापी सफलता 1967 में सन्दिग्ध थी और इसलिए नक्सलबाड़ी भी बहुत दिनों तक टिका नहीं रह पाता। नक्सलबाड़ी के बाद गठित कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी यदि अध्ययन और प्रयोग के आधार पर भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम के निर्धारण के अपने काम को पूरा करने में कोताही नहीं बरतती तो क्रान्तिकारी जनसंघर्ष निरन्तरता की प्रक्रिया में ही अपनी कार्यक्रममूलक दिशा बदल लेते। लेकिन उस स्थिति में भी, नक्सलबाड़ी किसान-उभार का ऐतिहासिक विचारधारात्मक महत्त्व संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद के मोड़-बिन्दु के रूप में अक्षुण्ण बना रहता।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, नक्सलबाड़ी सशस्त्र किसान विद्रोह चारु मजुमदार की "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन पर सही क्रान्तिकारी लाइन की विजय पर आधारित था। लेकिन सत्ता के दमन के बाद, संघर्ष जब गतिरोध का शिकार हुआ तो जनदिशा को लागू करने वाले कानू सान्याल आदि नेतृत्व के लोगों ने विचारधारात्मक अपरिपक्वता के चलते स्वयं को विकल्पहीन और किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्था में पाया। इस स्थिति में चारु मजुमदार ने अपनी आतंकवादी लाइन को फिर आगे बढ़ाया और नक्सलबाड़ी के नेतृत्व ने उसके आगे पूरी तरह से आत्मसमर्पण कर दिया। आर्थिक संघर्षों के महत्त्व को पूरी तरह नकारने वाले चारु मजुमदार का कहना था कि नक्सलबाड़ी में किसान ज़मीन या किसी आर्थिक माँग के लिए नहीं लड़कर राज्यसत्ता के लिए लड़े थे। सितम्बर 1968 में कानू सान्याल ने नक्सलबाड़ी का सार-संकलन करते हुए 'तराई क्षेत्र के किसान आन्दोलन पर रिपोर्ट' नामक जो दस्तावेज़ लिखा, उसमें उन्होंने चारु की इसी स्थापना को दुहराया। पुनः 1974 में अपनी अवस्थिति बदलकर उन्होंने "वामपन्थी" दुस्साहसवाद की आलोचना करते हुए 'मोर अबाउट नक्सलबाड़ी' शीर्षक जो लेख लिखा उसमें यह लिखा कि भूमि क्रान्ति में ज़मीन और राज्यसत्ता के प्रश्न अन्तर्ग्रन्थित होते हैं और नक्सलबाड़ी में भी ऐसा ही था। यह न तो सैद्धान्तिक तौर पर सही है, न ही व्यावहारिक तौर पर ऐसा हुआ था। भूमि क्रान्ति के दौर में किसान ज़मीन के मालिकाने की माँग के लिए अपना संघर्ष शुरू करते हैं। पार्टी इस बात का लगातार प्रचार करती है कि इस प्रश्न को राज्यसत्ता के साथ संघर्ष करके ही हल किया जा सकता है। किसान पार्टी नेतृत्व में जब ज़मीन और फसल पर क़ब्ज़े की मुहिम चलाते हैं तो

उन्हें ज़मीन्दारों और राज्यसत्ता के दमनतन्त्र का सामना करना पड़ता है, जिसका मुक़ाबला करने के लिए वे हथियारबन्द होते हैं(स्वयंसेवक दस्ते जनमिलिशिया और छापामार दस्ते बनाते हैं और संघर्ष क्रमशः इलाक़ावार सत्ता दख़ल की मंज़िल तक विकसित होता है। इस प्रक्रिया में ज़मीन का सवाल आगे बढ़कर राज्यसत्ता का सवाल बन जाता है। नक्सलबाड़ी में भी यही प्रक्रिया जारी थी, जिसे कानू सान्याल ने न तो 1967 में समझा और न ही 1974 में समझा। 1974 में "वामपन्थी" आतंकवाद की आलोचना करते हुए दक्षिणपन्थी अवसरवादी भटकाव के दूसरे छोर पर जा खड़े हुए थे, जिसकी चर्चा इस लेख में आगे की जायेगी। तराई किसान रिपोर्ट में उन्होंने किसान सम्मेलन द्वारा निर्धारित "दस महान कार्यों" को पूरा करने में नेतृत्व देने में निम्न-पूँजीवादी भटकावग्रस्त नेतृत्व की विफलता, नेतृत्व का जनता में भरोसा न होने, एक शक्तिशाली जनाधार के अभाव, एक मज़बूत पार्टी ढाँचे के अभाव, राजनीतिक सत्ता की स्थापना और क्रान्तिकारी भूमि-सुधार के बारे में रूपवादी पहुँच और पुरानी संशोधनवादी सोच के असर तथा सामरिक मामलों की ग़ैरजानकारी को नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह की विफलता के लिए ज़िम्मेदार बताया था। वास्तव में यह एक सतही, रूपवादी और सार-संग्रहवादी समाहार था। सच्चाई यह है कि नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह शुरू होने से पहले नेतृत्व ने दूर की सोचकर कोई व्यवस्थित तैयारी की ही नहीं थी। किसानों की सशस्त्र प्रतिरक्षा आगे किस प्रकार छापामार दस्तों के निर्माण की अवस्था तक विकसित होगी और दमन की स्थिति में अपनी सशस्त्र शक्तियों को अन्य क्षेत्रों में किस प्रकार बिखराया जायेगा, इसकी कोई योजना नहीं थी। निकटवर्ती जंगलों और पर्वतीय क्षेत्रों में पृष्ठभागीय आधार बनाने की कोई योजना नहीं थी। उल्लेखनीय है कि स्थिति को सँभालने के लिए, काफ़ी बाद में, 1968 में मिरिक के पहाड़ी इलाक़े में एक पृष्ठभागीय क्षेत्र विकसित करने की कोशिश की गयी जो सफल नहीं हुई। इससे भी अहम बात यह थी कि स्थितियाँ तब तक सँभालने लायक़ रह ही नहीं गयीं थी। और इससे भी अहम बात यह थी कि एक सुसंगठित कम्युनिस्ट पार्टी के अभाव में दीर्घकालिक लोकयुद्ध की परिस्थिति होने पर भी उसे आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। ऐसी स्थिति में यदि एक योग्य नेतृत्व होता तो कुछ समय तक संघर्ष को स्थगित या विलम्बित करने के लिए रणकौशलात्मक स्तर पर शत्रु से कुछ समझौते की राह भी चुन सकता था, पर बिना जनता के बीच गहन राजनीतिक प्रचार और तैयारी के, यदि यह किया जाता तो निरुत्साह और बिखराव पैदा होना लाजिमी होता। नक्सलबाड़ी में भी यही स्थिति थी।

इन्हीं परिस्थितियों में नक्सलबाड़ी के नेतृत्व ने चारु की लाइन के आगे पूरी तरह से घुटने टेक दिये। तराई रिपोर्ट में कानू सान्याल ने नक्सलबाड़ी के पूर्व चारु की लाइन और जनदिशा के बीच के संघर्ष और चतरहाट-इस्लामपुर प्रसंग की कोई चर्चा नहीं की है और विशेष तौर पर नक्सलबाड़ी संघर्ष में चारु के योग्य नेतृत्व की भूमिका को रेखांकित किया है। इन तथ्यों का उल्लेख उन्होंने पहली बार 1974 में किया। विचारधारात्मक कमज़ोरी से जन्मी इस अवसरवादी आत्मसमर्पणकारी प्रवृत्ति ने "वामपन्थी" आतंकवाद के हावी होने में निश्चय ही काफ़ी मदद पहुँचायी।

बहरहाल, नक्सलबाड़ी का ऐतिहासिक महत्त्व उस घटना की स्थानीयता में निहित नहीं था। मुख्य बात यह थी कि उसने संशोधनवाद से निर्णायक संघर्ष और रैडिकल विच्छेद तथा एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन की अनिवार्य आवश्यकता के सन्देश को पूरे देश की कम्युनिस्ट क़तारों तक पहुँचा दिया था। कम्युनिस्ट क़तारों में एक नये उत्साह और

ऊर्जस्विता का संचार हो चुका था। संशोधनवादी बदहवास थे। बुर्जुआ वर्ग इस नयी लहर को गम्भीर चुनौती के रूप में देख रहा था।

एजेण्डा पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की एकता का सवाल : एक सर्वभारतीय पार्टी के गठन की ओर

नक्सलबाड़ी में सशस्त्र किसान विद्रोह के विस्फोट के तुरत बाद पूरे देश में माकपा की पार्टी क़तारों में और पार्टी के बाहर के कम्युनिस्ट तत्वों के बीच संशोधनवाद के विरुद्ध विद्रोह की लहर दौड़ पड़ी। बंगाल से बाहर, उत्तर प्रदेश, बिहार, आन्ध्र प्रदेश, केरल, तमिलनाडु, पंजाब, जम्मू-कश्मीर, असम, उड़ीसा और त्रिपुरा में पार्टी-क़तारों के विद्रोह से अराजकता और विभाजन की स्थिति उत्पन्न होने लगी। भारी संख्या में नये युवा तत्व भी इस क्रान्तिकारी लहर की ओर आकृष्ट हुए। पार्टी के भीतर और बाहर, स्वयंस्फूर्त ढंग से क्रान्तिकारी ग्रुप बनने लगे। यदि केवल प. बंगाल का उदाहरण लें तो वहाँ 'निशान', 'पदातिक', 'भित्ति', 'सूर्यसेन', 'छात्र फ़ौज' आदि कई ग्रुप सक्रिय हो गये थे, जिन्होंने संशोधनवाद विरोधी सैद्धान्तिक संघर्ष और क्रान्तिकारी प्रचार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1966 से ही सक्रिय 'चिन्ता ग्रुप' और पार्टी के भीतर गठित 'अन्तर्पार्टी संशोधनवाद विरोधी कमेटी' की पहले ही चर्चा की जा चुकी है।

अलग-अलग राज्यों में माकपा के भीतर संशोधनवादी संघर्ष को नेतृत्व देने वालों में आन्ध्र प्रदेश के डी. वी. राव और नागी रेड्डी तो राष्ट्रीय स्तर के नेता थे और केन्द्रीय कमेटी के सदस्य भी रह चुके थे। इनके अतिरिक्त बिहार में सत्यनारायण सिंह, उत्तर प्रदेश में शिवकुमार मिश्र, जम्मू-कश्मीर में आर. पी. सर्राफ सहित कई राज्य स्तरीय नेतृत्व के लोग भी थे। बंगाल में सुशीतल राय चौधरी और सरोज दत्त राज्य स्तरीय नेता थे, परिमल दास गुप्त और असित सेन प्रसिद्ध ट्रेड यूनियन नेता और सिद्धान्तवेत्ता थे। उपरोक्त राज्यों में क़तारों का बड़ा हिस्सा विद्रोहियों के साथ था।

14 जून 1967 को कलकत्ता के राममोहन लाइब्रेरी हॉल में नक्सलबाड़ी में किसानों की हत्या और दमन के विरोध में तथा संग्रामी किसानों के समर्थन में कुछ ऐसी मज़दूर यूनियनों के आह्वान पर एक जनसभा हुई, जिनका नेतृत्व माकपा की संशोधनवादी, अर्थवादी नीतियों से असन्तुष्ट था। इसमें एक प्रस्ताव पारित करके 'नक्सलबाड़ी और कृषक संग्राम सहायक कमेटी' की स्थापना की गयी जिसका सचिव प्रसिद्ध ट्रेड यूनियन नेता और माकपा की कलकत्ता ज़िला कमेटी के सदस्य परिमल दासगुप्त को बनाया गया। देश भर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्वों से सम्पर्क स्थापित करने का काम सबसे पहले इसी कमेटी के बैनर तले शुरू किया गया।

प. बंगाल राज्य कमेटी के मुखपत्र 'देशहितैषी' का दफ़्तर उस समय क्रान्तिकारी तत्वों के नियन्त्रण में आ गया था। उसके सम्पादक मण्डल में सुशीतल रायचौधरी और सरोज दत्त शामिल थे और बहुमत भी उन्हीं के साथ था। 28 जून 1967 को माकपा नेतृत्व ने बलपूर्वक उन सबको निकाल बाहर करके दफ़्तर पर क़ब्ज़ा किया। इसके एक सप्ताह बाद बांगला साप्ताहिक 'देशव्रती' का प्रकाशन शुरू हुआ जो मार्क्सवादी-लेनिनवादियों का पहला मुखपत्र

था। इस समय तक माकपा नेतृत्व देशव्यापी छँटनी मुहिम शुरू कर चुका था। पूरे देश में नक्सलबाड़ी के पक्ष में मुखर एक हज़ार से भी अधिक नेताओं-कार्यकर्ताओं को पार्टी से निकाल बाहर किया गया। अकेले बंगाल में ही निष्कासित लोगों की संख्या चार सौ से अधिक थी। बंगाल के निष्कासित लोगों में चारु मजुमदार, कानू सान्याल, सौरेन बसु, सरोज दत, सुशीतल रायचौधरी, परिमल दासगुप्त, असित सेन, सुनीति कुमार घोष आदि प्रमुख थे। बिहार से सत्यनारायण सिंह, गुरुबख़्श सिंह, उत्तर प्रदेश से शिवकुमार मिश्र, महेन्द्र सिंह, श्रीनारायण चतुर्वेदी, आर.एन. उपाध्याय, पंजाब से दया सिंह, जगजीत सिंह सोहल, बलवन्त सिंह आदि कई नेता निष्कासित लोगों में शामिल थे। इसके बाद तो निष्कासन का यह सिलसिला 1969 तक कई किश्तों में लगातार चलता रहा। नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के पक्ष में पीकिंग रेडियो के प्रसारणों ने भी कार्यकर्ताओं को पक्ष चुनने के लिए प्रेरित करने में एक अहम भूमिका निभायी। पाँच जुलाई, 1967 को 'पीपुल्स डेली' (चीनी पार्टी का मुखपत्र) में 'भारत में वसन्त का वज्रनाद' शीर्षक लेख छपा, जिसमें नक्सलबाड़ी का समर्थन करते हुए माकपा के नवसंशोधनवादियों को भी गद्दार और भारतीय शासक वर्ग का चाकर घोषित किया गया था। इसके बाद 'पीपुल्स डेली' में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के पक्ष में कई टिप्पणियाँ छपीं। इनका एक दूरगामी नकारात्मक प्रभाव यह था कि आगे चलकर चारु मजुमदार ने इसका लाभ अपनी लाइन की अन्तरराष्ट्रीय मान्यता के रूप में प्रचार करके उठाया। एक दूसरा नकारात्मक प्रभाव यह था कि चीनी पार्टी की धारणा के हिसाब से, भारतीय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने कार्यक्रम के प्रश्न पर सोच-विचार को एजेण्डे से ही हटा दिया और यह मानकर चलने लगे कि भारत में भी चीन की तरह नवजनवादी क्रान्ति और दीर्घकालिक लोकयुद्ध का रास्ता ही लागू होगा। लेकिन तात्कालिक तौर पर चीन की पार्टी की अवस्थिति ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तेज़ करके क्रान्तिकारी पक्ष की मदद की।

11 नवम्बर 1967 को 'नक्सलबाड़ी और कृषक संग्राम सहायक कमेटी' की ओर से अक्टूबर क्रान्ति दिवस मनाने और मार्क्सवादी-लेनिनवादी के प्रचार के लिए कलकता के शहीद मीनार मैदान में एक जनसभा बुलायी गयी जिसमें चारु मजुमदार ने खुले मंच से अपना अन्तिम भाषण दिया। इस सभा में पारित प्रस्ताव में सोवियत संशोधनवाद की भर्त्सना करते हुए चीन की पार्टी का समर्थन किया गया और माकपा को भी एक संशोधनवादी पार्टी बताते हुए उसकी निन्दा की गयी। इसके तुरन्त बाद, पूर्व योजना के अनुसार, सात राज्यों के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी प्रतिनिधियों की एक बैठक हुई जिसमें महत्त्वपूर्ण राजनीतिक-सांगठनिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श के बाद 'भा.क.पा. (मा.) के क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' (ऑल इण्डिया कोऑर्डिनेशन कमेटी ऑफ़ दि रिवोल्यूशनरीज़ ऑफ़ दि सी.पी.आई. (एम.)) का गठन किया गया और उसकी ओर से एक घोषणा जारी की गयी। इस तालमेल कमेटी ने अपने चार मुख्य कार्यभार निर्धारित किये : (1) मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में सभी स्तरों पर जुझारू और क्रान्तिकारी संघर्षों का ख़ासकर नक्सलबाड़ी की तरह किसान-संघर्षों का विकास करना और उनके बीच तालमेल क़ायम करना, (2) मज़दूर वर्ग और अन्य मेहनतकशों के जुझारू संघर्षों का विकास करना, अर्थवाद से लड़ना और इन संघर्षों को कृषि क्रान्ति की दिशा में मोड़ना, (3) संशोधनवाद और नवसंशोधनवाद के विरुद्ध समझौताहीन सैद्धान्तिक संघर्ष चलाना और माओ त्से-तुङ विचारधारा को, जो वर्तमान युग का मार्क्सवाद-लेनिनवाद है, लोकप्रिय बनाना और इसके आधार पर पार्टी के भीतर के और बाहर के सारे क्रान्तिकारी तत्वों

को ऐक्यबद्ध करना, और (4) माओ त्से-तुङ विचारधारा की रोशनी में भारतीय परिस्थिति के सुनिश्चित विश्लेषण के आधार पर क्रान्तिकारी कार्यक्रम और रणकौशल तैयार करने की ज़िम्मेदारी लेना।

देश के विभिन्न हिस्सों में सक्रिय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों से सम्पर्क स्थापित करने का काम पहले से ही मुख्यत: सुशीतल रायचौधरी कर रहे थे। उन्हें ही तालमेल कमेटी का सचिव चुना गया और उनके सम्पादन में अंग्रेज़ी मासिक मुखपत्र 'लिबरेशन' निकालने का निर्णय लिया गया। इसका पहला अंक नवम्बर, 1967 में प्रकाशित हुआ।

आन्ध्र प्रदेश में माकपा के शीर्ष नेताओं में से दो – टी. नागी रेड्डी और डी. वी. राव भी माकपा नेतृत्व के संशोधनवाद के विरुद्ध शुरू से ही संघर्षरत थे। उन्होंने नक्सलबाड़ी का पक्ष लिया था। लेकिन उनका विचार था कि माकपा के भीतर जब तक सम्भव हो, रहते हुए संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाया जाना चाहिए ताकि क़तारों के बड़े हिस्से को क्रान्तिकारी पक्ष के साथ खड़ा किया जा सके। इस मसले पर चारु मजुमदार के साथ उनका मतभेद था। अप्रैल, 1968 में माकपा का बर्दवान प्लेनम हुआ जो मुख्यत: विचारधारात्मक प्रश्न पर केन्द्रित था। प्लेनम में पारित होने वाले दस्तावेज़ 'विचारधारात्मक विचार-विमर्श के लिए' का मसौदा पहले वितरित हो चुका था और उस पर डी.वी.-नागी ने तीखे मतभेद दर्ज़ कराये थे। यही दस्तावेज़ प्लेनम में पारित हुआ। इसके अनुसार, सोवियत पार्टी जहाँ दक्षिणपन्थी भटकाव का शिकार थी वहीं चीन की पार्टी "वामपन्थी" संकीर्णतावादी भटकाव का शिकार थी। इसमें चीनी पार्टी पर माकपा के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप का आरोप भी लगाया था। माकपा के मध्यमार्ग का संशोधनवादी चरित्र अब एकदम नंगा हो चुका था। जम्मू-कश्मीर और आन्ध्र प्रदेश की राज्य कमेटियों ने दस्तावेज़ के मसौदे का विरोध किया। विरोध का एक मुद्दा यह भी था कि दस्तावेज़ में भारत सहित सभी पिछड़े देशों में लोकयुद्ध को संघर्ष के सार्वभौमिक रूप के तौर पर स्वीकार नहीं किया गया है और मुख्य लाइन के तौर पर भूमि क्रान्ति को ख़ारिज कर दिया गया है। बर्दमान प्लेनम के तुरत बाद तालमेल कमेटी ने 14 मई '68 को हुई अपनी दूसरी बैठक में अपने नाम से 'भा.क.पा. (मा.) के अन्दर के' वाक्यांश को हटाकर अपना नया नाम रखा 'कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' (ए.आई.सी.सी.सी.आर.) और इसका नेतृत्व चारु मजुमदार को सौंपा गया। दूसरी बैठक के बाद तालमेल कमेटी ने अपनी 'दूसरी घोषणा' जारी की जिसमें कहा गया था कि नवसंशोधनवादी भी डांगेपन्थियों की तरह प्रतिक्रान्तिकारी शिविर में शामिल हो चुके हैं, वे कृषि क्रान्ति की पीठ में सक्रिय रूप से छुरा भोंक रहे हैं और जो लोग अभी भी माकपा के भीतर अन्तर्पार्टी संघर्ष की सम्भावना देखते हैं वे संशोधनवाद के विरुद्ध लड़नेवालों में भ्रम का बीज बो रहे हैं तथा उनको संगठित और शक्तिशाली होने से रोक रहे हैं। इस अन्तिम वाक्यांश में वस्तुत: डी.वी.-नागी ग्रुप की परोक्ष आलोचना की गयी थी। तालमेल कमेटी की इस दूसरी बैठक में पंजाब के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी भी शामिल हुए थे।

बर्दवान प्लेनम के तुरत बाद, डी.वी.-नागी के नेतृत्व में माकपा की आन्ध्र कमेटी का बहुसंख्यक हिस्सा विद्रोह करके पार्टी से अलग हो गया। जम्मू-कश्मीर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी भी पार्टी से बाहर आ गये थे। डी.वी.-नागी द्वारा पार्टी के भीतर चलाये गये संघर्ष का नतीजा था कि आन्ध्र में बहुसंख्यक कार्यकर्ता पार्टी से बाहर आ गये थे। डी.वी. राव-नागी रेड्डी-चन्द्रपुल्ला रेड्डी आदि ने 'आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी' (ए.पी.आर.सी.

सी.) का गठन किया जो ए.आई.सी.सी.सी.आर. से जुड़कर उसकी आन्ध्र राज्य कमेटी के रूप में काम करने लगी। आन्ध्र ग्रुप और चारु मजुमदार के नेतृत्व के बीच शुरू ही कुछ अहम मतभेद मौजूद थे। चारु मजुमदार के नेतृत्व वाले हिस्से का मानना था कि नागी रेड्डी ग्रुप चीनी पार्टी की लाइन को पूरी तरह से स्वीकार नहीं करता है। इसका एक आधार यह था कि नागी रेड्डी ग्रुप सोवियत संघ को सामाजिक-साम्राज्यवादी न कहकर सिर्फ़ संशोधनवादी कहता था। यह प्रश्न बुनियादी विचारधारात्मक न होकर वस्तुगत आकलन का था, जिसे चीनी पार्टी के कठमुल्लावादी अनुकरण के चलते बुनियादी बना दिया गया। दूसरा अहम मतभेद यह था कि अखिल भारतीय तालमेल कमेटी चुनाव बहिष्कार को एक रणनीतिक प्रश्न मानती थी और उसे क्रान्ति की प्रक्रिया की शुरुआत से अन्त तक लागू करने की बात करती थी जबकि आन्ध्र ग्रुप इसे रणकौशल का प्रश्न मानता था और इस मामले में परिस्थिति-अनुसार निर्णय की बात करता था। इस प्रश्न पर उनकी अवस्थिति क्लासिकीय लेनिनवादी सूत्रीकरण के अनुरूप थी। तालमेल कमेटी नक्सलबाड़ी को माओ विचारधारा का भारत में पहला प्रयोग मानती थी, जबकि आन्ध्र ग्रुप का कहना था कि माओ विचारधारा का पहला प्रयोग तेलंगाना में हुआ था और नक्सलबाड़ी उसी की अगली कड़ी है। तालमेल कमेटी जनसंघर्ष के खुले रूपों, आर्थिक मुद्दों पर संघर्ष और जनसंगठनों की उपेक्षा कर रही थी, जिससे आन्ध्र ग्रुप सहमत नहीं था। तालमेल कमेटी का ज़ोर प्रारम्भिक मंज़िल से ही छापामार संघर्ष संगठित करने पर था, जबकि आन्ध्र ग्रुप का कहना था कि जनान्दोलन की प्रक्रिया में संघर्ष के उच्चतर रूप के तौर पर सशस्त्र संघर्ष शुरू होगा, स्वयंसेवक दस्ते, स्थानीय दस्ते और नियमित छापामार दस्ते अस्तित्व में आयेंगे और आधार-क्षेत्रों का निर्माण होगा। कुछ सशस्त्र दस्तों की कार्रवाई के बजाय उनका ज़ोर क्रान्तिकारी जनप्रदर्शनों, क्रान्तिकारी जनान्दोलनों, क्रान्तिकारी ग्राम सोवियतों की स्थापना और सशस्त्र जनसंघर्षों पर था। इस प्रश्न पर भी संघर्ष मूलत: "वाम" दुस्साहसवाद और जनदिशा के प्रश्न पर था। इन मूल मुद्दों के अतिरिक्त, दोनों पक्षों के बीच जनवादी कार्यक्रम (तालमेल कमेटी 'लोक जनवादी क्रान्ति' शब्दावली का प्रयोग करती थी जबकि आन्ध्र ग्रुप 'नव जनवादी क्रान्ति' शब्दावली का) की कुछ तफ़सीलों, व्याख्याओं और ज़ोर को लेकर था जो हालाँकि गौण था लेकिन यहाँ भी अप्रोच की भिन्नता महत्त्वपूर्ण थी। तालमेल कमेटी चीनी पार्टी के कार्यक्रम का अन्धानुकरण करती थी जबकि आन्ध्र ग्रुप उसकी आम दिशा और फ्रेमवर्क को मानते हुए भी, एक हद तक, भारतीय परिस्थिति की सच्चाइयों को उसमें समाहित करने की कोशिश करता था। तालमेल कमेटी का आन्ध्र ग्रुप पर एक आरोप यह भी था कि वह श्रीकाकुलम सशस्त्र संघर्ष को ज़ोर-शोर से नहीं, बल्कि महज़ रस्मी समर्थन दे रहा है। इस प्रश्न पर आगे चर्चा की जायेगी।

इन मतभेदों के बावजूद, पहली बैठक के बाद आन्ध्र प्रदेश की तालमेल कमेटी अखिल भारतीय तालमेल कमेटी से जुड़ गयी। यह तय किया गया कि प्रयोग करते हुए मतभेद के मसलों पर बहस की प्रक्रिया जारी रहेगी क्योंकि तालमेल कमेटी का उद्देश्य ही यही है। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। 7 फ़रवरी, 1969 को निहायत एकतरफा और मनमाने तरीक़े से आन्ध्र प्रदेश कमेटी को अखिल भारतीय तालमेल कमेटी से निकाल दिया गया और बातचीत करने के उनके बार-बार के अनुरोध पर कान तक नहीं दिया गया।

तालमेल कमेटी का गठन ही इस उद्देश्य से किया गया था कि माओ विचारधारा पर आम तौर पर सहमत देश भर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आपस में बहस-मुबाहिसा करके और अपने

प्रयोगों के अनुभवों का आदान-प्रदान करते हुए भारतीय क्रान्ति की रणनीति, आम रणकौशल और रास्ते के सवाल पर एक राय बनायें तथा भारतीय परिस्थितियों के अध्ययन के आधार पर कार्यक्रम तैयार करें। पर तालमेल कमेटी शुरुआत करते ही लक्ष्य विमुख हो गयी। नक्सलबाड़ी संघर्ष के नेतृत्व के "वामपन्थी" लाइन के आगे घुटने टेकने के बाद चारु मजुमदार ने इस लाइन को ज़ोर-शोर से पूरे देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच बढ़ावा दिया। आम क्रान्तिकारी क़तारों में यह धारणा थी कि नक्सलबाड़ी के निर्माता और नेता चारु मजुमदार ही थे और उनकी लाइन को चीनी पार्टी का पूरा समर्थन हासिल है। बंगाल का एक गुट, जिसमें विशेष तौर पर सरोज दत्त, सौरेन बसु, सुनीति कुमार घोष शामिल थे, चारु को भारतीय क्रान्ति का महान नेता सिद्ध करने में जुट गया था। सत्यनारायण सिंह, कानू सान्याल आदि भी बढ़-चढ़कर उनकी प्रशंसा में जुटे थे। 'तराई किसान संघर्ष की रिपोर्ट' में हालाँकि चारु की लाइन के आगे कानू सान्याल आदि की जनदिशा की लाइन का आत्मसमर्पण मुख्य पहलू था, लेकिन उसमें व्यापक जनसंघर्ष के विकास का एक ब्योरा भी था। पर उस रिपोर्ट को तालमेल कमेटी ने देश भर के क्रान्तिकारियों के बीच न तो कभी चर्चा का विषय बनाया, न खुद ही कभी उस पर चर्चा की। इस पूरी स्थिति का लाभ उठाकर चारु मजुमदार तालमेल कमेटी को एक पार्टी की तरह चलाने लगे और स्वयं उसके स्वयंभू एकछत्र नेता जैसा व्यवहार करने लगे। तालमेल कमेटी विभिन्न कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुपों के बीच तालमेल करने के बजाय पार्टी की केन्द्रीय कमेटी जैसा आचरण करने लगी। विभिन्न ग्रुपों को अपने मुखपत्र बन्द करने का निर्देश जारी किया जाने लगा। मतभेदों और उठाये जाने वाले सवालों पर स्वस्थ बहस के बजाय, अलग विचार प्रकट करने वाले लोगों व ग्रुपों के ख़िलाफ़ कुत्सा-प्रचार करके और उन पर तोहमतें लगाकर निकाल बाहर किया जाने लगा। तालमेल कमेटी ने भारतीय परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण करके भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम और रणकौशल तय करने के बुनियादी कार्यभार को तो पूरी तरह से तिलांजलि दे दी। यह घोषित कर दिया गया कि भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम, रणकौशल और रास्ता हूबहू चीनी क्रान्ति जैसा होगा। लेकिन नक्सलबाड़ी टाइप किसान संघर्ष और चीनी रास्ते की दुहाई देते हुए चारु मजुमदार व्यवहार में घनघोर आतंकवादी लाइन लागू करने की बात कर रहे थे। मज़दूर वर्ग के नेतृत्व की बात करते हुए भी ट्रेड यूनियन कार्यों व मज़दूर वर्ग के बीच हर प्रकार की जनकार्रवाई को अर्थवाद-सुधारवाद कहकर खारिज किया जा रहा था। पार्टी को "देहात-आधारित पार्टी" होना था। और वहाँ भी, किसी प्रकार की जनकार्रवाई, आर्थिक संघर्ष और खुले राजनीतिक प्रचार से बचते हुए सीधे सशस्त्र दस्तों का निर्माण करके भूस्वामियों के ख़िलाफ़ 'ऐक्शन' करना था (जल्दी ही चारु ने इसे स्पष्ट करते हुए 'ख़ात्मे की लाइन' यानी वर्ग शत्रुओं की हत्या की लाइन दी जो व्यक्तिगत आतंकवाद का नग्न रूप था)।

आन्ध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम ज़िले के गिरिजन नक्सलबाड़ी की घटना के क़रीब आठ वर्ष पहले से भूस्वामियों के शोषण-उत्पीड़न और पुलिस उत्पीड़न के विरुद्ध आन्दोलन चला रहे थे। वह इलाक़ा डी. वी. राव.-नागी रेड्डी धड़े के प्रभाव क्षेत्र में नहीं था। कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवादियों ने इस संघर्ष को आगे विकसित करने की कभी कोई कोशिश नहीं की। नक्सलबाड़ी की ख्याति के बाद श्रीकाकुलम के नेताओं ने तालमेल कमेटी से सम्पर्क स्थापित किया और चारु मजुमदार को अपना नेतृत्व करने के लिए आमन्त्रित किया। जनवरी '69 में चारु मजुमदार श्रीकाकुलम गये और वहाँ सशस्त्र संग्राम को "वामपन्थी" आतंकवादी लाइन

पर आगे बढ़ाने का दिशा-निर्देश दिया। श्रीकाकुलम में जनवरी '69 से भूस्वामियों के घरों-गोदामों पर छापामार दस्तों के हमलों और सफ़ाये के लाइन की शुरुआत हुई। चूँकि गिरिजनों का आन्दोलन लम्बे समय से जारी था इसलिए शुरुआती सशस्त्र कार्रवाइयों को व्यापक जनसमर्थन भी हासिल हुआ। बाथापुरम्, पद्मपुर, बूड़ीबांका, आकूपल्ली और गरुड़भद्र में छापामार हमलों और भूस्वामियों-सूदख़ोरों की हत्या की घटनाओं को काफ़ी ख्याति मिली। चारु मजुमदार गुट ने इसे लोकयुद्ध का संकेत बताया। चतरहाट-इस्लामपुर की विफलता के बाद, श्रीकाकुलम में पहली बार चारु मजुमदार की आतंकवादी लाइन व्यापक स्तर पर लागू हुई। पुलिस ने घनघोर दमन की कार्रवाई शुरू की। मई 1966 में, संघर्ष के एक मुख्य नेता पंचाद्रि कृष्णमूर्ति, उनकी पत्नी निर्मला और पाँच अन्य छापामार पुलिस मुठभेड़ में मारे गये। तमाम दमन के बावजूद श्रीकाकुलम संघर्ष 1970 तक जारी रहा। मई 1970 में भा.क.पा. (मा-ले) के स्थापना-सम्मेलन के कुछ महीने बाद ही गिरिजनों के लोकप्रिय नेता वेंकटापु सत्यनारायण और आदिमाटला कैलाशम् सहित कई और नेताओं की हत्या हो गयी तथा नागभूषण पटनायक और अप्पाला सूरी गिरफ़्तार हो गये। लगभग नेतृत्वविहीन हो चुका आन्दोलन फिर जल्दी ही बिखर गया। इस तरह एक व्यापक आधार वाले, लम्बे समय से जारी जनसंघर्ष को "आतंकवादी" रास्ते पर विमुख करके पराजय के गर्त में धकेल दिया गया।

जनवरी '69 में श्रीकाकुलम संघर्ष का नेतृत्व हाथ में आ जाने के बाद, चारु मजुमदार को यह उचित अवसर प्रतीत हुआ कि क्रान्तिकारी जनदिशा की पुरज़ोर वकालत करने वाले डी. वी.-नागी ग्रुप से छुटकारा पा लिया जाये और फिर फ़रवरी '69 में निहायत नौकरशाहाना तरीक़े से उन्हें तालमेल कमेटी से निकाल बाहर किया गया। डी.वी.-नागी के नेतृत्व में आन्ध्र प्रदेश में माकपा से पार्टी का बहुसंख्यक हिस्सा बाहर आया था। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी राजनीति का इतना व्यापक जनाधार और कार्यकर्ताओं का आधार देश के किसी राज्य में नहीं था। आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी को निष्कासित करने में चारु को मिली सफलता कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए एक भारी धक्का थी जिसने पार्टी गठन की प्रक्रिया को शुरू होते ही गम्भीर नुकसान पहुँचाया।

तालमेल कमेटी में बहस-मुबाहिसे के जनवादी माहौल का गला घोंट दिये जाने और नौकरशाहाना और संकीर्ण गुटपरस्त कार्यशैली के हावी होने के बाद, बंगाल के और पूरे देश के कई छोटे-छोटे ग्रुप तो उसमें शामिल ही नहीं हुए। कई ग्रुप जो शुरू में इससे सम्बद्ध हुए थे, बाद में अलग हो गये। 'चिन्ता'/'दक्षिण देश' ग्रुप का उल्लेख पहले आ चुका है। नक्सलबाड़ी विद्रोह के पाँच महीने बाद इस ग्रुप ने 24 परगना ज़िले के सोनारपुर में किसान संघर्ष संगठित किया था जिसे ज़बर्दस्त पुलिस दमन का शिकार होना पड़ा था। इसमें ग्रुप के एक संस्थापक नेता चन्द्रशेखर दास की हत्या भी कर दी गयी थी। सोनारपुर के अतिरिक्त 1968-69 के दौरान इस ग्रुप ने हावड़ा, हुगली, मेदिनीपुर, बीरभूम, मालदा और बर्धमान ज़िले के कुछ क्षेत्रों में भी किसानों में काम संगठित किया तथा दक्षिणी कलकत्ता, आसनसोल और दुर्गापुर में औद्योगिक मज़दूरों के बीच ट्रेड यूनियन मोर्चे पर काम किया। दक्षिण देश ग्रुप के लोगों का 1966 के अन्त में ही चारु मजुमदार और दार्जिलिंग के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों से सम्पर्क हो चुका था। नक्सलबाड़ी के तुरत बाद चारु मजुमदार से फिर उनकी बातचीत हुई। तालमेल कमेटी बनने के बाद चारु मजुमदार से कई अहम मतभेदों के बावजूद दक्षिण देश ग्रुप उससे सम्बद्ध हुआ, लेकिन नौकरशाहाना तौर-तरीक़ों के चलते और मतभेदों के सुलझने की

प्रक्रिया नहीं चलते देख, जल्दी ही उसे अलग हो जाना पड़ा। दक्षिण देश ग्रुप की राजनीतिक सोच कई मायनों में दकियानूसी और यान्त्रिक थी, लेकिन उन्होंने राजनीति और सांगठनिक कार्यशैली-विषयक कुछ बुनियादी महत्त्व के प्रश्न उठाये। जनसंगठन और पार्टी संगठन के अन्तरसम्बन्ध और छापामार संघर्ष के विकास, चुनाव के इस्तेमाल, वर्गों के रणनीतिक संश्रय के अमली रूप आदि कई प्रश्नों पर वे स्वयं अतिवामपन्थी भटकावों के शिकार थे, लेकिन बिना किसी राजनीतिक कार्य के गुप्त दस्तों के गठन और 'ऐक्शन' को छापामार-युद्ध बताने और सफ़ाये की लाइन को वे "वामपन्थी" दुस्साहसवाद मानते थे तथा साथ ही, चारु की लाइन को स्वयंस्फूर्ततावाद और अराजकतावाद का भी शिकार मानते थे। चीन की पार्टी के प्रति उनका रवैया अनुकरणवादी था और विभिन्न सांगठिनक प्रश्नों पर वे शुद्धतावादी रोमानी नज़रिये के शिकार थे, लेकिन इस प्रश्न को उन्होंने गम्भीरता के साथ रेखांकित किया कि तालमेल कमेटी को भारतीय परिस्थितियों के अध्ययन-विश्लेषण के आधार पर भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम एवं रणकौशल के निर्धारण के अपने लक्ष्य को पूरा करने पर विशेष ध्यान देना चाहिए जबकि वह उसकी उपेक्षा कर रही है। उनका भी यह मानना था कि नक्सलबाड़ी नहीं बल्कि तेलंगाना भारत में माओ विचारधारा का पहला प्रयोग था और नक्सलबाड़ी उसका जारी रूप है। इन प्रश्नों पर तालमेल कमेटी में जनवादी ढंग से बहस चलाने के बजाय चारु गुट ने उपेक्षा करने, कुत्सा प्रचार करने और लेबल चस्पाँ करने ('देशव्रती' में लिखकर भी) का काम किया। यही नहीं, तालमेल कमेटी का पार्टी की तरह इस्तेमाल करते हुए और स्वयं पार्टी नेतृत्व जैसा व्यवहार करते हुए चारु गुट ने 'दक्षिण देश' का प्रकाशन-वितरण बन्द करने के लिए भी कहना शुरू कर दिया। इस स्थिति में 'दक्षिण देश' ग्रुप ने तालमेल कमेटी से अपने को अलग कर लिया। लेकिन साथ ही यह निर्णय भी लिया कि ग़लत नीतियों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए वे एकता क़ायम करने की कोशिशें जारी रखेंगे। आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी के निष्कासन और दक्षिण देश ग्रुप के अलग होने के बाद, तालमेल कमेटी के कामों की समीक्षा किये बगैर और बुनियादी लक्ष्यों को पूरा किये बगैर 22 अप्रैल, 1969 को जब अचानक भा.क.पा. (मा-ले) की स्थापना की घोषणा की गयी और एक वर्ष के भीतर पार्टी कांग्रेस का निर्णय लिया गया तो यह दक्षिण देश ग्रुप के लिए आश्चर्य की बात थी। अपने विचारों और मतभेदों को लेकर उसने भा.क.पा. (मा-ले) नेतृत्व को एक पत्र भेजा, जिसका उसने कोई उत्तर नहीं दिया। तब दक्षिण देश ग्रुप ने अलग राह पकड़ी और 20 अक्टूबर 1969 को 'माओवादी कम्युनिस्ट केन्द्र' नाम से एक अलग केन्द्र की स्थापना की।

क्रान्तिकारियों की पश्चिम बंगाल तालमेल कमेटी (डब्ल्यू.बी.सी.सी.आर.) ने भी अखिल भारतीय तालमेल कमेटी के समक्ष राजनीति, संगठन और कार्यप्रणाली-विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण सवाल उठाये और "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन के साथ अपने मतभेद रखे। उसके प्रश्नों और मतभेदों की भी पूरी तरह से अनदेखी की गयी और यह संगठन भी तालमेल कमेटी में शामिल नहीं हुआ।

मतभेद के बुनियादी और अहम मसले उठाने वाले अगले दो व्यक्ति थे परिमल दासगुप्त और असित सेन। परिमल दासगुप्त तालमेल कमेटी के काम के एक-डेढ़ वर्ष बाद ही आनन-फानन में पार्टी-गठन के निर्णय से सहमत नहीं थे। वे लम्बे सैद्धान्तिक संघर्ष और व्यावहारिक कामों के बाद संशोधनवाद और अवसरवाद से मुक्त क्रान्तिकारी पार्टी की स्थापना के पक्षधर थे। यह सही है कि कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी भटकावों से अन्तिम मुक्ति की

गारण्टी नहीं दे सकती और यह भटकाव पार्टी में सिर उठाते ही रहते हैं जिनके विरुद्ध पार्टी में सतत् दो लाइनों का संघर्ष चलाना पड़ता है। लेकिन इस आदर्शवादी विचलन के बावजूद परिमल दासगुप्त की अवस्थिति इस मायने में सही थी कि कार्यक्रम-निर्धारण के लिए भारतीय परिस्थितियों के अध्ययन-विश्लेषण सहित अपने किसी भी लक्ष्य को तालमेल कमेटी ने वास्तव में अर्जित नहीं किया था और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच वास्तविक राजनीतिक एकता कायम करने के लिए वे बहस और अनुभवों के आदान-प्रदान की ज़िम्मेदारी लगभग पूरी तरह से छोड़ दी गयी थी। इस मतभेद के बाद परिमल दासगुप्त और उनके समर्थकों ने अखिल भारतीय तालमेल कमेटी से अलग होकर एक समान्तर तालमेल कमेटी बनायी (जो कालान्तर में निष्क्रिय हो गयी) जिसने एक दस्तावेज़ निकालकर चारु मजुमदार के साथ अपने मतभेदों का उल्लेख किया। उक्त दस्तावेज़ में कहा गया था कि चारु मजुमदार माओ के रास्ते से भटककर चे ग्वेवारा के निम्न-बुर्जुआ क्रान्तिवादी रास्ते का अनुसरण कर रहे हैं। माओ विचारधारा राजनीति के आधार पर जनगण को संगठित करने की बात करती है जबकि चे ग्वेवारा का रास्ता उसे मुठभेड़ों के जरिये संगठित करने का था। दस्तावेज़ के अनुसार, गुप्त दस्तों के जरिये छापामार युद्ध को क्रान्तिकारी आन्दोलन का एकमात्र रास्ता बताना, अर्थवाद से बचने के नाम पर ट्रेड यूनियन आन्दोलन का विरोध, देहाती क्षेत्रों में आधार क्षेत्र के निर्माण के नाम पर शहरी मज़दूरों और मध्य वर्ग के आन्दोलनों के प्रति घृणा-भाव, छोटे-छोटे ग्रुपों द्वारा संघर्षों के जरिये ही भूमि क्रान्ति को आगे बढ़ाने का प्रयास और वर्ग संगठन और जन संघर्षों के बिना ही क्रान्तिकारी संघर्ष की कोशिशें – चारु की लाइन के ये सभी संघटक अवयव चे ग्वेवारा से उधार लिये गये हैं, यह माओ विचारधारा का विकृतिकरण है और इन रुझानों को ठीक किये बिना बनायी जाने वाली पार्टी कालान्तर में एक आतंकवादी पार्टी बनकर रह जायेगी।

1 मई, 1969 को कलकता के शहीद मीनार मैदान की जिस जनसभा में कानू सान्याल ने भा.क.पा. (मा-ले) की स्थापना की घोषणा की थी उसकी अध्यक्षता असित सेन ने ही की थी, लेकिन कुछ सप्ताह बाद ही नेतृत्व के साथ पहले से ही चले आ रहे अपने गम्भीर मतभेदों के हल नहीं होने के कारण उन्हें अलग हो जाना पड़ा। चारु मजुमदार की लाइन के साथ असित सेन के मतभेद शुरुआती दौर से ही मौजूद थे। चारु मजुमदार का मानना था कि ज़मीन की लड़ाई किसानों को क्रान्तिकारी रास्ते से भटकाकर अर्थवाद और संशोधनवाद के दलदल में धँसा देती है, अतः उन्हें सिर्फ़ राज्यसत्ता पर अधिकार के लिए लड़ना चाहिए। उनका कहना था कि नक्सलबाड़ी में किसान ज़मीन के लिए नहीं बल्कि राज्यसत्ता पर अधिकार के लिए लड़ रहे थे। असित सेन का मानना था कि कोई भी वर्ग पहले अपनी वर्गीय माँग पर ही संगठित होता है, ज़मीन के लिए संघर्ष जनवादी क्रान्ति के लिए किसानों की तैयारी के लिए ज़रूरी पहला क़दम होता है। चारु मजुमदार की लाइन के विपरीत असित सेन ट्रेड यूनियनों को मज़दूरों के लिए क्रान्ति का प्राथमिक स्कूल मानते थे और मज़दूर वर्ग के आन्दोलनों और ट्रेड यूनियनों को आवश्यक मानते थे। वे "देहात-आधारित" पार्टी की अवधारणा का विरोध करते थे और पार्टी के मज़दूरवर्गीय हिरावल चरित्र पर बल देते थे। चारु मजुमदार गुट का तर्क था कि भा.क.पा. (मा-ले) विशुद्ध सर्वहारा पार्टी है क्योंकि उसके अधिकांश नेता सशस्त्र संघर्ष के क्षेत्र से आये हैं। असित सेन का तर्क था कि मात्र कुछ कॉमरेडों के सशस्त्र संघर्ष के क्षेत्र से जुड़े होने से पार्टी का निम्न-पूँजीवादी वर्ग-चरित्र बदल

नहीं जाता। मुख्य प्रश्न विचारधारा का है और मज़दूर वर्ग से पार्टी क़तारों में भरती का है। साथ ही, व्यापक वर्ग संघर्ष की उपेक्षा करके मात्र क्रान्तिकारी राजनीति देने पर भी क्रान्तिकारी सेना का हिरावल नहीं तैयार हो सकता। असित सेन का कहना था कि आर्थिक माँगों की लड़ाई को संशोधनवाद कहकर मज़दूर आन्दोलन से दूर हट जाना मज़दूर वर्ग को संशोधनवाद और हर तरह के प्रतिक्रियावादी विचारधारा के हवाले कर दिये जाने के समान है। व्यक्ति-हत्या या ख़ात्मे की लाइन को उन्होंने नरोदवाद और चे ग्वेवारा के निम्न-पूँजीवादी रोमानी सिद्धान्त का सम्मिश्रण बताया। असित सेन का कहना था कि वर्ग शत्रुओं की हत्या और जायदाद-ज़ब्ती कभी भी वर्ग संघर्ष का मुख्य रूप नहीं हो सकते। साथ ही, जिस प्रकार जनता के स्वत:स्फूर्त सशस्त्र संघर्ष और क्रान्तिकारी राजनीति के नेतृत्व में चलने वाले सशस्त्र संघर्ष में मौलिक अन्तर होता है, उसी प्रकार निम्न-पूँजीवादी क्रान्तिकारी दुस्साहसियों द्वारा प्रारम्भ किये गये सशस्त्र संघर्ष और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा से लैस मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में चलने वाले वर्ग-संघर्ष में भी मौलिक अन्तर होता है। हरेक बात छापामार संघर्ष के जरिये सोच-समझ ली जायेगी, चारु मजुमदार की इस धारणा का खण्डन करते हुए असित सेन ने अपने दस्तावेज़ में लिखा कि यदि सशस्त्र संग्राम करने से अपने आप सही क्रान्तिकारी पार्टी बन जानी होती तो भारत में क्रान्ति कभी की हो गयी होती। उन्होंने इस तथ्य को भी रेखांकित किया कि चारु की लाइन क्रान्तिकारी पार्टी के मुख्य तत्व – मज़दूर वर्ग को सशस्त्र संघर्ष से एकदम अलग कर देती है!

यह सही है कि परिमल दासगुप्त और असित सेनगुप्त द्वारा प्रस्तुत चारु मजुमदार की "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन की आलोचना विचारधारात्मक रूप से उतनी सुसंगत और सांगोपांग नहीं थी, जैसी कि डी. वी. राव-नागी रेड्डी ग्रुप या आगे चलकर पंजाब क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी (हरभजन सिंह सोही ग्रुप) द्वारा प्रस्तुत आलोचना थी। फिर भी उन्होंने "वामपन्थी" दुस्साहवाद की प्रकृति, वर्ग-चरित्र और मुख्य अभिव्यक्तियों की बुनियादी तौर पर सही शिनाख़्त की थी। समस्या यह थी कि एक गहरी विचारधारात्मक समझ और सांगोपांग दृष्टि न होने के कारण उन्होंने सवाल काफ़ी देर से उठाये और अलग-अलग समयों पर उठाये। जब आन्ध्र कमेटी से मतभेद चला और उन्हें नौकरशाहाना ढंग से निकाल बाहर किया गया, उस समय उन्होंने सही अवस्थिति नहीं ली थी। यही नहीं, स्वयं अलग होने के बाद भी उन्होंने जनदिशा की बुनियादी एकता के बावजूद उनसे (यानी आन्ध्र कमेटी से) तालमेल बनाने की कोशिश नहीं की। अपनी स्वयं की विचारधारात्मक कमज़ोरी और विचलनों के चलते "वामपन्थी" आतंकवादी लाइन का विरोध करने वाले ग्रुप और व्यक्ति आपस के गौण मतभेदों को अतिरिक्त अहमियत देते रहे और इस कारण से भी अतिवामपन्थ और जनदिशा के बीच ध्रुवीकरण की प्रक्रिया प्रभावित हुई। यह भी एक तथ्य है कि संशोधनवादी भटकाव और कतिपय विचारधारात्मक उलझाव परिमल दासगुप्त और असित सेन के चिन्तन में भी मौजूद थे (जैसे परिमल दासगुप्त सोवियत पार्टी को संशोधनवादी तो मानते थे, लेकिन साथ ही उन्होंने "पश्चिमी साम्राज्यवादी दख़लन्दाज़ी के विरोध" के तर्क के आधार पर चेकोस्लोवाकिया पर सोवियत संघ के आक्रमण को उचित ठहराया था), लेकिन वे सुसंगत संशोधनवादी न होकर 'जेनुइन' मार्क्सवादी-लेनिनवादी ही थे। उनके जीवन के उत्तरवर्ती दौर ने इस बात को सही सिद्ध किया। दोनों जीवनपर्यन्त कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा से ही जुड़े रहे और 1996 में अपनी मृत्यु से पूर्व असित सेन भा.क.पा. (मा-ले) (जनशक्ति) ग्रुप के साथ जुड़े हुए थे।

मूल और मुख्य बात यह है कि यदि ए.आई.सी.सी.सी.आर. सही जनवादी ढंग से तालमेल और राजनीतिक बहस की भूमिका निभाती तो ऐसे योग्य और ईमानदार लोग बहस-मुबाहिसे के दौरान अपने भटकावों से मुक्त होकर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में शानदार भूमिका निभा सकते थे, लेकिन तालमेल कमेटी पर आतंकवादी लाइन के नौकरशाहाना वर्चस्व ने ऐसा होने नहीं दिया। ऐतिहासिक आकलन की दृष्टि से आज मुख्य बात यह है कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन को विघटन और तबाही की दिशा में धकेलने में जिस लाइन ने कुंजीभूत भूमिका निभायी, कतिपय कमियों के बावजूद परिमल दासगुप्त और असित सेन जैसे लोगों ने भी उस लाइन की मूल प्रकृति की निशानदेही की और उसकी आलोचना प्रस्तुत की।

ए.आई.सी.सी.सी.आर. के काल में चारु मजुमदार की "वामपन्थी" लाइन की सुसंगत, तार्किक और सांगोपांग समालोचना प्रस्तुत करने वाले और दृढ़ विरोध करने वालों में आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी (डी. वी. राव-नागी रेड्डी ग्रुप) के बाद दूसरे स्थान पर पंजाब के एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धड़े का नाम आता है जिसका नेतृत्व हरभजन सिंह सोही कर रहे थे। 1970 के बाद, भा.क.पा. (मा-ले) काल में एक अलग ग्रुप के तौर पर काम करते हुए कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के इस हिस्से ने जनदिशा को ठोस रूप में सफलतापूर्वक लागू करते हुए पंजाब में "वामपन्थी" आतंकवादी धारा को व्यवहार में भी फ़ैसलाकुन शिकस्त दी। मा.क.पा. की पंजाब इकाई में मतभेद और विवादों की शुरुआत नक्सलबाड़ी विद्रोह के तत्काल बाद हो गयी थी और जल्दी ही माओवादी रुझान वाले कार्यकर्ताओं को पार्टी से निकाल दिया गया। इन क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों ने राज्य स्तर पर एक तालमेल कमेटी गठित की जिसके सचिव दया सिंह थे। दया सिंह सुलझे हुए कम्युनिस्ट थे और "वामपन्थी" लाइन के बारे में उनके भी कुछ 'रिजर्वेशंस' थे। लेकिन कमोबेश 1968 के अन्त से तालमेल कमेटी में हावी "वामपन्थी" लहर का पंजाब में भी भारी प्रभाव था और उदारतावादी प्रवृत्ति के चलते दया सिंह बहुमत के हिसाब से चलने के हामी थे। आतंकवादी लाइन पर पंजाब में सशस्त्र संघर्ष की शुरुआत 1969 में हुई। कुछ 'ऐक्शंस' के बाद ही पुलिस दमन, गिरफ़्तारियों और फर्ज़ी मुठभेड़ों का धुआँधार सिलसिला शुरू हो गया। मार्च 1970 के अन्त में भा.क.पा. (मा-ले) (तब तक पार्टी की घोषणा हो चुकी थी) की पंजाब राज्य कमेटी के सचिव दया सिंह, रोपड़ ज़िला कमेटी के सचिव बलवन्त सिंह, वयोवृद्ध गदरी बाबा और पटियाला के नेता हरिसिंह मृगेन्द्र की पुलिस ने फर्ज़ी मुठभेड़ में हत्या कर दी। पंजाब में मा-ले आन्दोलन से जुड़ने वाले गदर पार्टी के पुराने लोगों में बाबा निरंजन कालसा और बाबा भुजा सिंह भी थे। इनकी भी बाद में पुलिस ने गिरफ़्तारी के बाद फर्जी मुठभेड़ दिखाकर नृशंस हत्या कर दी। "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन पंजाब में पार्टी कांग्रेस के बाद भी कुछ दिनों तक जारी रही। क़रीब नब्बे के आसपास वर्ग शत्रुओं का सफ़ाया किया गया जिनमें अधिकांश सूदख़ोर थे। पंजाब में देश के अन्य कुछ पिछड़े हिस्सों की तरह ज़मीन और सामन्ती उत्पीड़न का सवाल 1967-70 के दौरान भी नहीं था, लेकिन सूदख़ोरों के ख़िलाफ़ न केवल ग़रीब बल्कि मँझोले किसानों में भी गहरी नफ़रत थी। पंजाबी समाज में राज्य के विरुद्ध जुझारू वीरतापूर्ण संघर्षों-कुर्बानियों की एक लम्बी परम्परा रही है। कम्युनिस्ट क़तारों में विचारधारात्मक समझ के अभाव में इस परम्परा ने "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के लिए खाद-पानी का काम किया। अकेले इस एक राज्य में 1974 तक फर्जी मुठभेड़ों में सौ से कुछ अधिक क्रान्तिकारी मौत के घाट उतारे जा चुके थे और दर्ज़नों क्रान्तिकारी जेलों में लम्बी सज़ाएँ भुगत रहे थे।

पंजाब में राज्य स्तरीय तालमेल कमेटी के गठन के बाद से ही भटिण्डा-फिरोज़पुर कमेटी के लोग सफ़ाये की लाइन, आर्थिक संघर्षों, जन संघर्षों और जन संगठन के निषेध की लाइन और लोक युद्ध के उद्गम और विकास की आतंकवादी समझ का दृढ़तापूर्वक विरोध कर रहे थे। क्रान्तिकारी संघर्षों के असमान विकास और मज़दूर वर्ग के नेतृत्व के प्रश्न पर भी उनकी चारु की लाइन से भिन्न राय थी और जनदिशा के अमल के प्रश्न पर वे अडिग थे। जब भा. क.पा. (मा-ले) के गठन और कांग्रेस की घोषणा हुई तो उन्होंने इस पर भी अपनी अलग राय रखी। कठिन अलगाव झेलकर और "गद्दार", "संशोधनवादी", "जनता के दुश्मन" आदि "उपाधियाँ" पाकर भी वे अपनी अवस्थिति पर दृढ़ रहे और क्रान्तिकारी आतंकवाद की शक्तिशाली लहर का सामना करते रहे। इसके बावजूद वे औपचारिक तौर पर पहले तालमेल कमेटी, और पार्टी-गठन की घोषणा के बाद भा.क.पा. (मा-ले) का हिस्सा बने रहे। फ़रवरी 1970 में, पार्टी कांग्रेस के ठीक पहले भटिण्डा-फिरोजपुर कमेटी भा.क.पा. (मा-ले) से अलग हो गयी और 'पंजाब कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कमेटी' (पी.सी.आर.सी.) के नाम से इसने अपना पुनर्गठन किया। आगे चलकर उसने पंजाब में जनदिशा को सफलतापूर्वक और प्रभावी ढंग से लागू किया और चारुपन्थी धारा को एकदम अलग-थलग और निशक्त बना डाला। इसकी चर्चा आलेख में आगे यथास्थान आयेगी।

ए.आई.सी.सी.सी.आर. के पूरे काल में, तालमेल कमेटी द्वारा निर्धारित सभी कार्यभारों को तिलांजलि देते हुए तालमेल कमेटी के स्वरूप को नकारकर उसे एक केन्द्रीकृत पार्टी की तरह इस्तेमाल करते हुए और स्वयं एकछत्र नेता सदृश नौकरशाहाना व्यवहार करते हुए तथा चीन की पार्टी के लेखों एवं प्रसारणों द्वारा मिलने वाली मान्यता एवं नक्सलबाड़ी के घोषित नेता होने की साख का लाभ उठाते हुए चारु मजुमदार ने एक-एक करके अपनी लाइन के विरोधी ग्रुपों और व्यक्तियों को ठिकाने लगाया और तालमेल कमेटी पर अपनी लाइन का वर्चस्व स्थापित होते ही पार्टी-गठन के लिए आगे बढ़ गये। इस प्रक्रिया में उन्हें इस बात से भी मदद मिली कि उनकी लाइन के कई विरोधी स्वयं या तो "वामपन्थी" या दक्षिणपन्थी विचलन के शिकार थे, उनकी (यानी चारु के लाइन के विरोधियों की) लाइन सुसंगत नहीं थी, विरोध के स्वर एकसाथ नहीं बल्कि अलग-अलग उठते रहे तथा जनदिशा के पक्षधर ग्रुपों और लोगों के बीच भी आपस में कई मसलों पर अहम या गौण मतभेद थे। जैसे-जैसे तालमेल कमेटी से विरोध-पक्ष का सफ़ाया होता गया, चारु की लाइन का "वामपन्थी" अवसरवादी चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा नग्न और विकृत रूप में सामने आता चला गया। पहले वे गोलमोल भाषा में जनसंघर्षों की या भूमि क्रान्ति के कार्यक्रम की या मज़दूर वर्ग के संघर्षों की बात करते थे, लेकिन अब उन्होंने हर प्रकार की जनकार्रवाई, खुले काम, आर्थिक संघर्ष और राजनीतिक प्रचार-कार्य को सिरे से ख़ारिज करते हुए यह कहना शुरू किया कि "ख़ात्मे की लड़ाई ही वर्ग संघर्ष का उच्चतर रूप और छापामार संघर्ष का आरम्भ दोनों ही है", इसी के द्वारा भारी किसान जनसमुदाय जागृत होगा, इसी के द्वारा मुक्तांचल-निर्माण और क्रान्तिकारी सेना-निर्माण की समस्या हल होगी और इसी से प्रेरित प्रचण्ड स्वयंस्फूर्त जन-अभ्युत्थान राज्यसत्ता पर वज्राघात करेगा। पार्टी कांग्रेस से तीन माह पहले छापामार कार्रवाई के बारे में लिखे गये अपने एक लेख में उन्होंने लिखा कि छापामार दस्ते बिल्कुल गुप्त और स्वतन्त्र होंगे, उन पर पार्टी कमेटी का भी नियन्त्रण नहीं होगा, उनको बनाने का तरीक़ा एक-एक व्यक्ति को पकड़कर, उसके कान में फुसफुसाकर किया जायेगा, इसकी भनक पार्टी की राजनीतिक इकाइयों को भी

नहीं होगी और इसके लिए निम्न-बुर्जुआ बुद्धिजीवियों को पहल करनी होगी। यही नहीं, लोकयुद्ध की दीर्घकालिक प्रवृत्ति को ठुकराते हुए उन्होंने ख़ात्मे की लाइन से प्रेरित प्रचण्ड देशव्यापी विद्रोह की भी कल्पना की और कांग्रेस के पहले के काल में ही, पार्टी-गठन की घोषणा के बाद, 1969 में सत्तर के दशक को मुक्ति के दशक में बदल देने का नारा दिया।

वस्तुतः यह रणदिवे काल के "वामपन्थी" भटकाव का ही एक अत्यधिक विकृत और भोंड़ा संस्करण था जिसका मार्क्सवाद-लेनिनवाद से और जनवादी क्रान्ति विषयक माओ के विचारों से कुछ भी लेना-देना नहीं था।

सिद्धान्त-निरूपण के साथ ही क्रान्तिकारी आतंकवाद का व्यवहार भी देश के विभिन्न हिस्सों में ज़ोर-शोर से जारी था। देश के विभिन्न हिस्सों में चारु की लाइन से प्रेरित कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी छिटपुट, बिखरे हुए रूप में, दस्ते बनाकर 'ऐक्शन' और ख़ात्मे की लाइन लागू करते थे और कुछेक कार्रवाइयों के बाद ही सबकुछ बिखर जाता था। श्रीकाकुलम के बाद "वाम" दुस्साहवाद का दूसरा बड़ा प्रयोग बंगाल के मिदनापुर ज़िले के दो थानों डेबरा और गोपीवल्लभपुर में हुआ। उस समय तक तालमेल कमेटी पार्टी-गठन की घोषणा कर चुकी थी। सितम्बर '69 से यहाँ कार्रवाइयों की शुरुआत नवगठित पार्टी की प. बंगाल-बिहार-उड़ीसा सीमा आंचलिक कमेटी ने की थी जिसके सचिव असीम चटर्जी और मुख्य संगठनकर्ता सन्तोष राणा, मिहिर राणा, गुणधर मुर्मू आदि थे। उल्लेखनीय है कि शुरुआत यहाँ भी व्यापक जन पहलकदमी और जनान्दोलन के रूप में हुई। अत्याचारी ज़मीन्दारों के खेत काटने के अभियान में 40,000 किसानों ने हिस्सा लिया। गाँवों में किसान कमेटियों ने अपनी सत्ता क़ायम करके लोक अदालतें लगाकर ज़मीन्दारों, सूदख़ोरों को दण्डित किया। ज़मीन्दारों और धनी किसानों के खेतों में काम करने वाले मज़दूरों की मज़दूरी पाँच गुनी कर दी गयी। लेकिन इस शुरुआत के बाद दस्तों की आतंकवादी कार्रवाइयों ने जनान्दोलन को तबाह कर दिया। अप्रैल 1970 तक साठ वर्ग शत्रुओं की हत्या की जा चुकी थी। इस मुहिम को डेबरा और गोपीवल्लभपुर थानों से बाहर खड़गपुर लोकल, सांक्राइल, केशापुर और चाकुलिया में फैलाया गया। लेकिन बढ़ते दमन और गतिरोध के साथ ही नेतृत्व में मतभेद भी पैदा होने लगे और लाइन पर सवाल भी उठने लगे। 1970 के मध्य तक यह आन्दोलन बिखर चुका था।

बिहार के मुज़फ्फरपुर ज़िले के मुसहरी अंचल के लगभग बारह गाँवों में भी भूमि आन्दोलन की शुरुआत 1969 में जन आन्दोलन के रूप में हुई जिसमें लगभग दस हज़ार किसानों ने हिस्सा लिया। शुरुआती दौर के बाद वहाँ भी सफ़ाये की लाइन लागू हुई और फ़रवरी '70 तक दस वर्ग-शत्रुओं की हत्या कर दी गयी। यहाँ भी डेढ़ वर्ष के भीतर आन्दोलन गतिरोध का शिकार होकर बिखर गया।

उत्तर प्रदेश में लखीमपुर ज़िले के तराई अंचल के पालिया में जनवरी-फ़रवरी 1968 में किसानों का आन्दोलन जन-पहलकदमी और जन-भागीदारी के साथ शुरू हुआ। ग़रीब किसानों और मज़दूरों ने पीलीभीत तराई फार्म और पतियान, घोला, इब्राहीमपुर के फार्मों पर (यह एक दीगर प्रश्न है कि मुद्दा यहाँ ज़मीन का होना चाहिए था या नहीं, क्योंकि ये फार्म पूँजीवादी भूस्वामियों के फार्म थे जो मज़दूरों से काम लेकर मुनाफ़े की खेती करते थे) फार्म मालिकों के गुण्डा गिरोहों से मोर्चा लेकर ज़मीन पर क़ब्ज़ा किया। फिर "वामपन्थी" लाइन के हावी होने का दौर आया और दमन ने भी ज़ोर पकड़ा। एक वर्ष के भीतर यह आन्दोलन भी बिखर गया।

बावजूद इन विफलताओं के, मुक्ति संघर्ष के निरन्तर अग्रवर्ती विकास के चारु के दावे

जारी थे। कारण यह था कि एक जगह "वामपन्थी" लाइन की विफलता सामने आती थी, तब तक दूसरे किसी क्षेत्र में ज़ोर-शोर से इसका अमल शुरू हो चुका होता था। फिर भी 1970 के अन्त तक पूरे देश में मा-ले आन्दोलन की "वाम-" आतंकवादी मुहिम पिट चुकी थी और चतुर्दिक व्याप्त गतिरोध एक ओर क़तारों में निराशा पैदा कर रहा था, दूसरी ओर नेतृत्व में मतभेद और फूट की ज़मीन तैयार कर रहा था। इसकी चर्चा लेख के अगले हिस्से में पार्टी कांग्रेस के बाद के काल के घटना-प्रवाह के विवरण और समाहार के दौरान की जायेगी। यहाँ पार्टी-कांग्रेस तक का घटनाक्रम संक्षेप में बताकर हमें इस हिस्से का समापन करना होगा।

ए.आई.सी.सी.सी.आर. से आन्ध्र प्रदेश कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कमेटी के निष्कासन (7 फ़रवरी '69) के बाद चारु को लगने लगा था कि "वामपन्थी" लाइन के रास्ते की सबसे बड़ी बाधा हटायी जा चुकी है। अपने पहले के विचार को एकाएक बदलते हुए उन्होंने अचानक यह विचार रखना शुरू किया कि अब सर्वभारतीय पार्टी गठन का उपयुक्त समय आ गया है। तालमेल कमेटी के कामों की कोई भी समीक्षा नहीं हुई। कुछ लोगों ने विरोध किया, फिर सहमत हो गये। परिमल दासगुप्त को निकाले जाने के बाद इस निर्णय का एकमात्र शेष विरोधी भी रास्ते से हट गया। 22 अप्रैल 1969 को तालमेल कमेटी ने अपने को भंग कर भा. क.पा. (मा-ले) की स्थापना की और 1 मई 1969 को कलकता के शहीद मीनार मैदान में आयोजित जनसभा में कानू सान्याल ने इसकी घोषणा की। 27 अप्रैल के अधिवेशन में पार्टी की आरज़ी (कांग्रेस तक के लिए) नेतृत्वकारी कमेटी के रूप में केन्द्रीय सांगठनिक कमेटी का गठन किया गया जिसके कुल ग्यारह सदस्य थे : चारु मजुमदार, सुशीतल रायचौधरी, सरोज दत्त, कानू सान्याल, सौरेन बसु, शिवकुमार मिश्र, सत्यनारायण सिंह, आर. पी. सर्राफ, पंचाद्रि कृष्णमूर्ति, चौधरी तेजेश्वर राव और एल. अप्पू। चारु मजुमदार को कमेटी का सचिव चुना गया। एक वर्ष के भीतर पार्टी कांग्रेस बुलाने का निर्णय लिया गया। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने पार्टी-स्थापना का स्वागत किया और उसे मान्यता प्रदान की। पीकिङ रेडियो से 22 अप्रैल '69 के प्रस्ताव का, 1 मई की जनसभा में कानू सान्याल के भाषण का और जनसभा में पारित प्रस्तावों का प्रसारण हुआ। इससे क़तारों में नवगठित पार्टी की मान्यता बढ़ी और नये उत्साह का संचार हुआ। 1969 के अन्त में एक पार्टी प्रतिनिधिमण्डल ने चीन की गुप्त यात्रा भी की।

अप्रैल 1970 में पार्टी कांग्रेस की तैयारी के लिए केन्द्रीय सांगठनिक कमेटी ने तीन दिनों की बैठक की। बैठक में सत्यनारायण सिंह, शिवकुमार मिश्र और सौरेन बसु को पार्टी कार्यक्रम का मसविदा तैयार करने की तथा सुशीतल रायचौधरी, आर. पी. सर्राफ और सरोज दत्त को राजनीतिक प्रस्ताव का मसौदा तैयार करने की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी।

भा.क.पा. (मा-ले) की स्थापना कांग्रेस (जिसे कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास की निरन्तरता की दृष्टि से आठवीं कांग्रेस कहा गया) 15-16 मई 1970 को कलकता में हुई जिसमें प. बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, असम, आन्ध्र, त्रिपुरा, तमिलनाडु, केरल, पंजाब और जम्मू-कश्मीर के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इसके पूर्व राजनीतिक प्रस्ताव के मसौदे पर उत्तर प्रदेश राज्य सम्मेलन में काफ़ी बहस हुई थी जिसमें छापामार संघर्ष के ही संघर्ष के एकमात्र रूप होने, सफ़ाये की लाइन और चीन की पार्टी के प्रति निष्ठा को क्रान्तिकारियों की एकरूपता की एकमात्र शर्त बनाने का विरोध किया गया था। कांग्रेस में आर. एन. उपाध्याय ने इस बहस की रिपोर्ट रखी। स्पष्ट था कि उ. प्र. में चारु की लाइन के विरोध का पक्ष प्रधान

था। लेकिन राजनीतिक प्रस्ताव के मसौदे के पक्ष में सत्यनारायण सिंह के वक्तव्य के बाद उसे पारित कर दिया गया। पार्टी-कार्यक्रम चीन की लोक जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर आधारित था। इसमें भारतीय समाज को एक अर्द्धसामन्ती, अर्द्ध-औपनिवेशिक समाज बताते हुए और आज़ादी को नकली आज़ादी बताते हुए अमेरिकी साम्राज्यवाद, सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और दलाल-नौकरशाह पूँजी को भारतीय जनता के चार मुख्य शत्रु बताया गया था। भारत को अमेरिकी और सोवियत साम्राज्यवाद का (एकसाथ) नवउपनिवेश बताया गया था लेकिन तत्कालीन दौर का मुख्य अन्तरविरोध व्यापक भारतीय जनता और सामन्तवाद के रूप में बताया गया था। यह कार्यक्रम चीन की पार्टी के विश्व परिस्थितियों के आम आकलन को निगमनात्मक तरीक़े से भारत पर लागू करते हुए तैयार किया गया था और विसंगतियों से भरा हुआ था। इसके पीछे ठोस परिस्थितियों के स्वतन्त्र अध्ययन-विश्लेषण की कोई भूमिका नहीं थी। आगे लेख में नवजनवादी कार्यक्रम की तमाम विसंगतियों-अन्तरविरोधों की चर्चा उस स्थान पर की जायेगी जहाँ मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिविर में इस पर सवाल उठने का प्रसंग आयेगा, इसलिए यहाँ हम उसके विस्तार में नहीं जा रहे हैं। राजनीतिक प्रस्ताव भी इसी कार्यक्रम के अनुरूप था। साथ ही, उसमें रणकौशल और रास्ते से जुड़े विविध प्रश्नों पर रखी गयी अवस्थिति में "वाम" अवसरवादी लाइन की पूरी छाया मौजूद थी। रही-सही कोर-कसर चारु मजुमदार ने अपने वक्तव्य से पूरी कर दी जिसमें उन्होंने साफ़-साफ़ शब्दों में पुरजोर तरीक़े से आतंकवादी लाइन की हाँक लगायी थी।

यहाँ यह चर्चा भी ज़रूरी है कि कांग्रेस में सौरेन बसु ने (सरोज दत्त भी उनके साथ थे) चारु मजुमदार के व्यक्तिगत प्राधिकार को औपचारिक तौर पर स्थापित करने का प्रस्ताव रखा। असीम चटर्जी ने प्रस्ताव के पक्ष में यहाँ तक कह डाला कि केन्द्रीय कमेटी और चारु मजुमदार के बीच विरोध होने पर मैं चारु मजुमदार का साथ दूँगा। कानू सान्याल ने बस इतना कहा कि तराई रिपोर्ट में चारु मजुमदार की भूमिका का और ज़्यादा उल्लेख करना ज़रूरी था। सत्यनारायण सिंह ने इसका मुखर विरोध किया। शिवकुमार मिश्र और आर. पी. सर्राफ ने भी दबी ज़ुबान से विरोध प्रकट किया। सुशीतल रायचौधरी ने माओ के उद्धरणों की पुस्तक से पार्टी कमेटी को शक्तिशाली बनाने सम्बन्धी सारे उद्धरण पढ़ सुनाये और इस प्रस्ताव को माओ की शिक्षाओं के विपरीत बताया। आम सहमति नहीं बनने के कारण यह प्रस्ताव पारित नहीं हो सका लेकिन बाद के दौर में केन्द्रीय कमेटी में मौजूद चारु समर्थक कॉकस ने वस्तुतः चारु के प्राधिकार वाली स्थिति को ही लागू किया, जिसके आगे केन्द्रीय कमेटी का कोई मतलब ही नहीं रह गया था। यह सर्वथा स्वाभाविक था क्योंकि "वामपन्थी" दुस्साहसवादी विचारधारात्मक-राजनीतिक लाइन केवल और केवल नौकरशाहाना और फरमानशाहाना केन्द्रीयता की सांगठनिक लाइन के माध्यम से ही प्रभावी हो सकती है।

कांग्रेस ने एक बीस-सदस्यीय केन्द्रीय कमेटी का चुनाव किया जिसके सदस्य थे : चारु मजुमदार, सुशीतल रायचौधरी, सरोज दत्त, कानू सान्याल, सौरेन बसु, सुनीति कुमार घोष, असीम चटर्जी (प. बंगाल), सत्यनारायण सिंह, गुरुबख़्श सिंह (बिहार), शिवकुमार मिश्र, महेन्द्र सिंह (उत्तर प्रदेश), वेंकटाप्पु सत्यनारायण, आदिमाटला कैलाशम्, नागभूषण पटनायक, अप्पाला सूरी (आन्ध्र प्रदेश), एल. अप्पू, कोदण्डरामन (तमिलनाडु), आम्बाडि (केरल), आर. पी. सर्राफ (जम्मू-कश्मीर), और जगजीत सिंह सोहल (पंजाब)। कमेटी के सचिव चारु मजुमदार चुने गये।

आठवीं कांगेस में स्वीकृत कार्यक्रम, राजनीतिक प्रस्ताव, राजनीतिक-सांगठनिक रिपोर्ट और चारु मजुमदार के वक्तव्य को यदि एकसाथ रखकर देखा जाये तो यह बात एकदम साफ़ हो जाती है कि कांग्रेस द्वारा स्वीकृत लाइन की विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा के विपरीत थी। हम यहाँ कार्यक्रम में प्रस्तुत भारतीय समाज के विश्लेषण और चरित्र-निर्धारण का फिलहाल उल्लेख नहीं कर रहे हैं। मूल बात विचारधारा की है। यदि कोई क्रान्तिकारी पार्टी जनदिशा और जनवादी केन्द्रीयता की सांगठनिक लाइन को सुसंगत ढंग से लागू करती है तो अनुभवों के समाहार और अन्तर्पार्टी बहस-मुबाहिसे के द्वारा वह क्रान्ति के कार्यक्रम विषयक ग़लती को ठीक भी कर सकती है। लेकिन यदि पार्टी का विचाराधारात्मक आधार ही ग़लत हो तो सही कार्यक्रम भी महज कागज़ का टुकड़ा बनकर रह जायेगा। भा.क.पा. (मा-ले) का गठन मार्क्सवाद-लेनिनवाद के आधार पर नहीं बल्कि "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के आधार पर हुआ था। आठवीं कांग्रेस ने एक सर्वभारतीय पार्टी-गठन के कार्यभार को क़तई पूरा नहीं किया। मूलत: और मुख्यत: क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू करने वाले जो मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठन थे (और जो संगठन "वामपन्थी" या दक्षिणपन्थी भटकाव के अपेक्षाकृत कम शिकार थे), वे भा.क.पा. (मा-ले) के बाहर ही रह गये थे। इसलिए, 1970 में गठित भा.क.पा. (मा-ले) के बारे में ज़्यादा से ज़्यादा इतना ही कहा जा सकता है कि वह गम्भीर "वामपन्थी" अवसरवादी भटकाव से ग्रस्त एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन था, एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी क़तई नहीं था।

(अगले अंक में जारी)

अगले अंक में :

- भा.क.पा. (मा-ले) में गतिरोध, संकट और फूट-दर-फूट का अविराम सिलसिला
- मा-ले शिविर की दूसरी धारा का संकट और बिखराव
- एक नयी धारा का उद्भव और उसकी दुर्गम विकास-यात्रा
- वर्तमान स्थिति : मुख्य धाराएँ और प्रवृत्तियाँ
- ऐतिहासिक गतिरोध और विफलता के कारणों की समाहारमूलक पड़ताल : विचारधारा, कार्यक्रम और सांगठनिक लाइन के प्रश्न, पार्टी-निर्माण और पार्टी-गठन का प्रश्न
- नक्सलबाड़ी की विरासत और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के समक्ष इक्कीसवीं सदी की चुनौतियाँ, समस्याएँ, विकास की दिशाएँ और सम्भावनाएँ

'ख़तरनाक ढंग से सपने देखने' और निष्क्रिय, नुकसानदेह और नामुराद सैद्धान्तिकीकरण का वर्ष

स्लावोय ज़िज़ेक की नयी पुस्तक 'दि इयर ऑफ ड्रीमिंग डेंजरसली' पर

● अभिनव सिन्हा

स्लावोय ज़िज़ेक को कई लोग आज अन्तरराष्ट्रीय वाम का एल्विस प्रिसले कहते हैं। यह सूत्रीकरण आंशिक तौर पर सत्य है। लेकिन उनकी पिछली तमाम पुस्तकों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि उन्हें अन्तरराष्ट्रीय वाम का पेरिस हिल्टन कहना ज़्यादा उचित होगा! स्लावोय ज़िज़ेक की प्रसिद्धि अपनी रचनाओं की वास्तविक अन्तर्वस्तु के नयेपन के कारण कम है, और उनकी फैशनेबल उत्तरमार्क्सवादी, लकानियन, हेगेलियन अभिव्यक्ति शैली के कारण ज़्यादा है। आप ज़िज़ेक के बारे में कुछ भी कह सकते हैं लेकिन यह नहीं कह सकते हैं, कि वह बोर करते हैं। लेकिन ऐसी बात गोविन्दा के बारे में भी कही जा सकती है! ज़िज़ेक के पास एक सशक्त रूप है, जिसका वह कुशलता के साथ इस्तेमाल करते हैं। लेकिन वह इसका इस्तेमाल ऐसी बातें कहने में करते हैं, जो आम तौर पर सैद्धान्तिक तौर पर बेहद दरिद्र, कई बार तथ्यात्मक तौर पर ग़लत, और ख़राब किस्म के सार-संग्रहवाद की मिसालें होती हैं। उनकी नयी पुस्तक की इस समीक्षा में हम उनके कुछ सैद्धान्तिकीकरणों पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालेंगे और उनकी पड़ताल करेंगे। वैसे तो ज़िज़ेक चलते-चलते जो तमाम बातें चुटकुलों और मान्य तथ्यों के तौर पर करते हैं, उनकी विकृतियों और असत्यता के बारे में बहुत-कुछ कहा जा सकता है, लेकिन यहाँ हम अपने

आपको एक राजनीतिक समीक्षा तक केन्द्रित रखेंगे। उनकी एक सम्पूर्ण दार्शनिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समालोचना को हम भविष्य के लिए सुरक्षित रखेंगे। हमारा ध्यान मुख्य तौर पर इस बात पर होगा कि ज़िज़ेक की राजनीति इस पुस्तक में किस तरह से उभरकर सामने आती है और अपने तमाम (मार्क्सवाद से ज़्यादा!) रैडिकल दावों के बाद अन्त में वह क्या सकारात्मक प्रस्ताव हमारे सामने रखते हैं।

उनकी नयी पुस्तक **'दि इयर ऑफ ड्रीमिंग डेंजरसली'** पिछले वर्ष के उत्तरार्द्ध में प्रकाशित हुई है और उनकी हर पुस्तक की तरह यह चर्चा का विषय बनी हुई है। यह पुस्तक ज़्यादा मोटी नहीं है और दस अध्यायों में विभाजित है। लेकिन इन अध्यायों को 'अध्याय' कहना उचित नहीं होगा। इन्हें मिलती-जुलती विषयवस्तु पर लेखों का एक संकलन कहना ज़्यादा उचित होगा। मुख्य तौर पर ये लेख 'ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट' आन्दोलन, लन्दन दंगों और अरब बसन्त पर केन्द्रित हैं, लेकिन साथ ही नॉर्वे में एण्डू ब्रेविक द्वारा किये गये नस्लवादी जनसंहार की भी बात करते हैं। ज़िज़ेक अपनी पसन्दीदा शैली का इस्तेमाल करते हुए इन सारी घटनाओं का विश्लेषण समकालीन सांस्कृतिक परिदृश्य, जैसे कि फिल्मों, टेलीविज़न कार्यक्रमों और संगीत आदि की आलोचनाओं के साथ जोड़ते हुए करते हैं, और ज़िज़ेक के लेखन का यह तत्व हमेशा की तरह उनके लेखन को उबाऊ नहीं होने देता है। लेकिन इस शैली का इस्तेमाल करते हुए वास्तव में वह जो करते हैं, वह मूलतः मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु पर हमला है। अपने विश्लेषण के दौरान वे तमाम अन्य बहेतू और सट्टेबाज़ उत्तर-मार्क्सवादी दार्शनिकों और चिन्तकों के समान बेहद बेतुकी दिखने वाली तुलनाएँ करते हैं और उनमें समानताएँ तलाशने की लॉटरी खेलते हैं। मिसाल के तौर पर, ज़िज़ेक अगर कीर्केगार्द, मार्क्स और हेनरिख़ हाइने की तुलना करें तो आपको अचम्भित नहीं होना चाहिए। वह ऐसी तुलनाओं के ज़रिये जो करते हैं, वह और कुछ नहीं है बल्कि ऐसी सामान्य परिघटनाओं का जटिल प्रस्तुतिकरण है, जिन्हें अन्य विचारकों, विशेष तौर पर मार्क्सवादी विचारकों, ने पहले ही सही ढंग से व्याख्यायित किया है। ऐसे प्रस्तुतिकरण के लिए वे हेगेलीय और लकाँवादी दार्शनिक और वैचारिक श्रेणियों का इस्तेमाल करते हैं। इन श्रेणियों के अतिरिक्त ज़िज़ेक सार-संग्रहवादी तरीके से किसी भी प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक या समकालीन विचारक की अवधारणाओं का इस्तेमाल कर सकते हैं—ताओ, बुद्ध और प्लेटो से लेकर लॉक और देकार्त तक; काण्ट, कीर्केगार्द, अडोर्नो, वॉल्टर बेंजामिन और हाइडेगर से लेकर देल्यूज़, नेग्री, हार्ट, बेज्यू और जुडित बटलर तक। हालाँकि, इन अवधारणाओं में आम तौर पर कुछ भी सामान्य/साझा नहीं होता, लेकिन किन्हीं भी दो अवधारणाओं, तथ्यों या वस्तुओं में समानताएँ निकाली जा सकती हैं; मसलन, गधे और आदमी, दोनों के ही दो कान और दो आँखें होती हैं! इस प्रकार के तर्क से ज़िज़ेक लगातार अलग-अलग दार्शनिक व्यवस्थाओं में समानान्तर रेखाएँ खींचते रहते हैं और फिर इन समानान्तर रेखाओं का इस्तेमाल समकालीन परिदृश्य की व्याख्या करने के लिए करते हैं। निश्चित तौर पर, कई मामलों में ऐसी समानान्तर रेखाएँ वास्तव में आंशिक तौर पर कारगर सिद्ध होती हैं, और कई बार ये हास्यास्पद होती हैं। बस ज़िज़ेक इस पूरे काम को बेहद मनोरंजक और दिलचस्प ढंग से अंजाम देते हैं, जो कि पाठक को उनके लेखन से बाँधे रहता है। इस तरीके से अलग-अलग जगहों से अलग-अलग तत्वों को अन्दाज़े से जोड़ने और जोड़कर उसे अपनी समकालीनता की व्याख्या में बिठाने को हम सट्टेबाज़ दार्शनिक पद्धति (स्पेक्युलेटिव फिलोसॉफिकल मेथड) कह सकते हैं। साथ ही, चूँकि यह विश्लेषण अन्त में

कहीं नहीं ले जाता है, और वास्तव में यह दुनिया बदलने की बात तो बहुत दूर, दुनिया की एक आंशिक तौर पर सही व्याख्या भी नहीं होती है, इसलिए हम ऐसे दार्शनिकों को 'बहेतू' (वैगाबॉण्ड) भी कह सकते हैं। कुल मिलाकर, लकाँ के मनोविश्लेषण, लेवी स्ट्रॉस के उत्तरसंरचनावाद, उत्तरआधुनिकतावाद और तमाम अन्य मार्क्सवाद-विरोधी विचार-सरणियों से मिलने वाली जूठन का इस्तेमाल करते हुए इनका दर्शन अपने आपको मार्क्स से ज़्यादा रैडिकल दिखलाने का प्रयास करता है, और लगातार यह दिखाने का प्रयास करता है कि मार्क्स क्या-क्या नहीं समझ पाए और कहाँ-कहाँ वह ग़लत थे।

ज़िज़ेक अपनी किताब की शुरुआत ऐसे ही एक प्रयास से करते हैं। वह दावा करते हैं कि मार्क्स का **'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना में योगदान'** का वह प्रसिद्ध कथन, जिसमें उन्होंने उत्पादक सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों व आर्थिक आधार और अधिरचना के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में बताते हैं, वास्तव में इतिहासवाद और उद्‌भववाद का शिकार है। मार्क्स के उस उद्धरण को अगर आप स्वयं पढ़ें तो उसमें मार्क्स कहीं भी कोई इतिहासग्रस्त या नियतत्ववादी बात नहीं कह रहे हैं। जो वह कह रहे हैं वह सिर्फ इतना है: समाज में लोग प्रभावी उत्पादन व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी इच्छा से स्वतन्त्र निश्चित उत्पादन सम्बन्धों में बँधते हैं; एक दौर तक प्रभावी उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास को गति देते हैं, लेकिन इतिहास की एक निश्चित मंज़िल पर उत्पादक शक्तियों का विकास मौजूदा उत्पादन सम्बन्धों के तहत सम्भव नहीं रह जाता; यहाँ से सामाजिक क्रान्ति का युग शुरू होता है (इसका यह अर्थ नहीं है, कि किसी पूर्वनिर्धारित मौके पर इस युग में क्रान्ति का सम्पन्न हो जाना तय है); आगे मार्क्स बताते हैं कि कोई भी व्यवस्था उत्पादक शक्तियों के विकास के मौजूदा ढाँचे के भीतर बाधित होने से पहले नष्ट नहीं हो सकती और नये उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि उसके लिए आवश्यक शर्तें मौजूदा व्यवस्था के भीतर ही पूरी न हो गयी हों (इसका यह अर्थ नहीं है कि वे उत्पादन सम्बन्ध ही पुरानी व्यवस्था के गर्भ में पूर्णत: पैदा हो चुके हों, यहाँ मार्क्स सिर्फ़ अनिवार्य पूर्वशर्तों की बात कर रहे हैं); और अन्त में मार्क्स इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि मानवता अपने लिए वही लक्ष्य निर्धारित कर सकती है, जो लक्ष्य वह वास्तव में प्राप्त कर सकती है। इसका सिर्फ़ इतना ही अर्थ है कि दास समाज या सामन्ती समाज के उत्पीड़ित वर्ग साम्यवादी समाज का सपना नहीं देख सकते थे; इतिहास ने उनके सामने जो सम्भवना का क्षितिज उपस्थित किया था, उनकी कल्पना उसकी सीमा में ही अस्तित्वमान रह सकती थी। निश्चित तौर पर, इस सीमा के भीतर उनकी परिकल्पनाएँ एकाश्मीय या पूर्वनियोजित नहीं होंगी, बल्कि वैविध्यपूर्ण होंगी। लेकिन ज़िज़ेक के लिए ऐसी कोई सीमा नहीं है। एक सच्चे प्रत्ययवादी-हेगेलवादी के समान वह कहते हैं कि आज के दौर में भी भावी बेहतर समाज के बारे में कोई परिकल्पना नहीं निर्मित की जानी चाहिए। उसे पूरी तरह से गोपनीयता के राज्य की वस्तु माना जाना चाहिए, जिसे ज़िज़ेक *कम्युनिज़्म एब्सकॉण्डिटस* का नाम देते हैं। इसका अर्थ है एक ऐसा कम्युनिज़्म जिसके बारे में पहले से कोई नक्शा तैयार नहीं किया जाना चाहिए। यहाँ पर ज़िज़ेक एलेन बेज्यू के पदचिन्हों पर ही चल रहे हैं। बेज्यू के अनुसार, कम्युनिज़्म एक ऐसा विचार है जो अनादि-अनन्त है। यह मानवता के उद्‌भव के साथ ही जन्म ले चुका था। उनके लिए प्लेटो का *दि रिपब्लिक*, रूसो का *सोशल कॉण्ट्रैक्ट*, फ्रांसीसी क्रान्ति और जैकोबिन आतंक-राज्य, पेरिस कम्यून और मार्क्सवादी कम्युनिज़्म (जो बोल्शेविक क्रान्ति के साथ शुरू होता है और

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के साथ ख़त्म होता है) कम्युनिज़्म के दिव्य विचार (इटर्नल आइडिया) की यात्रा के अलग-अलग पड़ाव या मील के पत्थर हैं। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के साथ जो नया युग शुरू हुआ उसमें पार्टी, सर्वहारा तानाशाही आदि जैसी अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो चुकी हैं। आगे जिस किस्म के कम्युनिस्ट समाज को आना है, उसके बारे में मार्क्सवाद की समझदारी अब पुरानी और अप्रासंगिक पड़ चुकी है और दुनिया उस 'क्षण' से आगे बढ़ चुकी है! ज़िज़ेक कहीं सीधे-सीधे यह नहीं कहते कि मार्क्सवाद, पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की सोच पूरी तरह से अप्रासंगिक हो चुकी है। लेकिन वास्तव में वह जो करते हैं वह और भी ज़्यादा ख़तरनाक है। बेज्यू अपने इरादों में स्पष्ट हैं और उनकी आलोचना अपेक्षाकृत ज़्यादा आसान है। लेकिन ज़िज़ेक अपनी सभी बातों को स्वयं ही काटते चलते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि ज़िज़ेक कुछ नहीं कहते। वह जो कहते हैं उसे समझने के लिए थोड़ी कसरत करनी पड़ती है।

मिसाल के तौर पर, मार्क्स को उद्भववादी इतिहासवाद का शिकार बताते हुए एक अन्य जगह पर ज़िज़ेक कहते हैं कि मार्क्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र की जो आलोचना की है, उसे आज दुहराने की ज़रूरत है, लेकिन कम्युनिज़्म की उस यूटोपियाई समझदारी के बग़ैर जो कि मार्क्स ने प्रस्तुत की। यहाँ पहली बात तो यह है कि मार्क्स ने पूँजीवाद की जो आलोचना प्रस्तुत की उसे फिर से दुहराने के लिए मार्क्स की उस आलोचना को समझना होगा; कम-से-कम उनकी बुनियादी आर्थिक रचनाओं का अध्ययन करना होगा। लेकिन आगे हम दिखलायेंगे कि ज़िज़ेक के राजनीतिक अर्थशास्त्र की समझ बेहद कमज़ोर है, इसलिए मार्क्स की जिस आलोचना को दुहराने की वह बात कर रहे हैं, वह उनके बस के बाहर है। इसी से जुड़ी हुई बात यह है कि ज़िज़ेक मार्क्स द्वारा राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना को न समझ पाने के कारण ही ऐसा समझते हैं कि मार्क्स की कम्युनिज़्म की समझदारी यूटोपियाई और फन्तासी के समान थी। कम्युनिज़्म की मार्क्सवादी परियोजना कोई पूर्वकल्पित या पूर्वनिर्धारित यूटोपिया या फन्तासी नहीं थी, बल्कि पूँजीवाद की वैज्ञानिक आलोचना का ही नतीजा थी। मार्क्स ने **'पूँजी'** के तीन खण्डों में जिस आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था को तार-तार करके हमारे सामने रखा है, उसकी आलोचना ही उन्हें कम्युनिस्ट समाज की एक वैज्ञानिक समझदारी तक ले गयी। जैसा कि मार्क्स कहते थे, **'कम्युनिज़्म कोई लक्ष्य नहीं है, जिसे हासिल किया जाना है। यह इतिहास की वास्तविक गति है।'** लेकिन ज़िज़ेक के लिए इतिहास की ऐसी कोई गति नहीं होती। उनका दावा है कि मार्क्स यह कहना ग़लत है कि मानवता अपने लिए वही लक्ष्य निर्धारित करती है, जिसकी प्राप्ति की सम्भावना के बीज रूप में पहले से ही मौजूद होती है। मार्क्स के इस कथन के खण्डन के लिए ज़िज़ेक कहते हैं कि मिसाल के तौर पर आज जो समस्याएँ मानवता के सामने खड़ी हैं, उसके समाधान की सम्भावनाएँ बीज रूप में भी मानवता के सामने मौजूद नहीं हैं। ज़िज़ेक के इस कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने मार्क्स के उक्त कथन का अर्थ ही नहीं समझा है, या जानबूझकर अपने पूर्वनियोजित नतीजे पर पहुँचने के लिए उसकी मनमानी व्याख्या की है। मार्क्स स्वयं कम्युनिस्ट समाज के एक-एक विवरण को पहले से निर्धारित करने के ख़िलाफ़ थे, और ऐसी किसी भी कवायद को वह अनुत्पादक मानते थे। वह उस बुनियादी आर्थिक-सामाजिक नियम के अलावा, भावी कम्युनिस्ट समाज के हरेक पहलू की व्याख्या नहीं करते थे, जिसके मुताबिक कम्युनिस्ट समाज प्रचुरता की वह मंज़िल होगी जब सभी लोग अपनी क्षमतानुसार कार्य करेंगे और

आवश्यकतानुसार प्राप्त करेंगे। लेकिन ज़िज़ेक कम्युनिस्ट समाज के विषय में मार्क्स के कुछ भी कहने को ग़ैर-मुनासिब मानते हैं! इसका वास्तविक कारण यही है कि ज़िज़ेक की मार्क्सवादी आर्थिक सिद्धान्त की पढ़ाई बेहद कमज़ोर है। आगे हम इस बात को ही ज़िज़ेक की नयी पुस्तक में कही गयी कुछ बातों से प्रदर्शित करेंगे।

ज़िज़ेक कहते हैं कि मार्क्स का इतिहासवादी स्कीमा रद्द करने की ज़रूरत है और इसके लिए हमें आज के पूँजीवाद की **तीन चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं** पर नज़र डालने की ज़रूरत है। ज़िज़ेक के मुताबिक पहली सबसे प्रमुख आभिलाक्षणिकता है आज के पूँजीवादी व्यवस्था में मुनाफ़े से लगान (वास्तव में, यहाँ जिन अर्थों में *रेण्ट* की बात की जा रही है, वह वास्तव में लगान नहीं है, लेकिन चूँकि अन्य कोई उपयुक्त शब्द इसके लिए मौजूद नहीं है इसलिए हम लगान शब्द का ही प्रयोग कर रहे हैं) की ओर संक्रमण या तब्दीली है। ज़िज़ेक यहाँ लगान के दो अर्थों में बात कर रहे हैं–साझा बौद्धिक सम्पत्ति और प्राकृतिक संसाधनों पर एकाधिकार से मिलने वाला लगान। लेकिन इस परिघटना में नया क्या है और इसकी खोज करने का दावा ज़िज़ेक क्यों कर रहे हैं, यह समझ से परे हैं। वास्तव में, इन दोनों परिघटनाओं को मार्क्स और लेनिन दोनों ने ही अपनी रचनाओं में दर्ज़ किया है। ज़िज़ेक का दावा है कि मार्क्स ने सामान्य बुद्धि **(जनरेल इण्टेलेक्ट)** के निजीकरण की कल्पना नहीं की थी। यह उनकी समझ से परे था कि यह सामान्य बुद्धि बढ़ने के साथ-साथ अधिक से अधिक निजी सम्पत्ति बनायी जायेगी। यह दावा पूरी तरह ग़लत और निराधार है। मार्क्स की दो अलग-अलग अवधारणाओं को मिलाकर ज़िज़ेक ज़बरन अपने मूर्खतापूर्ण कथन को आविष्कार साबित करने की कोशिश कर रहे हैं। मार्क्स ने कहा था कि उत्पादन के विकास के साथ पूँजीवादी समाज में मज़दूरों की सामान्य बुद्धि और कुशलता बढ़ती जाती है। इसके साथ ही उत्पादन की पूरी प्रक्रिया में न सिर्फ़ उत्पादन के ठोस कार्य, यानी कि शारीरिक श्रम से जुड़े कार्य मज़दूर करते हैं, बल्कि प्रबन्धन और नियोजन का कार्य भी धीरे-धीरे मज़दूरों के हाथ में आने लगता है। आज के युग में जब तकनोलॉजी के विकास ने उत्पादन की प्रक्रिया को बेहद छोटी-छोटी कार्रवाइयों में तोड़कर और उनका स्वचालन करके कुशल और अकुशल मज़दूर के बीच के अन्तर को काफ़ी हद तक कम कर दिया है, तो मार्क्स की यह भविष्यवाणी सही साबित हो रही है। इस प्रक्रिया के आगे बढ़ने के साथ पूँजीपति वर्ग (जिसमें कि मालिक और पूँजीवादी प्रबन्धन दोनों शामिल हैं) ग़ैर-ज़रूरी हो जाते हैं। लेकिन इस कुशल श्रमिकों की आबादी और आज के पूँजीवादी उपक्रमों के सी.ई.ओ., मैनेजरों और निदेशक मण्डलों में बैठने वाले निदेशकों के बीच ज़िज़ेक कोई अन्तर नहीं समझते हैं। वह दावा करते हैं कि यह वर्ग जिसके पास प्रबन्धन, एकाउण्टिंग और तकनीकी ज्ञान केन्द्रित है, यह एक वेतनभोगी बुर्जुआज़ी के तौर पर अस्तित्व में आया है। इसी को ज़िज़ेक समकालीन पूँजीवाद, या उनकी भाषा में उत्तरआधुनिक पूँजीवाद का दूसरा चारित्रिक गुण मानते हैं। इस पर हम आगे आएँगे।

ज़िज़ेक का यह दावा भी ग़लत है कि मार्क्स ने कभी नहीं सोचा था कि सामान्य बुद्धि का इस पैमाने पर निजीकरण होगा। मार्क्स स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हर प्रकार के श्रम के सभी उत्पाद सामाजिक सम्पत्ति हैं और ज्ञान भी एक सामाजिक सम्पत्ति है। लेकिन पूँजीवाद श्रम के भौतिक उत्पादों और बौद्धिक उत्पादों दोनों का ही निजीकरण करता है। प्राक्-पूँजीवादी युग में सामान्य बुद्धि के विकास का जो स्तर था, उसमें जाहिरा तौर पर बौद्धिक उत्पादों के निजीकरण की प्रवृत्ति कम ही होगी। इटली में व्यापारिक पूँजीवाद के उदय के साथ पहली बार पेटेण्ट

नियम और कानून अस्तित्व में आये। जैसे-जैसे पूँजीवादी उत्पादन पद्धति आगे बढ़ी, उत्पादक शक्तियों का विकास हुआ, उत्पादकों की राजनीतिक और तकनोलॉजिकल चेतना का स्तरोन्नयन हुआ, वैसे-वैसे उत्पादन में सूचना और तकनीकी पद्धति के ज्ञान का महत्व बढ़ता गया। पूँजीपतियों के बीच की प्रतिस्पर्द्धा और मज़दूर वर्ग की स्वायत्त चेतना (जो बुर्जुआ वर्चस्व से सापेक्षिक रूप से मुक्त हो) के उदय के डर ने बौद्धिक सम्पदा के निजीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। नेग्री और हार्ट जिस अभौतिक उत्पादन, अभौतिक श्रम और अभौतिक पूँजीवाद की बात करते हैं, वह बकवास है, जिसके अनुसार आज पूँजीवादी विश्व में सूचना प्रमुख और प्रभावी उत्पाद/माल बन चुकी है, और इसके उत्पादन में लगी श्रमशक्ति प्रमुख श्रम शक्ति बन चुकी है। एक अभौतिक पूँजीवाद के नाश के लिए वह एक आकृतिविहीन, आकारविहीन *मल्टीट्यूड* की कल्पना करते हैं। यह *मल्टीट्यूड* एक उतने ही आकारहीन और आकृतिहीन किस्म के *शासकों* के समूह का तख्तापलट कर, कॉमंस (साझा सम्पदा) को निजी कब्ज़े से मुक्त करायेगा। यहाँ पूँजीवाद एक अवैयक्तिक (इम्पर्सनल) शक्ति बन जाता है, प्रतिरोध एक अमूर्त चीज़ बन जाती है और प्रतिरोध करने वाले भी आकृतिहीन वस्तु बन जाते हैं। यह पूरी अवधारणा बुनियादी मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर हमला करने के लिए ही गढ़ी गयी है, जैसे कि वर्ग की अवधारणा, निजी सम्पत्ति और पूँजी की अवधारणा, पार्टी और राज्य की अवधारणा, आदि। ज़िज़ेक इस मामले में ऊपरी तौर पर नेग्री और हार्ट का विरोध करते हुए भी, उन्हीं द्वारा तैयार की गयी सैद्धान्तिक ज़मीन पर खड़े हैं। जहाँ तक बौद्धिक सम्पदा के नयेपन और सूचना के सर्वशक्तिशाली बन जाने का प्रश्न है, तो यह मूर्खतापूर्ण दावा है। एक कुल्हाड़ी या चक्का बनाने में भी प्राचीनकाल में सूचना की आवश्यकता होती थी। यह सच है कि सामान्य बुद्धि के स्तरोन्नयन के साथ सूचना की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है, लेकिन उसका निजीकरण और उसका मालकरण कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिस पर उत्तरमार्क्सवादी चिन्तक हिरनी के समान चकित हैं। यहाँ वास्तव में, नेग्री, हार्ट और ज़िज़ेक जैसे लोग उत्तरऔद्योगिक समाज के सिद्धान्तकारों के पीछे चल रहे हैं। बस फर्क यह है कि सूचना पूँजीवाद के उदय के दोनों के नतीजों में कुछ भिन्नता है।

उत्तरऔद्योगिक समाज के सिद्धान्तकारों का मानना है कि सूचना पूँजीवाद के उदय के साथ सर्वहारा वर्ग ग़ायब हो गया है, और अगर वह है भी तो उसमें प्रतिरोध करने की कोई शक्ति नहीं बची है। उत्तरमार्क्सवादी विचारक यह मानते हैं प्रतिरोध के नये रूप पैदा हो गये हैं, जिनका नये तरीके से सैद्धान्तिकीकरण करने की ज़रूरत है। सामान्य तौर पर इस बात पर कोई आपत्ति नहीं करेगा। लेकिन जब आप देखते हैं कि उत्तरमार्क्सवादियों के इस नये सैद्धान्तिकीकरण में मूल बात क्या है, तो आप पाते हैं कि इसमें वर्ग, राज्य और अधिनायकत्व की अवधारणाओं को छोड़कर और सबकुछ है। पूँजीवाद के अर्थपूर्ण प्रतिरोध का अभिकरण सर्वहारा वर्ग से छीन लिया गया है। सर्वहारा वर्ग इनके लिए अनुपस्थित हो चुका है और टटपुँजिया वर्ग परिवर्तन का नया अगुआ है। ज़िज़ेक भी एक प्रकार से इसी थीम का अनुसरण करते हैं। शारीरिक श्रम करने वालों का उदाहरण देने में भी वह ज़्यादा से ज़्यादा फ्लाइट अटेण्डेण्ट का उदाहरण दे पाते हैं! औद्योगिक सर्वहारा का कहीं ज़िक्र भी नहीं होता। यहाँ पर भी हम देख सकते हैं कि सूचना के उत्पादन (अभौतिक उत्पादन) की सम्भावनासम्पन्नता के प्रति इन विचारकों में एक प्रकार की *फेटिश* है। इसके माध्यमों, जैसे कि इण्टरनेट, आदि को लेकर वह अचम्भित हैं। लेकिन एक बुनियादी बात वह भूल जाते हैं: एनक्रिप्शन करने वाले

सॉफ्टवेयर पेशेवर को भी खाने के लिए खाना, पहनने के लिए कपड़ा और रहने के लिए घर चाहिए। चाहे इन चीज़ों के उत्पादन में सूचना का कितना भी महत्व हो जाये (और ऐसा कब नहीं था!), भौतिक उत्पादन का महत्व और उसकी मानवीय जीवन के लिए अनिवार्यता किसी भी सूरत में कम नहीं हो सकती। अभौतिक उत्पादन एक उन्नत दुनिया का प्रतीक है; इसमें कोई शक़ नहीं। लेकिन कई सौ फुट ऊँची इमारत की भी एक बुनियाद होती है। हो सकता है वह बुनियाद ज़्यादा से ज़्यादा कुछ दर्ज़न फुट ही गहरी हो। लेकिन उसके बिना दस फुट की दीवार भी नहीं खड़ी की जा सकती है। यह बात अलग है कि पूँजीवादी व्यवस्था में भौतिक उत्पादन निकृष्ट बन गया है, और अभौतिक उत्पादन उस पर अपना वर्चस्व और प्रभुत्व स्थापित करके बैठा हुआ है। लेकिन पूँजीवाद में सीधा क्या है? जैसा कि मार्क्स ने कहा था, सबकुछ ही अपने सिर के बल खड़ा है! संक्षेप में कहें, तो ज़िज़ेक और उनके जैसे तमाम उत्तरमार्क्सवादियों ने सूचना पूँजीवाद के उदय के साथ आने वाले परिवर्तनों की जो समझदारी प्रस्तुत की है, वह वास्तव में मार्क्सवाद की बुनियादी श्रेणियों को रद्द करने के लिए की गयी है। इसमें तार्किक निरन्तरता की भारी कमी है, और थोड़ी ही पड़ताल पर उसका उथलापन और ओछापन सामने आ जाता है।

अब आते हैं एक नये किस्म की बुर्जुआज़ी के उदय बारे में ज़िज़ेक के दावे पर। इस नयी बुर्जुआज़ी की अवधारणा को वह एक लकानियन विचारक **ज्याँ क्लॉड मिल्नर** से उधार लेते हैं, और उसे अपने विचारधारात्मक खाँचे में फिट करते हैं। इस बुर्जुआज़ी में न सिर्फ डॉक्टर, इंजीनियर, आदि जैसे पेशे के लोग भी शामिल हैं, बल्कि इस वर्ग के सम्भावित उम्मीदवारों में ज़िज़ेक विश्वविद्यालय छात्रों को भी गिनते हैं। ज़िज़ेक का यह दावा है कि इस नयी बुर्जुआज़ी के ऊपरी हिस्से नियमित स्थायी रोज़गार, बेहद ऊँचे वेतनों और विशेषाधिकारों के स्वामी हैं। जबकि निचले हिस्से वे हैं जिनके सिर पर पूँजीवाद ने अनिश्चितता की तलवार लटका रखी है। ये निचले हिस्से ही हैं, जो कि 2011 में वे "ख़तरनाक सपने" देख रहे थे जिनकी बात ज़िज़ेक अपनी नयी पुस्तक में कर रहे हैं। ज़िज़ेक मानते हैं कि अरब जनउभार, ब्रिटिश छात्र-युवा आन्दोलन और निम्न वर्गों के दंगे, स्पेन और यूनान में चल रहे आन्दोलन और साथ ही 'ऑक्युपाई' आन्दोलन इन्हीं वर्गों की आकांक्षाओं की नुमाइन्दगी करते हैं। ज़िज़ेक इन आन्दोलनों को "वामपन्थी" अर्थों में क्रान्तिकारी नहीं मानते। उनका कहना है कि इन आन्दोलनों के पास कोई भविष्य दृष्टि नहीं है। इनका लक्ष्य कम्युनिज़्म नहीं है और वे किसी भी रूप में कम्युनिस्ट समाज की तरफ़ जाने की बात नहीं करते। **लेकिन ज़िज़ेक यहाँ एक विरोधाभास में फँस जाते हैं।** स्वयं ज़िज़ेक का मानना है कि कम्युनिस्ट समाज की कोई पूर्वकल्पित दृष्टि नहीं होनी चाहिए और वह *कम्युनिज़्म एब्सकॉण्डिटस* के रूप में होना चाहिए, यानी ऐसा कम्युनिस्ट समाज जिसके सभी तत्व भविष्य के गर्भ में होंगे। ऐसे में, वह किस ज़मीन पर खड़े होकर इन आन्दोलनों से भविष्य दृष्टि और भावी समाज के सकारात्मक प्रस्ताव की माँग कर रहे हैं? इस विरोधाभास को निपटाने के लिए ज़िज़ेक जो बात कहते हैं, वह उन्हें और भी ज़्यादा गहरे अन्तरविरोध में उलझा देता है। ज़िज़ेक कहते हैं कि इन आन्दोलनों को अलग-अलग विश्लेषित करना पड़ेगा और किसी पूर्वनिर्धारित अवधारणा के आधार पर नहीं बल्कि इनकी अपनी शर्तों पर। और इसी आधार पर विश्लेषण करने पर ज़िज़ेक को इन आन्दोलनों में "भविष्य के चिन्ह" भी दिखलायी देते हैं। अब अगर ज़िज़ेक से पूछा जाय कि इन आन्दोलनों के बारे में उनका दृष्टिकोण क्या है, तो वह क्या बताएँगे? ये

आन्दोलन "वेतनभोगी" बुर्जुआज़ी और सम्भावित रूप से भावी "वेतनभोगी" बुर्जुआज़ी के आन्दोलन हैं, जिनके पास कोई सर्वहारा या कम्युनिस्ट विज़न नहीं हैं (जिसको ज़िज़ेक अपनी *कम्युनिज़्म एब्सकॉण्डिटस* के सिद्धान्त के आधार पर स्वयं ही नकारते हैं!) लेकिन फिर भी वे "भविष्य के चिन्ह" हैं! इस बात का क्या अर्थ निकलता है? कुछ भी नहीं! शायद हमारी दृष्टि में वह हेगेलीय लकानीय *ट्विस्ट* नहीं है कि हम इसे समझ सकें!

ज़िज़ेक का यह दावा भी, कि यह वेतनभोगी बुर्जुआज़ी समकालीन पूँजीवाद की पैदावार है, व्यर्थ है। क्योंकि यह वेतनभोगी बुर्जुआज़ी आज की पैदावार नहीं है और यह साम्राज्यवाद के अस्तित्व में आने के साथ ही यह अस्तित्व में आयी। स्वयं लेनिन की रचना **'साम्राज्यवादः पूँजीवाद की चरम अवस्था'** में लेनिन इस परिघटना को रेखांकित करते हैं। वास्तव में, मार्क्स ने और उससे भी ज़्यादा एंगेल्स ने राजकीय पूँजीवाद और बैंकों की बढ़ती भूमिका के विश्लेषण के दौरान इस विशेष किस्म की बुर्जुआज़ी के उभार को रेखांकित किया था। एंगेल्स ने कहा था कि बैंकों या राज्य की देखरेख और पर्यवेक्षण में जो पूँजीवादी विकास होता है, उसमें एक ऐसी बुर्जुआज़ी अस्तित्व में आती है जो कि पूँजी की रखवाली करने और उसकी देखरेख करने का काम करती है। वह जिस पूँजी की रखवाली करती है, वह वास्तव में अक्सर किसी एक पूँजीपति की पूँजी/सम्पत्ति नहीं रह जाती बल्कि पूरे पूँजीपति वर्ग की "सामूहिक पूँजी" बन चुकी होती है। वास्तव में, न्यायिक-वैधिक सम्पत्ति सम्बन्ध असल उत्पादन सम्बन्ध को छिपाने लगते हैं। लेकिन यहाँ पर यह याद करना ज़रूरी है कि पूँजी वस्तुतः एक सामाजिक सम्बन्ध है। अपने आप में पूँजी और कुछ नहीं है, बल्कि भण्डारित श्रम है। यह श्रम शारीरिक हो सकता है या मानसिक। और इस भण्डारित श्रम को पूँजीपति वर्ग सामूहिक तौर पर हस्तगत कर सकता है, जैसा कि आम तौर पर साम्राज्यवाद के दौर में ट्रस्टों, कार्टेलों, जॉइण्ट स्टॉक कम्पनियों आदि के रूप में होता है, या फिर यह निजी पूँजीपतियों के रूप में कर सकता है, जैसा कि "मुक्त-व्यापार" पूँजीवाद के दौर में होता है। यहाँ पर यह भी याद रखना ज़रूरी है कि "मुक्त-व्यापार" पूँजीवाद में ही वह नैसर्गिक गति निहित होती है जो कि इज़ारेदार पूँजीवाद या साम्राज्यवाद की तरफ़ ले जाती है। ये दोनों ही वैश्विक पूँजीवाद के विकास और उद्भव के अलग-अलग क्षण है। साम्राज्यवाद के चरण में निजी सम्पत्ति के रूपों जो बदलाव आते हैं वे तमाम दृष्टिभ्रम पैदा करते हैं। और इन दृष्टिभ्रमों का शिकार ज़िज़ेक और उनके जैसे तमाम उत्तरमार्क्सवादी बुद्धिजीवी हो गये हैं। इसका प्रमुख कारण वही है जिसका हमने पहले ज़िक्र किया है: **इन तमाम बुद्धिजीवियों में जो बात सामान्य है वह है राजनीतिक अर्थशास्त्र की बेहद अधकचरी और सीमित समझदारी**, शायद उतनी ही जितनी इन बुद्धिजीवियों को अपनी विश्वविद्यालय शिक्षा के पाठ्यक्रम के अंग के तौर पर मिली थी। और **दूसरी जिस चीज़ की कमी इन बुद्धिजीवियों के सैद्धान्तिकीकरण में नज़र आती है, वह है ऐतिहासिक दृष्टि और इतिहास की जानकारी का अभाव।** मिसाल के तौर पर ज़िज़ेक समकालीन दुनिया के बारे में और उसमें हो रही घटनाओं की जानकारी तो रखते हैं, लेकिन बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध और उससे पहले के इतिहास के बारे में उनकी जानकारी ज़्यादा से ज़्यादा अखबारी कही जा सकती है। यहाँ पर बेज्यू की मिसाल दी जा सकती है। बेज्यू यथार्थ (**रियल**), काल्पनिक (**इमैजिनरी**) और प्रतीकात्मक (**सिम्बॉलिक**) की लकानियन त्रयी को लागू करते हुए कहते हैं कि इतिहास प्रतीक का क्षेत्र है, भविष्य की परियोजना (उनके लिए कम्युनिज़्म का विचार) काल्पनिक का

क्षेत्र है और राजनीति यथार्थ का क्षेत्र है। यानी कि कम्युनिज़्म की पूरी परियोजना एक आत्मगत कारक बन जाती है। मार्क्स के विचारों के विपरीत यह 'इतिहास की वास्तविक गति' नहीं रह जाती है। और हो भी कैसे सकती है! क्योंकि इतिहास तो महज़ एक प्रतीक है और मनोविश्लेषण के नियमों तहत एक समस्या है, बीमारी का लक्षण है। यह वास्तविक नहीं है। यह रचा जाता है, ताकि काल्पनिक को पुष्ट किया जा सके! यानी इतिहास को प्रतीक/लक्षण बना दिया गया, कम्युनिज़्म की परियोजना को काल्पनिक बना दिया गया और बची सिर्फ़ राजनीति जिसे यथार्थ करार दिया गया! अब यह राजनीति क्या है, इसके विश्लेषण के लिए यहाँ स्थान नहीं है, लेकिन बस इतना कहा जा सकता है कि यह नये रंगरोगन के साथ अराजकतावाद है। लेकिन इतिहास के बारे में उत्तरमार्क्सवादियों की अवस्थिति और उत्तरआधुनिकतावादियों की अवस्थिति में ज़्यादा फ़र्क नहीं रह जाता है, जोकि इतिहास को आत्मगत निर्मिति मानते हैं, भाषा का खेल मानते हैं। इतिहास के बारे में ज़िज़ेक के दृष्टिकोण पर हम थोड़ा आगे आयेंगे। पहले यह देख लिया जाय कि जिस वेतनभोगी बुर्जुआज़ी को ज़िज़ेक आज के पूँजीवाद की पैदावार मानते हैं, या कम-से-कम जिसके उभार को वह आज के पूँजीवादी समाज की परिघटना मानते हैं, उसके बारे में मार्क्स और लेनिन ने क्या लिखा था।

मार्क्स ने बैंकिंग पूँजी और बैंकिंग तन्त्र के उभार के बारे में **'पूँजी'** के तीसरे खण्ड में लिखा था कि बैंकिंग तन्त्र वास्तव में समूचे पूँजीपति वर्ग का साझा बहीखाता है और उत्पादन के साधनों का "सामाजिक पैमाने पर वितरण" है। मार्क्स ने बताया कि यह सामाजिक वितरण केवल रूप में ही सामाजिक है। धीरे-धीरे सामाजिक पैमाने पर उत्पादन के साधनों के इस पूँजीवादी वितरण में पूँजीपति वर्ग के साथ-साथ निम्न पूँजीपति वर्ग के विभिन्न हिस्से भी आ जाते हैं, और अक्सर पूँजीपति वर्ग इस वितरण में अपने रूप को मालिक की बजाय, पूँजी के प्रबन्धक के तौर पर पेश करता है। मार्क्स आगे बताते हैं कि वास्तव में यह वितरण निजी होता है और पूँजीपति वर्ग और उसके पिछलग्गुओं के हित में होता है। यह वितरण एक ऐसे समाज की तरफ़ ले जाता है जिसमें आम आबादी अभाव और ग़रीबी में जीने के लिए मजबूर होती है और बैंक एक सामूहिक पूँजीपति की तरह उससे हर रूप में अधिशेष विनियोजन करता है, चाहे वह मुनाफ़ा हो, लगान हो या फिर ब्याज़। लेनिन ने 'साम्राज्यवाद: पूँजीवाद की चरम अवस्था' में इस पूरे विकास के बारे में विस्तार से बताया है। एक जगह लेनिन लिखते हैं, **"तीस वर्ष पहले व्यवसायी एक दूसरे से मुक्त रूप से प्रतिस्पर्द्धा करते हुए, अपने व्यवसाय के शारीरिक श्रम को छोड़कर नब्बे प्रतिशत कार्य किया करते थे। वर्तमान में, यह नब्बे फीसदी "दिमागी काम" भी अधिकारी वर्ग द्वारा किया जाता है। बैंकिंग इस विकास की अग्रिम कतार में है।"** आगे लेनिन लिखते हैं, **"यह आम तौर पर पूँजीवाद की एक चारित्रिक आभिलाक्षणिकता है कि पूँजी का मालिकाना उत्पादन में पूँजी के लगाये जाने से अलग होता जाता है, कि मुद्रा पूँजी औद्योगिक या उत्पादक पूँजी से अलग होती जाती है और लगानजीवी वर्ग जो पूरी तरह से मुद्रा पूँजी की आमदनी पर जीता है, उद्यमी से और उन सभी लोगों से अलग होता जाता है जो कि पूँजी के प्रबन्धन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं। साम्राज्यवाद, या वित्त पूँजी का प्रभुत्व, पूँजीवाद की वह चरम अवस्था है जिसमें यह अलगाव विशाल पैमानों तक पहुँच जाता है। वित्त पूँजी के पूँजी के अन्य सभी रूपों पर प्रभुत्व का अर्थ है लगानजीवी वर्ग और वित्तीय अल्पतन्त्र का शासन...।"** यहाँ लेनिन स्पष्ट रूप से बता रहे हैं कि साम्राज्यवाद के उदय के साथ अधिशेष विनियोजन

में लगान और ब्याज़ का हिस्सा बढ़ता जायेगा। यह लगान पैदा होगा उत्पादन के साधनों पर एक वित्तीय अल्पतन्त्र की इज़ारेदारी से। वास्तव में, हर प्रकार का लगान सम्पत्ति पर एकाधिकार से ही पैदा होता है (सिवाय *डिफरेंशियल रेण्ट* के जो भू-लगान की एक किस्म है, जो कि दो अलग-अलग उर्वरता वाली ज़मीनों के बीच के अन्तर से पैदा होता है और जिसे बेशी अधिशेष कहना ज़्यादा उचित है; इस पर हम यहाँ विस्तार से चर्चा नहीं कर सकते)। साम्राज्यवाद के दौर में जब उत्पादन प्रचुरता की मंज़िल में पहुँच रहा होता है, लेकिन अतिरिक्त मूल्य के मुनाफ़े में तब्दील होने का संकट (रियलाइज़ेश क्राइसिस) गम्भीरतम रूपों में होता है, तो पूँजीपति वर्ग अपने मुनाफ़े की दर को बरकरार रखने के लिए अधिशेष के बड़े हिस्से को लगान और ब्याज़ में तब्दील करता है। मार्क्स ने स्पष्ट तौर पर बताया था कि अतिरिक्त मूल्य का पूँजीपति वर्ग के अलग-अलग हिस्सों में मुनाफ़े, लगान और ब्याज़ के रूप में बँटवारा होता है। मार्क्स और लेनिन दोनों ने दिखलाया था कि एकाधिकारी पूँजीवाद के अस्तित्व में आने के साथ मुनाफ़े की दर का गिरना अधिक तेज़ हो जायेगा, संकट का चक्र छोटा होता जायेगा और ढाँचागत संकट अपने आपको गम्भीरतम रूप में पेश करेगा। साम्राज्यवाद के दौर में पूँजीपति वर्ग अतिरिक्त मूल्य के मुद्रा पूँजी के रूप में वास्तवीकृत (रियलाइज़) न होने के संकट को दूर करने के लिए ऋण वित्तपोषित उपभोग को बढ़ावा देता है और साथ ही साथ शेयर बाज़ार में सट्टेबाज़ी और ऐसे ही अन्य उपक्रमों के ज़रिये अपनी समृद्धि को कायम रखने और संकट को टालने का प्रयास करता है। ऐसे में, पूँजी का बड़ा हिस्सा वित्तीय पूँजी की सट्टेबाज़ी और उसके बुलबुले फुलाने में ख़र्च होता है। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में अधिशेष के तीनों हिस्से में लगान और ब्याज़ का अनुपात बढ़ेगा और मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र कम-से-कम सवा सौ साल से इस सच्चाई से वाक़िफ़ है। **ऐसे में, ज़िज़ेक को इसमें नया क्या दिख गया?** न तो मुनाफ़े से लगान की तरफ़ संक्रमण में कुछ नया है, और न ही इस तथाकथित नयी वेतनभोगी बुर्जुआज़ी में कुछ नया है। ऐसे में ज़िज़ेक मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की ही पुरानी सिद्ध अवधारणाओं को नये शब्द देकर अपना आविष्कार सिद्ध कोशिश करने की कोशिश कर रहे हैं। यहाँ ज़िज़ेक ज्याँ पॉल सार्त्र की उस प्रसिद्ध उक्ति को शब्दशः सही सिद्ध कर रहे हैं कि आम तौर पर मार्क्सवाद के खण्डन के तौर पर जो कहा जाता है, वह मार्क्स-पूर्व विचारों को फिर से ज़िन्दा करने की कोशिश होती है (इस मामले में हेगेलीय प्रत्ययवादी) और उनमें जो सही होता है, वह वास्तव में मार्क्सवाद पहले ही कह चुका होता है।

मार्क्सवाद द्वारा पहले ही स्थापित सत्यों के नाम बदलकर उन पर अपना दावा करने के अलावा ज़िज़ेक जो कार्य करते हैं, वह है मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलों की मनमानी व्याख्या करके उन्हें विकृत करना। मिसाल के तौर पर, अपनी पुस्तक के दूसरे अध्याय में मार्क्स की शानदार रचना **'नेपोलियन बोनापार्त की अट्ठारहवीं ब्रुमेयर'** के कुछ अंशों की मनमानी लकानियन व्याख्या करते हैं और दिखलाने की कोशिश करते हैं कि एक राज्यसत्ता कई वर्गों की नुमाइन्दगी कर सकती है। एक जगह तो वह बोनापार्तवाद का यह अर्थ समझ लेते हैं कि इतिहास में ऐसे मौके भी आ सकते हैं जब राज्यसत्ता स्वयं का ही प्रतिनिधित्व करेगी! मिसाल के तौर पर ज़िज़ेक इंग्लैण्ड की कुलीन वर्गीय राज्यसत्ता की, जो कि बुर्जुआ वर्ग के हितों की नुमाइन्दगी कर रही थी और गृहयुद्ध के बाद के क्रान्तिकारी रूस की बात करते हैं जब कथित रूप से सर्वहारा वर्ग समाप्त हो गया था, लेकिन सर्वहारा राज्यसत्ता बरकरार थी, और खुद का

प्रतिनिधित्व कर रही थी। लेकिन इंग्लैण्ड के कुलीन वर्गों की बात केवल इस बात के आधार पर की गयी है कि राज्यसत्ता में बैठे लोगों का जन्म कुलीन परिवारों में हुआ था और रूस के मामले में यह दावा ही ग़लत है सर्वहारा वर्ग समाप्त हो गया था, वह सिर्फ़ आंशिक रूप से विसंगठित हुआ था। ज़िज़ेक भूल जाते हैं कि मार्क्स ने ही इंग्लैण्ड के इस कुलीन वर्ग के बुर्जुआकरण की ओर ध्यानाकर्षण किया था। इस रूप में राज्यसत्ता वास्तव में सामन्ती कुलीन वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के हितों की नुमाइन्दगी नहीं कर रही थी, बल्कि वास्तव में वह बुर्जुआ वर्ग के हितों की ही नुमाइन्दगी कर रही थी। आगे वह मार्क्स के अन्य कथनों का भी इसी प्रकार विकृतिकरण करते हैं, और एक प्रकार से मार्क्स का लकानियन विनियोजन करते हैं। नतीजतन, ज़िज़ेक का पूरा विश्लेषण एक सट्टेबाज़ मनोवैज्ञानिक-राजनीतिक खेल बन जाता है, जिसका आख़िरी मकसद कुछ भी नहीं सिर्फ़ बौद्धिक विलास है। उनका लेखन आम तौर पर आज के मनोरंजन उद्योग के समान है, जो वास्तव में अनुत्पादक है। ज़िज़ेक के लेखन में आपको लगातार यौनिक और *स्कैटोग्राफिकल* वक्रोक्तियाँ मिलती हैं। गम्भीर दार्शनिक और राजनीतिक विमर्श की गरिमा को और गम्भीरता को भी ज़िज़ेक देर तक बर्दाश्त नहीं कर पाते और थोड़ी ही देर में ऐसी वक्रोक्तियों के प्रयोग के गड्ढे में गिर पड़ते हैं। यह पाठक को एक 'कॉमिक रिलीफ' और एक प्रकार का *टिटिलेशन* देता है, और इसलिए ऊबने नहीं देता। लेकिन इस क्षणिक सुख के अलावा इसमें समृद्ध करने वाली कोई चीज़ बिरले ही मिलती है। जब कोई उपयोगी बात या अन्तर्दृष्टि मिलती भी है, तो उसमें ज़िज़ेक का कुछ भी मौलिक नहीं होता। **यानी, एक तरीके से कहा जा सकता है कि ज़िज़ेक के लेखन में जो कुछ भी काम का है, वह आम तौर पर उनका मौलिक नहीं है, और बाकी जो बचता है वह अक्सर सट्टेबाज़ बहेतू दर्शन का कचरा होता है।**

बेन्यू की ही तरह इतिहास के प्रति अवहेलना का दृष्टिकोण ज़िज़ेक का भी है, लेकिन अपने किस्म से। वह इतिहास को पूरी तरह प्रतीकात्मक तो नहीं मानते लेकिन वह बीसवीं सदी में मज़दूर वर्ग द्वारा किये गये समाजवाद के प्रयोगों को बिना किसी विश्लेषण के एक त्रासदी मानते हैं, और इस रूप में उसे लक्षण के रूप में ही देखते हैं, जैसा कि बेन्यू कहते हैं। बेन्यू का भी यही विचार है कि लाक्षणिक (इतिहास) के विरुद्ध यथार्थ (राजनीतिक) और कल्पना (कम्युनिस्ट विचार) की एकता बनानी होगी। ज़िज़ेक के लिए भी बीसवीं सदी के समाजवाद की तरफ़ एक भी दृष्टि डाले हुए ही भावी कम्युनिस्ट समाज का निर्माण हो सकता है। ज़िज़ेक ने अपनी किसी भी रचना में बीसवीं सदी के समाजवाद को, विशेषकर रूस और चीन में समाजवादी प्रयोगों के अनुभवों को एक बुरे अनुभव, त्रासदी या विपदा के तौर पर चित्रित करने के लिए किसी वैज्ञानिक-ऐतिहासिक विश्लेषण का इस्तेमाल नहीं किया है। ज़िज़ेक के लेखन में यह नतीजा आकाशवाणी के समान (*एक्ज़ियोमैटिक*) है। आप अगर ज़िज़ेक को पढ़कर उसका कोई भी अर्थ निकालना चाहते हैं तो आपको भी इस बात को अपने प्रस्थान-बिन्दु के तौर पर चुनना पड़ेगा। ऐसा नहीं है कि ज़िज़ेक लेनिन और स्तालिन के बारे में हूबहू वही बातें कहते हैं, जो कि तमाम पश्चिमी साम्राज्यवादी प्रोपगैण्डा एजेण्ट बोला करते हैं। वह कुछ उनसे भी लेते हैं, और कुछ ऐसे स्रोतों से भी लेते हैं, जो कि लेनिन और स्तालिन की प्रशंसा करते हैं। नतीजतन, वह कभी अपने आपको लेनिनवादी और कभी-कभी तो स्तालिनवादी के तौर पर पेश करते हैं, तो कभी स्तालिन और लेनिन पर कीचड़ उछालने के निकृष्टतम प्रयास करते हैं। लेकिन वह सोवियत समाजवाद की राजनीतिक आलोचना या

विश्लेषण का काम कभी हाथ में नहीं लेते हैं। वह बस व्यक्तियों के बारे में अपनी "मनोरंजक" टिप्पणियाँ करते हैं। लेनिन की पूरी तस्वीर जो ज़िज़ेक को पढ़कर उभरती है और जिस चीज़ को ज़िज़ेक लेनिन की अपने द्वारा प्रशंसा का कारण बताते हैं, वह है एक मार्क्सवादी जैकोबिन की जो कि एक तपा-तपाया यथार्थवादी है। एक ऐसा व्यक्ति जो किसी राजनीतिक नीतिशास्त्र या आदर्शवाद से प्रस्थान नहीं करता, बल्कि ठोस राजनीतिक आवश्यकताओं के आधार पर कदम उठाता है। इसके अलावा, जहाँ कहीं भी लेनिन के विचारों का ज़िक्र होता है, वहाँ ज़िज़ेक उसकी अपनी एक मनोरंजक लकानीय व्याख्या करते हैं। लेकिन महान व्यक्तित्वों के कथनों की आधिभौतिक ढंग से अलग-अलग मनोविश्लेषणात्मक और हेगेलीय व्याख्याओं को छोड़ दिया जाय तो ज़िज़ेक कहीं भी लेनिनवादी पद्धति या समझदारी की कोई सुसंगत आलोचना नहीं रखते। लेनिनवाद और स्तालिनवाद जैसे शब्द *कैचवर्ड* की तरह इस्तेमाल किये जाते हैं। और इनका इस्तेमाल काफ़ी हद तक पूर्वी यूरोप में संशोधनवादी सत्ताओं के कुकर्म के जवाब में पैदा हुए पूर्वी यूरोपीय टटपुँजिया हास्य के आधार पर किया जाता है। और अगर सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों की आलोचना की बात करें तो हमें शक़ है कि ज़िज़ेक किस्सों के अलावा उसके बारे में गहराई से कुछ जानते हैं, सिवाय उसी पूर्वी यूरोपीय बुर्जुआ हास्य के जो कि सोवियत संघ और साथ ही पूर्वी यूरोप की संशोधनवादी कम्युनिस्ट सत्ताओं के ख़िलाफ़ पैदा हुआ था। लेकिन बिना किसी विश्लेषण के, बिना किसी सुसंगत आलोचना के ज़िज़ेक इस चीज़ को आकाशवाणी के समान स्वयंसिद्ध मानते हैं कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोग एक विपदा या त्रासदी में समाप्त हुए। वह तो यहाँ तक कहते हैं कि आज के समय में कम्युनिस्ट तब तक नया कुछ नहीं कर सकते, जब तक कि वह बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की तरफ़ देखना पूरी तरह से बन्द नहीं कर देते और यह मान नहीं लेते की वे पूर्ण असफलता में समाप्त हुए। इस इतिहास-दृष्टि के बारे में जितना कम कहा जाय, उतना बेहतर है। **हमने इसीलिए शुरू में कहा था कि मनोविश्लेषण और दर्शन के विद्यार्थी ज़िज़ेक का राजनीतिक अर्थशास्त्र और इतिहास के बारे में ज्ञान बेहद सीमित है, और जितना है वह भी अखबारी है या फिर नेशनल जियोग्राफिक, डिस्कवरी चैनल, हिस्ट्री चैनल आदि देखकर और रॉय मेदवेदेव और मार्क फेरो जैसों की किताबें पढ़कर निर्मित हुआ है।** ऐसे में, ज़िज़ेक से और कोई उम्मीद की भी नहीं जा सकती है।

ज़िज़ेक का मानना है कि समकालीन पूँजीवाद में बेरोज़गारी का स्वरूप बदल गया है। अब एक स्थायी क़रारनामे के तहत दीर्घकालिक रूप से शोषित होना एक विशेषाधिकार बन गया है। यानी कि स्थायी नौकरियाँ कम होती जा रही हैं, और एक ऐसा मज़दूर वर्ग पैदा हुआ है जो कि ढाँचागत तौर पर बेरोज़गारी में रहता है। स्पष्ट है कि ज़िज़ेक मज़दूर वर्ग के अनौपचारिकीकरण और एक विशाल असंगठित मज़दूर वर्ग के उदय की परिघटना को समझने में बिल्कुल नाकाम रहे हैं। साथ ही वह यह समझने में भी असफल रहे हैं कि मज़दूर वर्ग के अनौपचारिकीकरण की परिघटना कोई नयी चीज़ नहीं है। केवल फोर्डिस्ट और कल्याणकारी राज्य के दौर के पूँजीवाद में ही मज़दूर वर्ग के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से को स्थायी रोज़गार का अधिकार मिल पाया था। फोर्डिस्ट असेम्बली लाइन के उदय के पहले का मज़दूर वर्ग भी मूल रूप से ढाँचागत बेरोज़गारी का शिकार था, और अक्सर वह उस प्रकार के पेशों के ज़रिये जीवनयापन करता था जिसे बुर्जुआ अर्थशास्त्री "स्वरोज़गार" की भ्रामक श्रेणी द्वारा व्याख्यायित

करते हैं। यह इत्तेफ़ाक नहीं था कि बीसवीं सदी के पहले के अधिकांश प्रमुख मज़दूर आन्दोलनों के केन्द्र में यही अनौपचारिक मज़दूर वर्ग था, जैसे कि 19वीं सदी के मध्य में यूरोप में मज़दूर मिलिटेंसी, पेरिस कम्यून, शिकागो का मज़दूर आन्दोलन वगैरह। इन मज़दूर आन्दोलनों में हिस्सा लेने वाला मज़दूर आम तौर पर स्थायी क़रार के तहत काम करने वाला मज़दूर नहीं था, बल्कि अनौपचारिक अस्थायी करार के तहत काम करने वाला मज़दूर था, या फिर स्वरोज़गार करने वाला मज़दूर था। उत्तर-फोर्डिस्ट दौर में अनौपचारिकीकरण एक नये रूप में और एक नये स्तर पर वापस लौटा है। इतिहास ने कुण्डलाकार गति की है। लेकिन जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं कि जिन बुनियादी वैचारिक तत्वों से ज़िज़ेक दयनीय रूप से महरूम हैं, उनमें एक इतिहासबोध भी है। नतीजतन, मौजूदा दौर में मज़दूर वर्ग के ढाँचे और स्वरूप में आने वाले बदलाव की ऐतिहासिकता (*हिस्टॉरिसिटी*) और उसकी नवीनता, दोनों को ही समझने में ज़िज़ेक नाकाम हैं। नतीजतन, एक और स्थापित मार्क्सवादी अवधारणा, यानी कि अतिरिक्त मज़दूर आबादी की अवधारणा को नाम बदलकर वह अपना आविष्कार क़रार देने पर आमादा हैं। लेकिन जिन लोगों को भी मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलों का ज्ञान है, वह ज़िज़ेक पर हँस ही सकते हैं।

ज़िज़ेक कहते हैं कि आज जो पूँजीवाद-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलन हो रहे हैं वह बेहद अराजकतापूर्ण हैं और अस्त-व्यस्त (*मेसी*) हैं। लेकिन उन्हें इसी रूप में स्वीकार करने की ज़रूरत है। अस्त-व्यस्त आन्दोलनों के सैद्धान्तिकीकरण के व्यवस्थित होने का ज़िज़ेक विरोध करते हैं। यह भी एक विचित्र अवस्थिति है। **अगर वस्तुगत परिस्थिति में अराजकता, उथल-पुथल और अस्त-व्यस्तता है, तो इसका यह नतीजा कैसे निकाला जा सकता है उसका सैद्धान्तिक विश्लेषण भी अस्त-व्यस्त होना चाहिए?** समाज से लेकर प्रकृति तक में तमाम ऐसी परिघटनाएँ हैं जिनकी कारणात्मकता एकरेखीय नहीं है। लेकिन उनका सैद्धान्तिकीकरण व्यवस्थित है। बल्कि यह कहा जाना चाहिए कि जहाँ पर वस्तुगत परिस्थितियों में अराजकता का तत्व हावी है, वहाँ उनके सैद्धान्तिकीकरणों में अधिक व्यवस्था का तत्व होना चाहिए। ख़ैर, एक तरफ़ तो ज़िज़ेक मौजूदा प्रतिरोध-आन्दोलनों को ज्यों का त्यों स्वीकार करने की हिमायत करते हैं, वहीं दूसरी ओर वह उसकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि वह मौजूदा व्यवस्था का अंग हैं, और चूँकि उनके पास किसी भावी कम्युनिस्ट समाज का प्रस्ताव या *विज़न* नहीं है, इसलिए वह प्रगतिशील नहीं हैं, बल्कि वह उन वर्गों के आन्दोलन हैं जिन्हें अपनी विशेषाधिकार-प्राप्त सामाजिक स्थिति के खोने का भय है। इसके बाद वह यह भी कहते हैं कि भावी कम्युनिज़्म के बारे में कोई *विज़न* या ठोस प्रस्ताव होना ही नहीं चाहिए, और हमारा प्रस्ताव होना चाहिए कम्युनिज़्म एब्सकॉण्डिटस! अब आप ही बतायें कि ज़िज़ेक आख़िर कहना क्या चाहते हैं? कुछ नहीं! **यह सारा सैद्धान्तिक तमाशा एक निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद के अलावा और कुछ नहीं है, जिसे लकानियन शोरबे और हेगेलीय मसाले के साथ छद्म-मार्क्सवादी अंगीठी पर पकाकर परोसा जा रहा है।** इसका कोई *ऑपरेटिव पार्ट* नहीं है।

ज़िज़ेक जो कहते हैं उसे अगर सारांश में रखा जाय तो वह अन्तरविरोधी बातों का एक जंजाल बन जायेगा। **एक**–बीसवीं सदी का समाजवाद एक पूर्ण असफलता और विपदा के तौर समाप्त हुआ और आज की किसी भी प्रगतिशील परियोजना को इन प्रयोगों के अध्याय को ही बन्द नहीं करना चाहिए बल्कि उसे उठाकर कचरा-पेटी में फेंक देना चाहिए!

दो–फिर आज के दौर में भविष्य के उत्स कहाँ तलाशे जा सकते हैं? आज के प्रतिरोध आन्दोलनों में! और कम्युनिज़्म की किसी भी प्रकार की परिकल्पना नहीं की जानी चाहिए, और उसे नैसर्गिक तरीके से आने देना चाहिए! **तीन**–लेकिन आज के प्रतिरोध आन्दोलनों के पास कम्युनिज़्म की कोई परिकल्पना नहीं है और यह उनकी कमज़ोरी है; वह किसी प्रगतिशील यूटोपिया से अपनी गति ग्रहण नहीं करते, बल्कि "नयी" वेतनभोगी बुर्जुआज़ी के निचले संस्तरों और सम्भावित वेतनभोगी बुर्जुआज़ी के व्यवस्था से बहिष्कृत किये जाने के ख़िलाफ़ किये जाने वाले प्रतिरोध हैं; वे सर्वहारा प्रतिरोध नहीं हैं बल्कि सर्वहाराकरण के डर से पैदा होने वाले प्रतिरोध हैं। **चार**–आज के पूँजीवाद में लगान मुनाफ़े से ज़्यादा महत्वपूर्ण बन गया है और इस लगान का स्रोत है बौद्धिक सम्पदा (इण्टेलेक्चुअल कॉमंस) और प्राकृतिक सम्पदा (नैचुरल कॉमंस) पर इज़ारेदारी (जैसा कि हम दिखला चुके हैं, इसमें कुछ भी नया नहीं है)। इस पूरे सारांश में तमाम बातें एक-दूसरे को ही काटती हैं, और पाठक अन्त में किसी नतीजे पर नहीं पहुँचता। वास्तव में, ज़िज़ेक किसी नतीजे पर नहीं पहुँचते। लेकिन हम कहेंगे कि यही तो उनका नतीजा है! उन्हें किसी नतीजे पर पहुँचना ही नहीं था। उन्होंने किताब में 2011 को 'ख़तरनाक ढंग से सपने देखने' का वर्ष कहा है; हम कहेंगे कि यह ज़िज़ेक के लिए यह निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी और नुकसानदेह रूप से भ्रामक सैद्धान्तिकीकरण करने और दुनिया की एक दयनीय रूप से असफल व्याख्या करने का एक और वर्ष था!

घोषणापत्र का प्रपत्र : प्रपत्र 4

(नियम 8 के अन्तर्गत)

पत्रिका का नाम	दिशा सन्धान
पत्रिका की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	त्रैमासिक
पत्रिका का खुदरा बिक्री मूल्य	सौ रुपये
प्रकाशक का नाम	कात्यायनी
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
प्रकाशन का स्थान	निशातगंज, लखनऊ
मुद्रक का नाम	कात्यायनी
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
मुद्रणालय का नाम	प्रकाश पैकेजर्स, गोलागंज, लखनऊ
सम्पादक का नाम	कात्यायनी
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज लखनऊ
स्वामी का नाम	कात्यायनी
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं कात्यायनी, यह घोषणा करती हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर

(कात्यायनी)

प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी

आधुनिक यूनानी त्रासदी के त्रासद नायक के विरोधाभास

समाजवाद के जुमलों के तहत रैडिकल सुधारवाद का उदय

● सत्यम

आधुनिक यूनानी त्रासदी जारी है। इस त्रासदी के रचयिता अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, यूरोपीय संघ और विश्व बैंक हैं। इस त्रासदी के केन्द्र में जो देश है, उसे सहनशीलता की आख़िरी सीमाओं तक धकेल दिया गया है। विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का यह प्रयोग दिखला रहा है कि लोगों को जीवन के बुनियादी साधनों से वंचित करते हुए अधिक से अधिक पूँजी संचय करने और किसी भी तरीके से अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमा लेने की हवस किस हद तक जा सकती है। यूनान में एक सामाजिक विस्फोट की स्थिति पैदा हो चुकी है। सड़कों पर आप बेघर और बेरोज़गार लोगों के हुजूम देख सकते हैं; आप कूड़ेदानों पर भोजन की तलाश करते ग़रीब लोगों को देख सकते हैं; आप सार्वजनिक स्थानों पर हो रही आत्महत्याओं के साक्षी बन सकते हैं; और आप जनता के प्रतिरोध के साक्षी भी बन सकते हैं। वैश्विक आर्थिक संकट की शुरुआत के बाद से यूनान में 27 आम हड़तालें हो चुकी हैं; हर रोज़ देश की राजधानी एथेंस और अन्य बड़े शहरों में छोटे-बड़े प्रदर्शन होते रहते हैं। कई जगहों पर ये प्रदर्शन हिंस्र रूप ले रहे हैं और पुलिस से टकरा रहे हैं। यूनान आज जिस संकट के केन्द्र में है, वह वास्तव में 2007 में अमेरिका में सबप्राइम संकट के रूप में शुरू हुआ था। 2007 से ही पूरी विश्व पूँजीवादी व्यवस्था भयंकर ढाँचागत संकट का शिकार है।

इस संकट का केन्द्र पश्चिम से पूर्व की ओर स्थानान्तरित हो रहा है। अमेरिका भी अभी मन्दी की चपेट में ही है, लेकिन संकट के सबसे गम्भीर परिणाम अब यूरोप की परिधिगत अर्थव्यवस्थाओं में देखने में आ रहे हैं जैसे आइसलैण्ड, आयरलैण्ड, पुर्तगाल, यूनान और स्पेन में। इनमें भी यूनान की हालत सबसे बुरी है।

संकट के यूरोप तक आने का अतिसंक्षिप्त ब्यौरा

सभी जानते हैं कि इस संकट का मूल कारण है वित्तीय पूँजी की सट्टेबाज़ी और उसके प्रभुत्व के तहत एक जुआघर अर्थव्यवस्था का निर्माण। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले तक पूँजीवादी संकट मुख्य तौर पर अपने आपको अति-उत्पादन के क्लासिकीय संकट के तौर पर पेश कर रहा था; द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त से लेकर 1973 में डॉलर-स्वर्ण मानक के पतन तक का दौर ऋण-वित्त पोषित आर्थिक तेज़ी का दौर था, जिसमें अति-उत्पादन के संकट से निकलने के लिए वित्तीय पूँजी ने ऋण से उपभोग का वित्त-पोषण किया; इसके ज़रिये कमाई का प्रमुख माध्यम ब्याज़ बन गया। इसके साथ ही, एक और ज़्यादा बड़ा और नये किस्म का वित्तीय बाज़ार अस्तित्व में आया। ऋण भी एक माल बन गया और उसे भी बेचा जाने लगा। हर माल के बाज़ार की तरह इस माल के बाज़ार में भी एक दिन अति-उत्पादन (आधिक्य) का संकट आना ही था। 1990 के दशक के अन्त तक वह संकट प्रकट होने लगा था। लेकिन 2000 के दशक में यह संकट नये वेग और गहराई के साथ प्रकट हुआ। एशियाई मौद्रिक संकट, डॉट कॉम बुलबुले और आवास बाज़ार बुलबुले के फूटने के बाद 2006 के अन्त से सबप्राइम ऋण के बाज़ार में संकट के चिन्ह दिखने लगे थे। सबप्राइम ऋण का आविष्कार वास्तव में ऋण के बाज़ार में अति-उत्पादन के संकट से निपटने के लिए ही किया गया था। पूँजी की प्रचुरता के कारण अब ऋण के पर्याप्त ख़रीदार खाते-पीते उपभोक्ताओं के बीच नहीं रह गये थे। यानी कि मध्य वर्ग और निम्न मध्य वर्ग का हिस्सा अब ऋण बाज़ार के लिए सन्तृप्ति बिन्दु तक पहुँच रहा था। नतीजतन, बैंकों और वित्तीय एजेंसियों को अपनी पूँजी की प्रचुरता का संकट ख़त्म करने के लिए और साथ ही औद्योगिक जगत के अति-उत्पादन के संकट को ख़त्म करने के लिए नये ऋण लेने वाले लोग चाहिए थे। और अब वे लोग केवल ग़रीब आबादी में मिल सकते थे। इसी आबादी के लिए जिस ऋण का आविष्कार किया गया, उसे सबप्राइम ऋण कहा गया, जो कि ऐसे लोगों को दिया जाता था जिनका ऋण इतिहास (बैंक बैलेंस) अच्छा नहीं रहा है। इस ऋण पर परिवर्तनशील ब्याज़ लगाया जाता था, जिससे कि बैंक मूल धन को शुरुआती कुछ किश्तों में ही ब्याज़ समेत वसूल ले। कई बार इस ऋण पर 30 प्रतिशत तक ब्याज़ भी वसूला जाता था। नवउदारवादी अर्थशास्त्र के कठमुल्लों के अनुसार सबप्राइम ऋण का सिद्धान्त बिल्कुल सही था, जिसे कि बैंक और वित्तीय संस्थाएँ सही ढंग से लागू नहीं कर पायीं। लेकिन वास्तविकता यह है कि एक व्यापक वित्तीय बाज़ार द्वारा जब यह रणनीति अपनायी जायेगी तो निश्चित तौर पर सभी आम ग़रीब वर्गों के लोग सबप्राइम ऋण की किश्तों का भुगतान नहीं कर पायेंगे। यही हुआ भी। शुरुआती दौर में यह रणनीति सही ढंग से काम करती रही। लेकिन जैसे ही सबप्राइम ऋण लेकर मकान, गाड़ी आदि ख़रीदने वाले लोगों ने डिफॉल्ट करना शुरू किया वैसे ही उनकी सम्पत्तियों को बैंकों ने नीलामी के ज़ब्त करना शुरू किया। लेकिन दिक्कत यह थी कि अब बाज़ार में ख़रीदार ही

नहीं बचे थे, जो कि इन घरों, कारों आदि को ख़रीदते। नतीजतन, बैंकों की पूँजी बाज़ार में फँस गयी और वित्तीय बाज़ार में तरलता का संकट पैदा हो गया। बैंक अपने खाताधारकों को पैसा देने में असफल होने लगे और इसी के साथ सबप्राइम ऋण संकट की शुरुआत हुई।

चूँकि द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले ही वित्तीय बाज़ार मोटे तौर पर वैश्विक हो चुके थे, इसलिए यह लाज़िमी था कि अमेरिकी वित्त बाज़ार में पैदा यह संकट देखते ही देखते पूरी दुनिया में फैल जायेगा। इसका कारण यह था कि सबप्राइम ऋण देने वाले तमाम बैंकों ने जो ऋण दिये थे, उन्हें अन्य अच्छी श्रेणी के ऋणों के साथ मिश्रित करके *कोलैटरल डेट ऑब्लिगेशन* नामक विशेष वित्तीय उपकरण के तौर पर दुनिया के अन्य बैंकों को भी बेच दिया। फिर उन बैंकों ने उन्हें अपने देश के सबप्राइम और अच्छी श्रेणी के ऋणों के साथ मिश्रित करके वित्तीय पैकेज के तौर पर अन्य देशों के बैंकों को बेच दिया। जिस ऋण पर मूलधन की भी वापसी नहीं हो पा रही थी, वह एक प्रकार से जहरीला वित्तीय कचरा था। बैंकों द्वारा वित्तीय सट्टेबाज़ियों के ज़रिये यह ज़हरीला वित्तीय कचरा पूरी दुनिया में फैल गया। ऐसे में, सबसे पहले उन देशों को ही तबाह होना था जिनकी अर्थव्यवस्थाएँ अपेक्षाकृत कमज़ोर थीं, या जिनके वित्तीय बाज़ार अभी वैश्विक पूँजी बाज़ारों के साथ पर्याप्त रूप से समेकित नहीं हुए थे। 2007 में संकट का केन्द्र अमेरिका था। अमेरिका के लिए भी यह संकट महामन्दी के बाद सबसे भयंकर संकट था, और अभी तक अमेरिका उससे उबर नहीं पाया है। लेकिन अपने वैश्विक साम्राज्यवादी वर्चस्व के कारण इस संकट के प्रभावों को वह कुछ हद तक यूरोपीय देशों की ओर स्थानान्तरित करने में सफल रहा है। पूँजी की प्रचुरता के बूते पर अमेरिका ने संकट को किसी तरीके से ख़तरनाक हदों के पार जाने से रोका हुआ है, हालाँकि अमेरिका में इस समय बेघर लोगों की समस्या और बेरोज़गार 1930 के दशक के बाद सबसे ज़्यादा है। जैसे ही यूरोप के बैंक ध्वस्त होने शुरू हुए, वैसे ही सबसे पहले वे अर्थव्यवस्थाएँ संकट की चपेट में आयीं जो कि सबसे कमज़ोर थीं। इन्हीं अर्थव्यवस्थाओं को अभी 'पिग्स' (पुर्तगाल, आइसलैण्ड, आयरलैण्ड, ग्रीस, स्पेन) कहा जा रहा है। यहाँ पर यह संकट सार्वभौम ऋण संकट के रूप में प्रकट हुआ है। यानी कि यूरोप के इन अपेक्षाकृत कमज़ोर आर्थिक ढाँचे वाले देशों की सरकारों पर अमेरिका और यूरोपीय संघ का ज़बर्दस्त दबाव है कि वे अपने बैंकों को 'बेल आउट' पैकेज देकर बचाएँ। इसका सीधा अर्थ यह है कि इन देशों के बैंक साम्राज्यवादी वित्तीय एजेंसियों और उन्नत साम्राज्यवादी देशों के बैंकों से लिये गये ऋणों (वित्तीय कचरे) का भुगतान करें। इन देशों की सरकारों के पास मौजूद विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के भीतर रहते हुए, इसके अलावा कोई चारा भी नहीं है। नतीजतन, ये सरकारें सार्वजनिक मदों में कटौती करके इन बैंकों को 'बेलआउट' पैकेज देने को मजबूर हैं। इसके लिए उन्हें 'किफायतशारी' (ऑस्टिेरिटी) की नीतियों को लागू करना पड़ रहा है। जाहिर है, कि यह किफायतशारी जनता के लिए होने वाले ख़र्चों में कटौती करके की जा रही है। जिन देशों की अर्थव्यवस्थाएँ सबसे कमज़ोर हैं, वहाँ पर सरकारों को सार्वजनिक मदों में इतनी कटौती करनी पड़ रही है कि उनके पास अगले वित्तीय वर्ष में सरकारी कर्मचारियों को वेतन देने, शिक्षा, चिकित्सा और आवास जैसे सार्वजनिक मदों में खर्च करने के लिए भी पैसे नहीं हैं। यही स्थिति यूनान में है। हाल ही में यूरोपीय संघ और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के दबाव में यूनान में पासोक और न्यू डेमोक्रेसी पार्टी की गठबन्धन सरकार ने नयी किफायतसारी की नीतियों को लागू करने का निर्णय लिया है, और यूनानी संसद को भंग न करवाकर

रैडिकल वामपन्थी पार्टी सिरिज़ा ने भी एक तरह से इसका मौन समर्थन किया है, क्योंकि अगर सिरिज़ा के सांसदों ने इस प्रस्ताव के ख़िलाफ़ संसद सदस्यता से इस्तीफ़ा दिया होता तो यूनानी संसद को भंग करना पड़ता और नये चुनाव कराने पड़ते। लेकिन सिरिज़ा के मौन समर्थन के चलते यूनानी जनता के लिए आने वाले वर्ष में और अधिक तकलीफ़ों का इन्तज़ाम कर दिया गया है।

इस समय पूँजीवादी विश्व व्यवस्था का संकट सान्द्र रूप में प्रकट हो रहा है। विश्व साम्राज्यवाद के अन्तरविरोधों की जो तमाम गाँठें इस समय दुनिया में पैदा हो रही हैं, उनमें से एक यूरोप और विशेषकर यूनान का सार्वभौम ऋण संकट है। इसका कारण यह है कि यह पूँजीवादी आर्थिक संकट अब एक सामाजिक और आर्थिक विस्फोट की तरफ़ जा रहा है और अभी कोई भी विकल्प यूनान की जनता के सामने नहीं है। फिलहाल, यूनान की जनता का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा एलेक्सिस सिप्रास के नेतृत्व वाली सिरिज़ा पार्टी को एक उम्मीद की किरण के तौर पर देख रहा है क्योंकि इस पार्टी ने अपने कार्यक्रम में जो प्रस्ताव रखे हैं, उसमें किफ़ायतसारी की नीतियों को सीमित करने, बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने, कल्याणकारी नीतियों (जैसे कि आबादी के एक हिस्से के लिए मुफ्त या सब्सिडाइज़्ड शिक्षा, चिकित्सा और आवास), नाटो से अलग होने, साम्राज्यवादी युद्धों में सहायता न करने आदि जैसी नीतियों की बात की गयी है। लेकिन सवाल यह है कि क्या सिरिज़ा पूँजीवादी व्यवस्था का विकल्प पेश करने की बात कर रही है? या फिर वह पूँजीवादी व्यवस्था को ही जनता के पक्ष में कल्याणकारी नीतियों के ज़रिये प्रबन्धित करने की बात कर रही है? कहने के लिए वह सामाजिक जनवाद की विरासत और नीतियों को ठुकरा रही है। लेकिन साथ ही वह 'शीत प्रासाद पर धावे' की रणनीति को भी दुस्साहसवाद मानती है। क्रान्तिकारी रास्ते से पूँजीवादी राज्यसत्ता के ध्वंस और समाजवादी राज्यसत्ता की स्थापना की बजाय वह अभी बुर्जुआ संसदवाद, रैडिकल सुधारवाद और साम्राज्यवाद से मोलभाव की नीतियों को ही तरजीह दे रही है। लेकिन साथ ही वह ऐसे जुमलों का इस्तेमाल भी कर रही है जो समाजवाद, कम्युनिज़्म और मज़दूर सत्ता का ज़िक्र कर रहे हैं। नतीजतन, सिरिज़ा की पूरी राजनीतिक अवस्थिति दुनिया में मार्क्सवादी-लेनिनवादी हलकों में एक भ्रम की स्थिति पैदा कर रहे हैं। इसके कारण समझने के लिए हमें सिरिज़ा की राजनीति, वर्ग आधार और इतिहास की थोड़ा करीबी से पड़ताल करनी होगी।

सिरिज़ा की राजनीति की दुविधा: रैडिकल सुधारवाद या समाजवादी क्रान्ति?

सिरिज़ा का अर्थ है 'रैडिकल वामपन्थी गठबन्धन'। इसकी शुरुआत औपचारिक तौर पर तो 2004 के चुनावों के पहले हुई थी। लेकिन जिन धाराओं के एक साथ आने पर यह पार्टी बनी थी, उन धाराओं का इतिहास जाने बग़ैर सिरिज़ा की वर्तमान राजनीति को समझना मुश्किल है। इसकी शुरुआत यूनानी कम्युनिस्ट पार्टी में 1968 में हुई फूट में देखी जा सकती है। यूनान की कम्युनिस्ट पार्टी में दो धड़ों के बीच 1968 में फूट हुई। यह फूट, यूरोप की अन्य कम्युनिस्ट पार्टियों में 1960 के दशक में हुई फूटों के समान ही, सोवियत संघ-समर्थक धड़े और

सोवियत संघ के सामाजिक साम्राज्यवाद का विरोध करने वाले धड़ों के बीच हुई। यूनान में सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद का विरोध यूरोकम्युनिस्ट कर रहे थे। वे यूनान की कम्युनिस्ट पार्टी से अलग हो गये। यहाँ पर भी हम यूरोप की अन्य कम्युनिस्ट पार्टियों से एक समानता देख सकते हैं। यहाँ पर जो लोग यूनान की कम्युनिस्ट पार्टी से अलग हुए वे सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद को बोल्शेविज़्म की नैसर्गिक परिणति के रूप में देख रहे थे और सोवियत साम्राज्यवाद के पूर्वी यूरोप में किये गये कुकर्मों की जड़ पार्टी, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और लेनिन के कथित "हिरावलवाद" में देख रहे थे। कई देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों में यह अवस्थिति यूरोप में पैदा हुए "माओवाद" ने अपनाई जिसके लिए "माओवाद" का अर्थ था पार्टी और राज्य के विरुद्ध क्रान्ति। ऐसे तमाम यूरोपीय "माओवादी" महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को पार्टी में मौजूद बुर्जुआ हेडक्वार्टर के ख़िलाफ़ क्रान्ति की बजाय, पार्टी के ही ख़िलाफ़ क्रान्ति समझते थे! कुछ अन्य देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों में सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के मुद्दे पर जो फूट हुई उसमें यह अवस्थिति अपनाने वाले "माओवादी" न होकर नवट्रॉट्स्कीपन्थी, यूरोकम्युनिस्ट, "वामपन्थी" सामाजिक जनवादी आदि थे। 1980 के दशक में ये दोनों धड़े एक बार फिर से साथ आये और उन्होंने वामपन्थी प्रगतिशील गठबन्धन (सिनास्पिमोस) का निर्माण किया। 1989 में पासोक (यूनान की सामाजिक जनवादी पार्टी) की सरकार में हुए घपलों-घोटालों के चलते उन्होंने 'न्यू डेमोक्रेसी' नामक पार्टी के साथ गठबन्धन सरकार बनायी। कुछ माह बाद ही इस गठबन्धन में पासोक फिर से शामिल हो गयी। इसके कारण सिनास्पिमोस के अधिकांश युवा रैडिकल लोगों ने पार्टी छोड़कर एक नया संगठन 'न्यू लेफ्ट करेण्ट' बना लिया, जो कि वर्तमान समय में एक अन्य वामपन्थी संगठन 'अन्तार्स्या' के अंग हैं। अन्तार्स्या का अर्थ है पूँजीवाद-विरोधी वामपन्थी गठबन्धन। इसमें भी विभिन्न किस्म के वामपन्थी हैं, लेकिन सबसे प्रभावी ट्रॉट्स्कीपन्थी हैं। इसके बाद सिनास्पिमोस में एक फूट पड़ी, जिसका एक धड़ा आगे चलकर ग्रीक कम्युनिस्ट पार्टी (के.के.ई.) बना और दूसरा हिस्सा जो कि यूरोपीय संघ का पक्षधर रहा, उसने सिनास्पिस्मोस नाम बरकरार रखा। 1992 में सिनास्पिस्मोस ने मास्ट्रिख़्ट सन्धि के पक्ष में वोट डाला। अगले चुनावों उसे ज़बर्दस्त नुकसान उठाना पड़ा। 2000 के दशक के आरम्भ में सिनास्पिस्मोस ने भूमण्डलीकरण-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलनों में भाग लिया, लेकिन ये प्रतिरोध आन्दोलन वैसे ही भूमण्डलीकरण का विरोध कर रहे थे, जैसे कि विश्व सामाजिक मंच करता है! यानी, पूँजीवाद का विरोध नहीं करके, सिर्फ भूमण्डलीकरण और नवउदारवाद का विरोध करना, मानो वे पूँजीवादी व्यवस्था की नैसर्गिक परिणति न हों। दूसरे शब्दों में कहें तो अनकहे तौर पर एक 'मानवीय चेहरे वाले पूँजीवाद' की कल्पना करना। 2004 में सिनास्पिस्मोस ने कुछ अन्य छोटे वाम संगठनों के साथ एकता की, और इस नयी एकता को ही 'सिरिज़ा' नाम दिया गया। सिरिज़ा में अभी सिनास्पिस्मोस का धड़ा ही सबसे बड़ा है। अन्य छोटे धड़ों में ट्रॉट्स्कीपन्थी, "माओवादी", यूरोकम्युनिस्ट, पर्यावरणवादी मार्क्सवादी, "वामपन्थी" सामाजिक जनवादी शामिल हैं। सिरिज़ा के प्रमुख लोगों में 1989 की गठबन्धन सरकार के कुछ मन्त्री भी मौजूद हैं। साथ ही, कुछ ऐसे लोग भी हैं जो मज़दूर आन्दोलन से लम्बे समय से जुड़े रहे हैं। कुछ का कहना है कि यूनान को यूरोपीय संघ से बाहर हो जाना चाहिए। सिरिज़ा में दक्षिणपन्थी सामाजिक जनवादी अवसरवाद की ओर रुझान रखने वाला धड़ा ज्यादा शक्तिशाली है, और जो धड़ा अपने को "वामपन्थी" कहने का हक़दार है, वह भी ज़्यादा से ज़्यादा

रैडिकल वाम सुधारवादी ही है। सिरिज़ा का पब्लिक सेक्टर की कुछ ट्रेड यूनियनों पर कुछ प्रभाव है। लेकिन ज़्यादातर ट्रेड यूनियनें के.के.ई. के प्रभाव में हैं।

इस इतिहास से स्पष्ट है कि सिरिज़ा में जो "वाम" शक्तियाँ शामिल हैं, वे किसी भी रूप में मार्क्सवादी-लेनिनवादी नहीं हैं, और उनमें जो "माओवादी" हैं, उनके माओवाद के संस्करण से माओ के विचारों का कोई लेना-देना नहीं हैं, और वह एक विशेष किस्म का अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद ही है। जो धड़ा सिरिज़ा में सबसे शक्तिशाली है, यानी सिनास्पिस्मोस का धड़ा, वह यूरोकम्युनिज़्म की धारा से सबसे ज़्यादा प्रभावित है, जो कि और कुछ नहीं बल्कि सामाजिक-जनवाद का एक नया संस्करण है। सामाजिक-जनवाद कम-से-कम औपचारिक तौर पर राज्यसत्ता और सर्वहारा अधिनायकत्व की ज़रूरत से इंकार नहीं करता, या कम-से-कम उसमें महज़ परिवर्तन की बात करता है। लेकिन यूरोकम्युनिज़्म औपचारिक तौर पर भी मार्क्सवाद के इन कोर सिद्धान्तों को तिलांजलि देता है। सिरिज़ा ने अपना जो 40-बिन्दु वाला कार्यक्रम घोषित किया है, वह भी किसी भी रूप में एक कम्युनिस्ट कार्यक्रम नहीं है। उसे आप ज़्यादा से ज़्यादा एक सामाजिक-जनवादी और सुधारवादी कार्यक्रम कह सकते हैं, जो कि कल्याणकारी नीतियों को शुरू करने और यूरोपीय संघ से अलग हुए बग़ैर किफायतसारी की नीतियों को समाप्त करने की बात करता है। जाहिर है, यह एक यूटोपियाई योजना है। लेकिन जिन चीज़ों का प्रस्ताव इस कार्यक्रम में रखा गया है, उसमें यूरोपीय संघ से बाहर जाने और यूरो का परित्याग करने का कोई ज़िक्र नहीं है। वास्तव में, उसमें यह बात कही गयी है कि यूनान पर साम्राज्यवादी देशों और एजेंसियों द्वारा जो देनदारियाँ थोपी जा रही हैं, उनका फिर से ऑडिट कराया जाय। यानी कि साम्राज्यवादी ऋणों को (जो कि बिल्कुल अन्यायपूर्ण हैं और पश्चिम के वित्तीय सरदारों के जुए का ख़र्च यूनानी जनता पर थोपने के समान है) रद्द करने की कोई बात नहीं की गयी है, बस यह कहा गया है कि इन ऋणों की फिर से "सही" तरीके से गणना होनी चाहिए। साथ ही, हाल ही में सिरिज़ा के नेता एलेक्सिस सिप्रास ने जी20 के नेताओं से बातचीत करते हुए इस बात का आश्वासन दिया कि उन्हें सिरिज़ा से डरने की कोई ज़रूरत नहीं है। सिरिज़ा सिर्फ़ यूरोपीय संघ, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक से रिश्तों की शर्तों में कुछ संशोधन की बात कर रहा है; उसे इतना रैडिकल न समझा जाय कि वह आज की विश्व व्यवस्था में कहीं समायोजित नहीं हो पाये। सिरिज़ा के नेताओं का विचार है कि यूनान में कल्याणकारी नीतियों को लागू करने में एक और कारक उनकी सहायता करेगा और वह कारक है फ्रांस में फ्रांस्वा ओलान्दे की सरकार का आना! यह भी एक भ्रम है। ओलान्दे को आप ज़्यादा से ज़्यादा एक 'मानवीय चेहरे वाला साम्राज्यवादी' कह सकते हैं। अभी माली में फ्रांस ने जिस तरीके से साम्राज्यवादी हस्तक्षेप किया, उससे कम-से-कम सिरिज़ा जैसी पार्टियों की ग़फ़लत दूर हो जानी चाहिए। लेकिन फिर भी अभी तक सिरिज़ा ने ओलान्दे से उम्मीद बाँध रखी है, कि जर्मन दबाव के समक्ष वह उनकी मदद करेंगे। सिरिज़ा ने अपने कार्यक्रम में कहा है कि वह नाटो की कार्रवाइयों में भाग नहीं लेगा, यूनानी सैनिकों को यूनान की सीमा से बाहर कहीं नहीं भेजेगा, और 1967 की सीमाओं के अनुसार एक फिलिस्तीनी राज्य का समर्थन करेगा। लेकिन इसमें एक भी ऐसी बात नहीं है जो तमाम सामाजिक-जनवादी और सुधारवादी पार्टियाँ न कहती हों। यह अभी सामाजिक-जनवाद की सीमा का अतिक्रमण और एक समाजवादी कार्यक्रम की सीमा में प्रवेश किसी भी मानक से नहीं माना जायेगा।

सिरिज़ा को पिछले तीन चुनावों में ज़बर्दस्त फ़ायदा हुआ है और उसके वोटों का हिस्सा 4.6 प्रतिशत से 17 प्रतिशत और फिर हालिया चुनावों में 27 प्रतिशत हो गया है। सिरिज़ा इस समय दूसरी सबसे बड़ी पार्टी है और प्रमुख विपक्षी दल है। लेकिन इसके साथ ही जिस अन्य पार्टी के वोट प्रतिशत बढ़े हैं वह है 'गोल्डेन डॉन' जो कि यूनान के नवनात्सियों की पार्टी है। यह पार्टी प्रवासी मज़दूरों के ख़िलाफ लगातार नवनात्सी हरक़तें कर रही है; इसने अपनी ब्रिगेडें बना रखी हैं, जो प्रवासी मज़दूरों, और हर प्रकार के प्रतिरोध समूहों पर हमला करती है। अगर सिरिज़ा यूनान की समस्याओं का हल करने में असफल होती है, तो फिर गोल्डेन डॉन का तेज़ी से उभार तय है। और सिरिज़ा फिलहाल जिस राजनीति पर चल रही है, उसमें इस बात की पूरी गुंजाइश है कि अगले चुनावों में उसकी सरकार बनने के बाद, वह भी आर्थिक और राजनीतिक मोर्चे पर बुरी तरह से असफल होगी।

सिरिज़ा की राजनीति यह है कि वह संसद की राजनीति को सामाजिक आन्दोलनों के साथ चलायेगी। यानी एक ओर वह प्रतिनिधि बुर्जुआ जनवाद की संस्थाओं, यानी कि संसद व अन्य प्रातिनिधिक संस्थाओं में हिस्सेदारी करेगी, वहीं दूसरी ओर वह पार्टी को सरकार से अलग रखते हुए तमाम नये सामाजिक आन्दोलनों में हिस्सेदारी करेगी। नये सामाजिक आन्दोलनों से सिरिज़ा के नेताओं का क्या अर्थ है? बिल्कुल वही अर्थ है जो विश्व सामाजिक मंच के नेताओं का है! इन आन्दोलनों के "सामाजिक" पहलू पर यूँ ही ज़ोर नहीं डाला गया है; इसका मकसद है इसके राजनीतिक पहलू का दमन करना। यानी जनता सड़कों पर उतरे ज़रूर, आन्दोलन भी करे, वह आन्दोलन जुझारू और रैडिकल तेवर के साथ भी करे तो कोई दिक्कत नहीं है! लेकिन अन्त में, वह माँग करे! खुद पूँजीवादी सत्ता को उखाड़ फेंकने के चक्कर में न पड़े। यानी, सत्ता के प्रश्न को, जो कि मूल राजनीतिक प्रश्न है, न उठाये। दूसरे शब्दों में कहें, तो आन्दोलन को सामाजिक होना चाहिए, राजनीतिक नहीं। राजनीति का प्रश्न, या सत्ता का प्रश्न बुर्जुआ संसद के द्वारा ही हल होगा। साथ में, तृणमूल धरातल पर कुछ ऐसी चीज़ें होनी चाहिए जो कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के झटकों के असर को आंशिक तौर पर सोख लें, और जनता को विद्रोह की तरफ़ जाने से रोकें! मिसाल के तौर पर, सिरिज़ा ने अभी से ही ज़मीनी धरातल पर 'सॉलिडैरिटी नेटवर्क' नामक संस्थाएँ बना रखी हैं, जो कि सरकार और बाज़ार की प्रणाली से अलग, जनता के अलग-अलग हिस्सों के बीच वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय में सहायता करती हैं, उनमें मध्यस्थ का काम करती हैं। इन्हें "वामपन्थी बाज़ार" कहा जा सकता है! ऐसे "वामपन्थी बाज़ारों" के ज़रिये और इसी प्रकार की अन्य सहकारी संस्थाओं के ज़रिये सिरिज़ा के लोग पूँजीवादी बाज़ार की आँच से जनता की रक्षा करना चाहते हैं! वे पूँजीवादी बाज़ार व्यवस्था को ख़त्म करने की बात कहीं नहीं करते। वे सिर्फ़ इतना कहते हैं कि 'अक्टूबर' बीते हुए ज़माने की बात है; अब शीत प्रासाद पर धावे की रणनीति काम नहीं आने वाली; अगर ऐसी रणनीति के ज़रिये कोई मज़दूर सत्ता अस्तित्व में आती है तो उसके सर्वसत्तावादी हो जाने की पूरी गुंजाइश होगी; और फिर वे कहते हैं कि 'देखिये सोवियत संघ का क्या हश्र हुआ!' इसलिए सिरिज़ा जो रास्ता सुझा रही है, जिसे वह इक्कीसवीं सदी का समाजवाद कह रही है, वह यह है कि बुर्जुआ संसदवाद के ज़रिये पहले एक प्रगतिशील सरकार बनायी जाये; उसके बाद सबसे पहले एक कल्याणकारी राज्य का निर्माण किया जाये; और उसके बाद एक विशेष किस्म के समाजवाद की तरफ़ क्रमिक संक्रमण किया जाय, जिसे

हम 'इक्कीसवीं सदी का समाजवाद' कह सकते हैं। यह पूरी सोच इस बात को एक आकाशवाणी-सरीखा सत्य मानती है कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोग पूर्ण असफलता में समाप्त हुए और उनके आलोचनात्मक विवेचन की भी कोई आवश्यकता नहीं है। इस मायने में उस पर उत्तरमार्क्सवादी चिन्तकों का, जैसे कि ज़िज़ेक, बेन्यू, आदि, सिरिज़ा पर गहरा प्रभाव है। यह इत्तेफाक नहीं है। वास्तव में, सिरिज़ा के भीतर ज़िज़ेक के भी कई अनुयायी हैं। हालाँकि, ज़िज़ेक का सिरिज़ा से कुछ मुद्दों पर मतभेद है (जिनका हमारे लिए कोई विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि ज़िज़ेक भी एक 'अज्ञात कम्युनिज़्म' की बात करते हैं जिसके बारे में कोई भी परिकल्पना पहले से दिये जाने के वह एकदम ख़िलाफ़ हैं), जैसे कि एक मज़बूत राज्यसत्ता की ज़रूरत, तृणमूल जनवाद (ग्रासरूट डेमोक्रेसी), सामाजिक आन्दोलन, आदि। लेकिन चूँकि ज़िज़ेक के पास स्वयं कोई प्रस्ताव नहीं है, और चूँकि वह कोई भी क्रान्तिकारी प्रस्ताव रखने के ही ख़िलाफ़ हैं, इसलिए उनके सिरिज़ा से मतभेदों की कोई अहमियत नहीं है। वह सिर्फ़ सवाल उठा सकते हैं। अगर कोई प्रस्ताव रखा जाता है, तो भी ज़िज़ेक को खुजली उठती है कि कोई भी प्रस्ताव क्यों रखा गया; और अगर कोई प्रस्ताव नहीं रखा जाता है, तो भी उन्हें पेटदर्द होता है कि कोई प्रस्ताव क्यों नहीं रखा गया! लेकिन ज़िज़ेक को उनके 'कुर्सीतोड़ क्रान्तिकारी दर्शन' के साथ छोड़कर सिरिज़ा पर वापस आते हैं।

सिरिज़ा का मानना है कि संसद में सरकार बनाने और सामाजिक आन्दोलनों में शिरकत के साथ वह प्रातिनिधिक जनवाद और तृणमूल जनवाद का एक मिश्रण तैयार करेगी, जो कि पूँजीवादी जनवाद की समस्याओं का भी समाधान करेगा और समाजवादी राज्यसत्ता की समस्याओं का भी समाधान करेगा। लेकिन कुल मिलाकर यह खिचड़ी इसलिए पकायी गयी है, कि सामाजिक-जनवाद की समस्याओं का समाधान किया जाय। यूरोप में सामाजिक जनवाद की ग़द्दारी के करीब 100 वर्षों ने उस पर से जनता के भरोसे को काफ़ी हद तक ख़त्म कर दिया है। यूरोप में सामाजिक जनवादी ताक़तें जो राजनीतिक अवस्थितियाँ अपना रही हैं, उनके कारण उनमें और नवउदारवादी ताक़तों में फर्क करना मुश्किल हो गया है। ऐसे में, सामाजिक जनवाद को सिरिज़ा जैसी ताक़त की ज़रूरत थी, जिसमें कि तमाम नवट्रॉट्स्कीपन्थी, एनजीओ, नारीवादी, "माओवादी", यूरोकम्युनिस्ट, पर्यावरणवादी और तमाम किस्म के सुधारवादी शामिल हों। यह सिरिज़ा के सामाजिक जनवाद को एक रैडिकल सुधारवादी तेवर देता है। एक राजनीतिक शक्ति के तौर पर वामपन्थी रैडिकल सुधारवाद अभी एक ख़र्च ताक़त नहीं बना है और उसका सन्तृप्ति बिन्दु अभी नहीं आया है।

अगर अगले चुनावों में सिरिज़ा जीतती है और सरकार बनाती है, तो इस बात की पूरी उम्मीद की जा सकती है कि वह यूनान की नयी पासोक (सामाजिक जनवादी पार्टी) बन जायेगी। सिरिज़ा का नेतृत्व यह देख रहा है कि यूनानी समाज किस ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा है। एक ओर व्यापक निम्न मध्यवर्गीय आबादी का सर्वहाराकरण हो रहा है, सर्वहारा वर्ग की जीवन स्थितियाँ लगातार बद से बदतर होती जा रही हैं, और दूसरी तरफ एक नवधनाढ्य बुर्जुआज़ी पैदा हुई है जो पुराने कुलीन बुर्जुआ वर्ग के साथ मिलकर गोल्डेन डॉन जैसी नवनात्सी ताक़तों को प्रश्रय दे रही है। आबादी में बहुत छोटा हिस्सा अब ऐसा रह गया है, जो किसी 'सेण्ट्रिस्ट पोज़ीशन' पर खड़ा हो। आबादी का राजनीतिक गैल्वनीकरण आश्चर्यजनक तेज़ी के साथ हो रहा है और ज़्यादा से ज़्यादा लोग या तो वाम

पक्ष की तरफ़ जा रहे हैं, या फिर 'यूनान की समस्याओं के समाधान के लिए' गोल्डेन डॉन के पक्ष में खड़े हो रहे हैं। सिरिज़ा इस स्थिति में एक रैडिकल दिखने वाला विकल्प पेश कर रही है, जो कि अब पासोक में नहीं दिखायी देता है।

सिरिज़ा ने सिद्धान्ततः अपने आपको एक मास पार्टी घोषित किया है। सिरिज़ा की मीटिंगों में हिस्सेदारी कोई भी कर सकता है, यहाँ तक कि वह भी जो सदस्य नहीं है। ऐसे में, सिरिज़ा में ज़मीनी धरातल पर तरह-तरह के लोग घुस चुके हैं। एक पूरी तरह खुली हुई पार्टी के साथ जो कुछ होने की उम्मीद की जा सकती है, वह सबकुछ सिरिज़ा के साथ हो रहा है। सिरिज़ा का मानना है कि पुरानी सुधार बनाम क्रान्ति की बहस अब बेकार हो चुकी है। लेकिन वास्तव में सिरिज़ा यह कह रही है कि इस बहस में अब सुधारवाद का पक्ष विजयी हो चुका है। बस सिरिज़ा उसे 'नया क्रान्तिकारी रास्ता' करार दे रही है। सिरिज़ा ने 'यूनानी सामाजिक मंच' में भी हिस्सेदारी की थी। यह विश्व सामाजिक मंच का ही यूनानी अध्याय है। उसकी पूरी शब्दावली में वर्ग कहीं नहीं आता। सिरिज़ा की प्रिय सामाजिक श्रेणी है 'समुदाय'! इससे आप सिरिज़ा की राजनीति के एक और स्रोत को भी पकड़ सकते हैं, जो और कुछ नहीं बल्कि अस्मितावादी राजनीति है। वर्ग को एक आकृतिहीन निकाय यानी कि 'समुदाय' से प्रतिस्थापित कर दिया गया है। यह सिरिज़ा को यह घोषित करने में सहायता करता है कि वह 'पूरी जनता की पार्टी' है।

यूनान में जिन कम्युनिस्टों ने अभी भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद का झण्डा बुलन्द कर रखा है, उनका मानना है कि सिरिज़ा समझौतापरस्त है और उसमें ज़बर्दस्त दक्षिणपन्थी अवसरवादी रुझान है। वह राज्य के सवाल को उठाती ही नहीं है और पूरी तरह से संशोधनवाद के रास्ते पर चल रही है। वैसे तो सिरिज़ा के 40-बिन्दु कार्यक्रम में कोई सर्वहारा क्रान्तिकारी तत्व नहीं है, बस पूँजीवादी कल्याणवाद है, लेकिन अगर सिरिज़ा सरकार बनाती है, तो वह उतना भी लागू नहीं कर पायेगी। इसका कारण यह है कि यूनान की पूरी राज्यसत्ता बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी और फासीवादी है। यूनान में सेना का बड़ा हिस्सा बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी ताक़तों के साथ खड़ा है। पुलिस के आधे लोगों ने पिछले चुनावों में गोल्डेन डॉन को वोट दिया था। ऐसे में, हालाँकि सिरिज़ा पुलिस, फौज और नौकरशाही के लोगों से बातचीत करके उन्हें अपने पक्ष में लाने का प्रयास कर रही है, लेकिन स्पष्ट है कि सिरिज़ा का जो कार्यक्रम है, विशेष तौर पर प्रवासी मज़दूरों के प्रश्न पर, उसके कारण पुलिस और फौज़ का बड़ा हिस्सा उसके समर्थन में नहीं आयेगा। दूसरी बात यह है कि अगर बुर्जुआ वर्ग की राज्यसत्ता का ध्वंस नहीं किया जाता है, बुर्जुआ वर्ग की आर्थिक शक्ति का ध्वंस नहीं किया जाता है, सर्वहारा राज्यसत्ता और सामूहिक सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना नहीं की जाती है, तो आने वाले समय में बुर्जुआ वर्ग साम्राज्यवाद की सहायता से देश के सशस्त्र बलों, सेना, पुलिस और नौकरशाही को ख़रीद कर सिरिज़ा की भावी सरकार का तख्तापलट करेगा, जैसा कि चिली में सल्वादोर अयेन्दे की सरकार के साथ हुआ था। वह सरकार अभी समाजवादी व्यवस्था का निर्माण नहीं कर रही थी। उसने बस राष्ट्रीयकरण की कुछ नीतियों को लागू किया था, जो कि बुर्जुआ वर्ग भी कई देशों में करता है। लेकिन वह भी चिली की बुर्जुआज़ी को नागवाँर गुज़रा और अमेरिकी साम्राज्यवाद और चिली के प्रतिक्रियावादी सेना जनरलों और सेना की सहायता से चिली के बुर्जुआ वर्ग ने खूनी तख़्तापलट करवाया। जनता सशस्त्र नहीं थी, इसलिए उसका कत्लेआम किया गया और कई जगहों पर वह अयेन्दे के तख़्तापलट की निष्क्रिय तमाशबीन बनी रही।

अगर सिरिज़ा खुले तौर पर नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण की नीतियों को नहीं भी अपनाती है, और अगर वह कल्याणकारी राज्य की नीतियों को भी अपनाती है, तो ज़्यादा सम्भावना यही होगी कि साम्राज्यवादी हस्तक्षेप की सहायता से यूनान की बुर्जुआज़ी उसके ख़िलाफ़ तख़्तापलट करेगी।

अगर सिरिज़ा की सरकार अगले चुनावों में बनती है, तो राज्यसत्ता के सवाल की समझ न होने की कीमत सिरिज़ा को चुकानी पड़ेगी। इतिहास का यही सबक है। सिरिज़ा के पास दो ही रास्ते हैं: या तो वह भी पासोक की तरह खुले पूँजीवाद और ग़द्दार किस्म के सामाजिक जनवाद का रास्ता अख़्तियार करे, या फिर देशी बुर्जुआज़ी और साम्राज्यवाद के गठजोड़ के हाथों तख़्तापलट का इन्तज़ार करे। सिरिज़ा के बारे में सकारात्मक यह है कि इसका ढाँचा, इसकी कतारें और एक हद तक नेतृत्व बेहद बहुरंगी है। इसमें कई किस्म के लोग हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो राज्यसत्ता की समस्या और एक शत्रुतापूर्ण अन्तरराष्ट्रीय परिवेश में समाजवादी यूनान के अस्तित्व की समस्याओं के बारे में सोच रहे हैं। ऐसे लोगों को एक धड़े के तौर पर संगठित होकर सिप्रास के समझौतापरस्त और सामाजिक-जनवादी नेतृत्व के ख़िलाफ़ संघर्ष करना चाहिए और नये राजनीतिक विकल्प के निर्माण के बारे में सोचना चाहिए। उन्हें सिरिज़ा द्वारा पेश किये गये कार्यक्रम पर सवाल उठाना चाहिए। मिसाल के तौर पर बैंकों के राष्ट्रीयकरण से कुछ भी हासिल नहीं होने वाला है, क्योंकि बैंक पहले से ही दीवालिया हैं। कायदे से एक सही क्रान्तिकारी माँग यह बनती है कि बैंकों के 'बेल आउट' को फौरन रोका जाय; किफायतसारी की नीतियों को फौरन बन्द किया जाय; बैंकों की समस्त सम्पत्ति को ज़ब्त करके एक केन्द्रीकृत सार्वजनिक राष्ट्रीय बैंक के तहत लाया जाय; यूरोपीय संघ और यूरो से बाहर आया जाय ताकि यूनान की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को मौद्रिक लचीलापन मिल सके। इसके बिना न तो वेतन, मज़दूरी और पेंशनों का भुगतान शुरू हो सकता है, और न ही अन्य जनपक्षधर नीतियों की शुरुआत की जा सकती है, जैसे कि नि:शुल्क शिक्षा, चिकित्सा और आवास आदि। पूर्ण रोज़गार की बात पूरे कार्यक्रम में कहीं नहीं की गयी है, जबकि समस्त उत्पादक गतिविधियों में सभी नागरिकों की भागीदारी सुनिश्चित करके पूर्ण रोज़गार का वायदा किया जाना चाहिए। लेकिन सिरिज़ा के कार्यक्रम में इसके बारे में कुछ नहीं कहा गया है।

वैसे सवाल यह भी नहीं है सिरिज़ा की सारी माँगें सही हैं, या ग़लत। अगर करीबी निगाह डाली जाय तो उनके चार्टर में कई ऐसी माँगें हैं, जो कि किसी मज़दूर सत्ता द्वारा भी पूँजीवाद से समाजवाद में संक्रमण के दौर में अपनायी जा सकती हैं। मिसाल के तौर पर, सोवियत रूस में क्रान्ति के बाद के शुरुआती आठ माह में सोवियत सरकार ने कुछ ऐसे ही कदमों को उठाया था, जिनकी बात एक हद तक सिरिज़ा के कार्यक्रम में की गयी है; मार्क्सवादी-लेनिनवादी भी क्रान्ति के तुरन्त बाद एक झटके में समाजवाद को स्थापित कर देने की बात नहीं करते हैं। सबसे पहला काम सर्वहारा अधिनायकत्व का सुदृढ़ीकरण और जनता के मेहनतकश हिस्सों की सबसे गम्भीर और तकलीफ़देह दिक्कतों का फौरी समाधान होता है। लेकिन यह काम भी बुर्जुआ संसदवाद के ज़रिये बनी किसी कल्याणकारी सुधारवादी सरकार के बूते की बात नहीं है। यह 1917 में भी असम्भव था, और आज के भूमण्डलीकृत दुनिया में किसी एक देश में बिना समाजवादी क्रान्ति के किसी भी प्रगतिशील कल्याणकारी सरकार के लिए यह और भी ज़्यादा असम्भव और कल्पना से परे है।

निष्कर्ष: समाजवाद या बर्बरता! तीसरा कोई रास्ता नहीं है!

हम साफ़ तौर पर देख सकते हैं कि सिरिज़ा कुल मिलाकर अन्ततः एक रैडिकल सुधारवादी पार्टी है, जिसके जुमलों पर मार्क्सवाद की छाया है। एक तरीके से वह एक नव-सामाजिक जनवाद का प्रतिनिधित्व कर रही है। यह सच है कि सिरिज़ा की कतारों में कई गम्भीर कम्युनिस्ट भी खड़े हैं। लेकिन वे भी समझ रहे हैं कि सिरिज़ा के अन्दर दक्षिणपन्थी रुझान मौजूद है, जो भविष्य में इसे यूनान का नया पासोक बना सकती है। अभी से ही इस ख़तरे के कुछ लक्षण दिखलायी पड़ने लगे हैं, जैसे कि सिप्रास द्वारा विश्व पूँजीवाद के चौधरियों के दिये गये आश्वासन। कुल मिलाकर, सिरिज़ा यूनान में किसी कम्युनिस्ट सत्ता और समाजवाद की स्थापना नहीं करने वाली है। उसकी कतारों का एक हिस्सा रैडिकल सुधारवाद और समाजवाद के बीच झूल ज़रूर रहा है। लेकिन बड़ा हिस्सा एक सुधारवादी कल्याणवाद के कार्यक्रम पर सहमत है और अगर सिरिज़ा चुनाव जीतती है तो वह इसी यूटोपियाई सामाजिक जनवाद के कार्यक्रम पर अमल करने का असफल प्रयास करेगी, जिस पर इतिहास अपने दरवाज़े बन्द कर चुका है। इसका नतीजा या तो तख़्तापलट, सिरिज़ा का दमन और फिर नवनात्सियों के यूनान में उभार के तौर पर सामने आयेगा, या फिर सिरिज़ा स्वयं खुले सामाजिक जनवाद के पदचिन्हों पर चलते हुए अन्ततः प्रकारान्तर से नवउदारवादी भूमण्डलीकरण की नीतियों को अपना लेगी और विश्व पूँजीवाद की ऐसी सेवक बन जायेगी, जो कि यूरोप के अन्य सामाजिक जनवादियों से ज़्यादा भरोसेमन्द होगी।

लेकिन उस सूरत में यूनान जिस संकट के भँवर में फँसा हुआ है, उसमें और गहराई से फँसता जायेगा। अभी के हालात ही बता रहे हैं कि जनता का असन्तोष पहले से ही फूट पड़ने के बिन्दु की तरफ़ बढ़ रहा है। ऐसे में, अगर कोई क्रान्तिकारी विकल्प नहीं खड़ा होता है, जो कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के उसूलों को अपनाते हुए मज़दूर क्रान्ति की तरफ़ जाने के लिए जनता को तैयार करे और उसे नेतृत्व दे, तो फिर क्रान्ति की घड़ी बीत जायेगी। क्रान्तिकारी स्थिति हमेशा क्रान्तिकारी नेतृत्व और संगठन के खड़े होने का इन्तज़ार नहीं करेगी। हर पूँजीवादी संकट हमेशा की तरह यूनान में भी प्रतिक्रियावादी और क्रान्तिकारी, दोनों ही सम्भावनाओं को जन्म दे रहा है। अगर क्रान्तिकारी ताक़तें अपनी सम्भावना को हक़ीकत में तब्दील करने में नाकाम रहीं, तो यह काम प्रतिक्रियावादी ताक़तें करेंगी और यूनान की जनता को फासीवाद की सज़ा भुगतनी पड़ेगी। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की राज्यसत्ता और क्रान्ति के सम्बन्ध में स्थापित और सिद्ध शिक्षा पर अमल न करने की सज़ा इतिहास में पहले भी यूरोपीय जनता भोग चुकी है, और एक बार फिर इस बात की सम्भावना पैदा हो रही है। सिरिज़ा की असफलता यूनान के इतिहास में वही भूमिका निभायेगी, जो कि जर्मन सामाजिक जनवादियों की असफलता ने 1920 और 1930 के दशक में जर्मनी में निभायी थी। इसलिए यूनान में मौजूद मार्क्सवादी लेनिनवादी ताक़तों को संगठित होना होगा और अपने आपको विकल्प के तौर पर जनता के सामने पेश करना होगा।

(27.2.13)

दिल्ली सामूहिक बलात्कार काण्ड, जस्टिस वर्मा समिति की रिपोर्ट और सरकार का अपराध कानून (संशोधन) अध्यादेश, 2013

● कात्यायनी

16 दिसम्बर 2012 की रात दिल्ली में एक चलती चार्टर्ड बस में एक 23 वर्षीय पैरामेडिकल छात्रा के साथ हुए बर्बर सामूहिक बलात्कार और उसके बाद मृत्यु से लम्बे संघर्ष के बाद उस छात्रा की मृत्यु ने पूरे देश की अन्तरात्मा को झकझोर कर रख दिया था। इस घटना के तुरन्त बाद से ही छात्रों-युवाओं, स्त्रियों, मज़दूर संगठनों और न्यायप्रिय नागरिकों ने सड़कों पर उतरकर अपने गुस्से का इज़हार करना शुरू किया, जो आने वाले एक-डेढ़ महीने तक लगातार जारी रहा। जो लोग इस बर्बर घटना के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरे, उनमें से तमाम इस काण्ड के अपराधियों के ख़िलाफ़ मृत्यु दण्ड की माँग कर रहे थे, कुछ अन्य रासायनिक या शल्य-क्रिया द्वारा अपराधियों को बधिया कर देने की माँग कर रहे थे। देश के तमाम क्रान्तिकारी संगठनों और बुद्धिजीवियों ने इस तथ्य की ओर देश का ध्यानाकर्षित किया कि बढ़ते स्त्री-विरोधी अपराधों और विशेष तौर पर बलात्कार की घटनाओं के लिए समूचा पूँजीवादी पितृसत्तात्मक सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक ढाँचा ज़िम्मेदार है। मौजूद व्यवस्था ने ही समाज और राजनीति में ऐसे तत्वों, ऐसी मानसिकता और संस्कृति को जन्म दिया है जो ऐसे अपराधों को अंजाम दे रहे हैं। 1990 के दशक से पहले और 1990 के दशक के बाद से स्त्री-विरोधी अपराधों की संख्या में एक गुणात्मक परिवर्तन आया है। नयी आर्थिक नीतियों की शुरुआत

के बाद से ही देश में एक नवधनाढ्य वर्ग अस्तित्व में आया है, जिसमें ठेकेदारों, ट्रांसपोर्टरों, प्रापर्टी डीलर, शेयर मार्केट के दलाल, आई.टी. सेक्टर में काम करने वाला एक लम्पट मध्यम वर्ग, धनी किसान और कुलकों का वर्ग और व्यापारिक पेशों में लगा हुआ एक व्यापारिक टटपुँजिया वर्ग शामिल है। यही वह वर्ग है जो कि कारपोरेट कम्पनियों के बाद नयी आर्थिक नीतियों का सबसे बड़ा लाभप्राप्तकर्ता है। इस वर्ग के पास अचानक ढेर सारा पैसा आ गया है। वह कार, घर, टी.वी., तमाम इलेक्ट्रॉनिक गैजेटों से लेकर जीवन की हर भौतिक सुख-सुविधा को ख़रीद सकता है। इस वर्ग के अन्दर किसी भी कीमत पर सबकुछ हासिल कर लेने की हवस सबसे ज़्यादा है। इस हवस की ज़द में अब न सिर्फ़ वस्तुएँ हैं, बल्कि इंसान भी आ गये हैं। चाहे वह कुख्यात निठारी काण्ड हो या फिर 16 दिसम्बर की घटना, ऐसी तमाम घटनाएँ वास्तव में इस वर्ग की आपराधिक हो चुकी हवस को ही प्रतिबिम्बित कर रहीं हैं।

दूसरी तरफ़ पूँजीवादी कारपोरेट मीडिया इस अन्धी हवस की संस्कृति को खाद-पानी देने का काम व्यवस्थित रूप से कर रहा है। हनी सिंह जैसे अपराधी और स्त्री-विरोधी मानसिकता के गायकों से लेकर स्त्री-विरोधी फिल्मों और संगीत का पूरे समाज में अद्वितीय फैलाव हुआ है। सामन्ती युग में स्त्रियाँ भोग की वस्तु थीं, जिनका भोग पुरुष अपने दिव्य रूप से प्रदत्त अधिकार के तहत कर सकता था। औरतों की इस गुलामी को पूँजीवादी व्यवस्था और समाज ने अपने हिसाब से सहयोजित किया है। अब औरत महज़ भोग की वस्तु नहीं रह गयी है, बल्कि उपभोग और विनिमय की वस्तु या माल में तब्दील कर दी गयी है। इस पूँजीवादी मालकरण ने औरतों को वस्तुओं में भी निकृष्टतम कोटि की वस्तु बना दिया है। 16 दिसम्बर की घटना से पहले भी हरियाणा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में बलात्कार और विशेषकर सामूहिक बलात्कार की घटनाओं में ज़बर्दस्त वृद्धि हुई थी और 16 दिसम्बर के बाद भी पूरे देश से ऐसी घटनाओं की ख़बरों में कमी आने की बजाय बढ़ोत्तरी ही दर्ज़ की गयी है। यह दिखला रहा है कि समाज का यह खाता-पीता लम्पट मध्यवर्ग किसी भी प्रकार के नपुंसक विरोध प्रदर्शनों से रुकने वाला नहीं है। न तो कोई नया कानून इसे रोक सकता है और न ही नसीहतें और नैतिकीकरण की मुहिमें।

तीसरी चीज़ जो इस पूरे स्त्री-विरोधी परिवेश और मानसिकता को बढ़ावा दे रही है वह स्वयं इस देश के बुर्जुआ शासक वर्ग के तमाम हिस्सों के दिमाग़ में भरी हुई सड़ाँध, जो कि इस घटना के बाद किसी संक्रमित हो चुके फोड़े से निकल पड़ने वाली पीप के समान फूटकर बाहर आ गयी। चाहे वह प्रणब मुखर्जी के बेटे की 'डेण्टेड पेण्टेड औरतों' वाली टिप्पणी हो या फिर अपराधी धार्मिक बाबा आसाराम बापू का यह बयान हो कि उस लड़की को अपने बलात्कारियों से संघर्ष नहीं करना चाहिए था, बल्कि उन्हें 'भइया' कहकर रहम की भीख माँगनी चाहिए थी! शरद यादव, ममता बनर्जी समेत लगभग सभी पार्टियों के नेताओं ने औरतों को नैतिकता और संयम की नसीहतें जारी कर दीं और अपने असली रंग दिखला दिये! वहीं 'तहलका' पत्रिका के एक स्टिंग ऑपरेशन ने दिखलाया कि दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र की पुलिस और नौकरशाही का यह मानना है कि औरतें स्वयं बलात्कारों की ज़िम्मेदार हैं! किसी का कहना था कि औरतें स्वयं ऐसी स्थितियों को छोटे कपड़े पहनकर और अपने पुरुष मित्रों के साथ बाहर निकलकर आमन्त्रण देती हैं, तो दूसरों का कहना था कि औरतों ने इसे एक व्यवसाय बना लिया है। जिन अमानवीकृत अपराधियों को 16 दिसम्बर के बलात्कार काण्ड के सिलसिले में गिरफ्तार किया गया, उनके बचाव

पक्ष के वकील ने यह दलील दी कि उसने आज तक ऐसी किसी भी "इज़्ज़तदार" महिला के बारे में नहीं सुना है, जिसका बलात्कार हुआ हो! ऐसे तमाम बयानों से क्या सामने आता है? ऐसे बयानों से इस देश के शासक वर्गों और उनके पिछलग्गुओं की पूरी सड़ी हुई और बदबू मारती हुई मानसिकता सामने आती है। जब देश की संसद में 26 बलात्कार के और दर्ज़नों अन्य स्त्री-विरोधी अपराधों के आरोपी बैठे हों, जब पुलिस थानों में बलात्कार हो रहा हो, और जब सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम और अशान्त क्षेत्र अधिनियम के तहत आने वाले प्रदेशों में बिना किसी सज़ा के डर के सेना उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं की स्त्रियों का बलात्कार कर रही हो, जब हरियाणा, राजस्थान, बिहार और उत्तर प्रदेश में दबंग उच्च जातियों के अपराधी दलित महिलाओं का बलात्कार कर रहे हों तो फिर आप इस पूरी दमनकारी, उत्पीड़नकारी और शोषक पूँजीवादी व्यवस्था से स्त्री-विरोधी अपराधों के ख़िलाफ़ कोई कदम उठाने की उम्मीद कैसे कर सकते हैं? आप ऐसी कोई नादान आशा कैसे पाल सकते हैं कि यह बुर्जुआ वर्ग और उसकी राज्य मशीनरी स्त्री-विरोधी अपराधों पर कोई निर्णायक कदम उठायेगी?

ज़्यादा से ज़्यादा यह व्यवस्था क्या कर सकती है? जी हाँ, यह कोई समिति या आयोग बिठा सकती है। पिछले कुछ समयों में तमाम सरकारी समितियों और आयोगों ने वैसी ही रपटें और अनुशंसाएँ तैयार की हैं, जिनसे कि शासक वर्गों को कोई असुविधा न हो। इस मामले में यह मानना होगा कि जस्टिस वर्मा समिति की रपट कई मायनों में भिन्न है। इसने जो रिपोर्ट तैयार की है वह राज्यसत्ता और सरकार से स्वायत्त रहते हुए की है और इसने कई असुविधाजनक सवाल सरकार के सामने खड़े किये हैं। लेकिन इसके बावजूद इस समिति की रपट आने के बाद सरकार ने 3 फरवरी 2013 को जो अध्यादेश राष्ट्रपति से पास करवाया है, उसने इस रपट की सबसे केन्द्रीय और रैडिकल अनुशंसाओं पर साज़िशाना चुप्पी साध रखी है। वास्तव में, यह अध्यादेश स्त्री-विरोधी है और स्त्री-विरोधी ताक़तों के हाथ मज़बूत करता है।

सरकार ने जनान्दोलनों और व्यापक स्वत:स्फूर्त जन प्रतिरोध के कारण 16 दिसम्बर की घटना के बाद जस्टिस जे.एस. वर्मा के नेतृत्व में एक समिति बनायी जिसके सदस्यों में जस्टिस लीला सेठ और वरिष्ठ अधिवक्ता गोपाल सुब्रमन्यम भी शामिल थे। इस समिति ने ठीक एक माह में ही अपनी रिपोर्ट बनाकर सरकार को सौंप दी, जो कि एक रिकॉर्ड है। और यह रिकॉर्ड इस मायने में भी ग़ौरतलब है कि यह रिपोर्ट 631 पेजों की है, जिनमें आँकड़ों की तालिकाओं में बिरले ही कुछ पन्ने ख़र्च हुए हैं। कई मामलों में यह रिपोर्ट सरकारी समितियों द्वारा पेश की गयी रिपोर्टों में सबसे रैडिकल रिपोर्टों में गिनी जायेगी। इस रिपोर्ट की सबसे बड़ी ख़ासियत यह है कि यह सिर्फ इस सवाल तक सीमित नहीं रही है कि स्त्री-विरोधी विभिन्न अपराधों के लिए कैसी और कितनी सज़ा होनी चाहिए। यह रिपोर्ट बढ़ते स्त्री विरोधी अपराधों सामाजिक मूलों तक जाने का प्रयास करती है और साथ ही कानून व्यवस्था और संविधान के भीतर भी स्त्रियों के प्रति जो इरादतन या ग़ैर-इरादतन पूर्वाग्रह भरे हुए हैं, उनका अतिक्रमण करने का प्रयास करती है। इस मायने में निश्चित तौर पर इस रिपोर्ट का चरित्र प्रगतिशील है। लेकिन साथ ही इस रिपोर्ट का स्वर बुर्जुआ नारीवाद के उदारतावाद के साथ भी मेल खाता है। इस रिपोर्ट ने फाँसी की सज़ा का विरोध किया है और इसे अनुत्पादक और कई मामलों में अन्यायपूर्ण बताया है। इसके पीछे रिपोर्ट

में जो प्रमुख तर्क दिये गये हैं, वह इस समिति ने तमाम नारीवादी संगठनों से बातचीत करके अपनाये हैं। और ये तर्क वही हैं जो कि मृत्युदण्ड के सवाल पर वर्ग निरपेक्ष बुर्जुआ मानवतावाद लम्बे समय तक देता रहा है। लेकिन एक तर्क इस रिपोर्ट ने और भी रखा है जो कि विचारणीय है। वह तर्क यह है कि अगर बलात्कार के ऐसे अपराधों के लिए, जिसमें कि पीड़िता की मौत हो जाती है, फाँसी की सज़ा निर्धारित की जाती है, तो दोषसिद्धि की दर जो कि पहले ही बहुत दयनीय है, वह और भी ख़राब हो जायेगी। हम कह नहीं सकते कि इस तर्क में कितना दम है, लेकिन इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि फिलहाल अगर बलात्कार के 'दुर्लभ में भी दुर्लभतम' मामलों में फाँसी की सज़ा तय कर भी दी जाये (जो कि निश्चित तौर पर की जा सकती है, बल्कि की जानी चाहिए और इसमें हमारा कोई भी बुर्जुआ मानवतावादी पूर्वाग्रह नहीं है) तो मुख्य सवाल इस बात का है, कि जिस राज्य मशीनरी (न्यायिक और कार्यकारी) को यह कानून लागू करना होगा, वह अधिकांश मामलों में क्या दोषसिद्धि कर भी पायेगा? वर्तमान स्थिति यह है कि बलात्कार के मामलों में मात्र 26 प्रतिशत में दोषसिद्धि हो पाती है। इसके लिए हमारी पूरी न्यायिक और विधिक व्यवस्था ज़िम्मेदार है। इस व्यवस्था में स्त्री-विरोधी पूर्वाग्रह गहरे तक जड़ जमाये हुए हैं। जहाँ तक पुलिस, सेना और नौकरशाही की बात है, तो हम जानते हैं कि इसमें बड़ी आबादी भी भयंकर पुरुषवादी मानसिकता वाले लोग भरे हुए हैं, जो पहले से ही हर स्त्री-विरोधी अपराध में औरत को ज़िम्मेदार मानकर चलते हैं। और न्यायपालिका की हालत भी कोई बड़ी अच्छी नहीं है। अगर भँवरी देवी मामले को याद करें तो हम पाते हैं कि न्यायालय ने यह कह कर आरोपियों को बरी कर दिया था कि उच्च जाति के पुरुष निम्न जाति की महिला के साथ बलात्कार कर ही नहीं सकते क्योंकि यह उनकी शुद्धता की अवधारणाओं के ख़िलाफ़ है! वहीं मथुरा केस में न्यायालय ने एक दलित स्त्री का थाने में सामूहिक बलात्कार करने वाले पुलिसवालों को यह कहकर बरी कर दिया था, कि यह दलित महिला पहले से यौन सम्बन्ध स्थापित करने की आदी है और उसका बलात्कार हो ही नहीं सकता है! इसमें यह निहित है कि यदि कोई युवती यौनिक तौर पर सक्रिय है तो उसका बलात्कार नहीं हो सकता। उसका हर यौन सम्बन्ध सहमति से बनाया हुआ यौन सम्बन्ध माना जायेगा। यही बात कानून के इस वाक्यांश में निहित है जो कहता है 'औरत के सतीत्व (मॉडेस्टी) का हरण करना'! इसके अनुसार, यदि कोई औरत जो कि शादीशुदा नहीं है, और यौनिक तौर पर सक्रिय है, तो उसका कभी बलात्कार नहीं हो सकता! यह सोच सीधे-सीधे पूरी कानून व्यवस्था को स्त्रियों के ख़िलाफ़ खड़ा कर देती है। यह स्त्रियों को अपने शरीर पर हक़ नहीं देती और उसे यह तय करने का अधिकार नहीं देती कि वह किसे अपने साथी के तौर पर चुने या किसके साथ सहवास करे। यह अधिकार सिर्फ़ पुरुष को दिया जाता है।

जस्टिस वर्मा समिति की रिपोर्ट इस अन्तर्निहित अवधारणा पर चोट करती है, जब वह कहती है कि खाप पंचायतों और इसी प्रकार की नैतिक पुलिसिंग करने वाली जातिगत व अन्य प्रकार की संस्थाओं को व्यक्तियों द्वारा, चाहे वह स्त्री हों या पुरुष, अपने जीवन-साथी का चुनाव करने के अधिकार में कोई हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। साथ ही समिति की रिपोर्ट कहती है कि यह सरकार की ज़िम्मेदारी है कि वह व्यक्तियों के इस अधिकार को सुनिश्चित करे और यह सुनिश्चित करे कि कोई भी समुदाय, जाति,

धर्म आदि की परम्पराओं का हवाला देकर इन अधिकारों का हनन न करे। लेकिन इस रिपोर्ट के आने के बाद सरकार ने जो अध्यादेश पास किया है, जिस पर कि 3 फरवरी को राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने हस्ताक्षर किये, उसमें खाप पंचायतों के कुकर्मों पर रोक लगाने के लिए कोई प्रावधान नहीं किया गया है। उल्टे इस अध्यादेश में एक ऐसी बात कही गयी है, जो कि खाप पंचायतों और तमाम नैतिक पुलिसिंग करने वाली संस्थाओं के हाथ कानूनी तौर पर मज़बूत करती है। इस अध्यादेश में वयस्कों और अवयस्कों के ख़िलाफ़ किये जाने वाले यौन अपराधों के बीच का फर्क समाप्त कर दिया गया है। ग़ौरतलब है कि अवयस्कों के साथ बनाया जाने वाला कोई भी यौन सम्बन्ध सहमति से बनाया गया यौन सम्बन्ध नहीं माना जाता है। लेकिन अगर इसी तर्क को वयस्कों के ऊपर लागू कर दिया जाता है तो अगर कोई दो युवा अपनी सहमति से यौन सम्बन्ध बनाते हैं तो उसे भी यौन अपराध के दायरे में लाया जा सकता है, कम-से-कम तकनीकी तौर पर। ऐसे में, यह कानून एक ऐसा गैप छोड़ देता है जिसका इस्तेमाल निश्चित तौर पर समाज की प्रतिक्रियावादी ताक़तें करेंगी, और विशेष तौर पर इसका इस्तेमाल युवाओं द्वारा अपने यौन और वैवाहिक साथियों को चुनने के अधिकार पर हमला करने के लिए किया जायेगा।

इस समिति के प्रस्तावों में जो एक अन्य सकारात्मक प्रस्ताव है, वह है कुछ दमनकारी कानूनों को लेकर। विशेष तौर पर समिति की रिपोर्ट सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून, अशान्त क्षेत्र कानून आदि को लेकर अपनी चिन्ता प्रकट करती है। इन कानूनों के अनुसार कश्मीर, छत्तीसगढ़ और उत्तर-पूर्व के राज्यों में सशस्त्र बलों के ख़िलाफ़ दण्डात्मक कार्रवाई नहीं हो पाती है। नतीजतन, सशस्त्र बल के जवान इन इलाकों की जनजातीय और दमित राष्ट्रीयताओं की स्त्रियों के साथ मनचाहा बर्ताव करने को आज़ाद होते हैं, और उन्हें सज़ा का भी कोई डर नहीं होता है। कश्मीर के कुनान पोशपुरा का सामूहिक बलात्कार काण्ड हो या मणिपुर में मनोरमा बलात्कार काण्ड, बार-बार सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून का जनद्रोही, जनविरोधी और दमनकारी चरित्र सामने आ चुका है। इसके बावजूद सरकार ने इस कानून को वापस लेने या रद्द करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया है। कभी इसके लिए सेना की असहमति का हवाला दिया जाता है तो कभी राष्ट्र की सुरक्षा का वास्ता दिया जाता है। नये अध्यादेश में भी सरकार ने जस्टिस वर्मा समिति द्वारा इन दमनकारी कानूनों को वापस लिये जाने और उन पर पुनर्विचार की सिफ़ारिश के बावजूद सरकार ने उसे पूरी तरह से नज़रअन्दाज़ कर दिया है। जस्टिस वर्मा समिति की रिपोर्ट सरकार को चेतावनी देती है कि अगर सरकार इन मसलों पर और विशेष तौर पर स्त्री-विरोधी अपराधों के मसले पर राजनीतिक घमण्ड और अहंकार के साथ प्रतिक्रिया देती है, तो आने वाले समय में पूरे राजनीतिक वर्ग से जनता की रही-सही आस्था भी ख़त्म हो जायेगी और इसका ख़ामियाज़ा जल्द ही व्यवस्था को भुगतना पड़ सकता है।

लेकिन कांग्रेस-नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार ने इस समस्या का अच्छा समाधान ढूँढा है। उसने जस्टिस वर्मा समिति की अहम सिफ़ारिशों पर कोई ख़ास ध्यान नहीं दिया है, और अध्यादेश में ऐसे तमाम प्रावधान रखे हैं जो बारीकी में स्त्रियों की स्थिति को और कमज़ोर बनाने का काम करते हैं और साथ ही साथ स्त्री-विरोधी ताक़तों को मज़बूत बनाने का काम करते हैं। लेकिन साथ में सरकार ने 16 दिसम्बर की घटना के बाद आम जनसमुदायों द्वारा बलात्कार के लिए फाँसी की सज़ा निर्धारित किये जाने की माँग के जवाब

में अध्यादेश में यह प्रावधान रखा है कि बलात्कार के जिन मामलों में पीड़िता की मौत हो जाती है, उनमें अधिकतम सज़ा फाँसी होगी। 16 दिसम्बर की घटना के तुरन्त बाद जस्टिस वर्मा समिति को नियुक्त करने और समिति की रिपोर्ट आने के तुरन्त बाद अध्यादेश को पेश करने के पीछे सरकार का मुख्य सरोकार था 2014 के आम चुनावों के लिए अपने रिकॉर्ड में एक उपलब्धि को जोड़ लेना, कि उसने बलात्कार और हत्या के अपराध के लिए नये अध्यादेश में फाँसी की सज़ा निर्धारित की है। लेकिन, वास्तव में इस सज़ा का कोई विशेष अर्थ नहीं होगा, जब तक कि मौजूद पूँजीवादी पितृसत्तात्मक शासन-व्यवस्था कायम है क्योंकि इस व्यवस्था के तहत दोषसिद्धि की दर कभी भी सन्तोषजनक नहीं हो सकती है। चाहे इसके लिए कितने ही फास्ट ट्रैक कोर्ट क्यों न बना दियें जायें। निश्चित तौर पर, स्त्री विरोधी अपराधों के मसलों के लिए फास्ट ट्रैक कोर्ट बनाने का कोई विरोध नहीं करेगा और निस्सन्देह इनकी ज़रूरत है। लेकिन इससे समस्या का स्थायी समाधान सम्भव नहीं है।

जस्टिस वर्मा समिति इस बात की भी सिफ़ारिश करती है कि अगर कहीं पर सेना या पुलिस के जवान स्त्री-विरोधी अपराध करते हैं और वे सज़ा से बच जाते हैं, तो उनके ऊपर मौजूद सिविल अधिकारी उसके लिए ज़िम्मेदार ठहराया जाय। समिति के इस प्रस्ताव पर भी सरकार का अध्यादेश शान्त है। समिति की रिपोर्ट कहती है कि विभिन्न प्रकार के यौनिक अपराधों में फर्क किया जाना चाहिए, जैसे कि स्त्रियों के ख़िलाफ़ किये जाने वाले यौन अपराध, पुरुषों के ख़िलाफ़ यौन अपराध, किन्नरों और ट्रांसजेण्डरों के ख़िलाफ़ किये जाने वाले यौन अपराध, और बच्चों के ख़िलाफ़ किये जाने वाले यौन अपराध। दूसरी बात यह कि समिति के अनुसार 'बलात्कार' शब्द के प्रयोग को छोड़ा नहीं जाना चाहिए, हालाँकि इसकी परिभाषा को और व्यापक बनाया जा सकता है। लेकिन सरकार ने जो अध्यादेश पेश किया है वह इन सभी सरोकारों की उपेक्षा करते हुए एक ओर तो यौन अपराधों में अपराधी को विशिष्ट तौर पर अलग-अलग मामलों में पुरुष या स्त्री के तौर पर चिन्हित नहीं करता और अपराधी को 'व्यक्ति' के तौर पर देखता है। सैद्धान्तिक तौर पर यह मानता है कि औरत भी बलात्कार कर सकती है! निश्चित तौर ऐसा हो भी सकता है, लेकिन अगर अलग-अलग मामलों में फर्क नहीं किया जायेगा तो यह एक ऐसी सामान्यता बन जायेगी, जिसका इस्तेमाल सभी बलात्कारी करेंगे। क्योंकि फिर जब भी कोई औरत बलात्कार की रपट दर्ज़ करायेगी तो अपराध करने वाला पुरुष उल्टे उस पर बलात्कार का आरोप लगायेगा। यह सामाजिक यथार्थ को सैद्धान्तिक सम्भावनाओं के नाम पर पलट देने का काम करता है और स्त्री-विरोधी अपराधों के मामलों में स्त्रियों के पक्ष को कमज़ोर करता है। सरकार ने अपने अध्यादेश में 'बलात्कार' शब्द की जगह 'यौनिक हिंसा' शब्द को अपनाया है, जबकि जस्टिस वर्मा समिति ने इस पक्ष में ठोस तर्क पेश किये थे कि 'बलात्कार' शब्द को कानून में बनाये रखने की क्या प्रासंगिकता है।

जस्टिस वर्मा समिति की इस अनुशंसा पर बहस हो सकती है कि फाँसी की सज़ा नहीं दी जानी चाहिए। इसके पक्ष में आम तौर पर तीन तर्क किये जाते हैं। एक, हर मानव जीवन कीमती होता है। इसके जवाब में यह कहा जा सकता है कि जिन अपराधियों ने मानव होने की बुनियादी शर्तों को भी खो दिया है, जैसे कि 16 दिसम्बर के अपराधी, उनके बारे में "मानवीय जीवन के मूल्य" की बात करना ही बेकार है। दूसरा तर्क यह है कि कानून का मकसद सुधार करना होना चाहिए, बदला लेना नहीं। लेकिन ऐसे

अपवादस्वरूप मामलों में सवाल सुधारने या बदला लेने का नहीं रहता। ऐसे बर्बर अमानवीकृत लोगों की न तो मानव समाज के लिए कोई उपयोगिता रह जाती है, और न ही पशु जगत के लिए। वास्तव में, जो इन अपराधियों ने किया था वह तो पशु भी नहीं करते हैं। तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि मौत की सज़ा देने से बलात्कार के मामलों में दोषसिद्धि की दर घट जायेगी। यह तर्क भी किसी ठोस ज़मीन पर नहीं खड़ा है, क्योंकि दोषसिद्धि न हो पाने का रिश्ता सीधे तौर पर इस बात से नहीं है कि सज़ा क्या है। यह एक बहस का मुद्दा है कि बलात्कार के मसले में, और ख़ास तौर पर उन मसलों में जिनमें पीड़िता की मौत हो जाती है, या वह जीवन भर के लिए हर प्रकार से निष्क्रिय हो जाती है, मौत की सज़ा दी जाये या नहीं। लेकिन एक बात तय है कि किसी निरपेक्षतावादी परिप्रेक्ष्य से मौत की सज़ा का सैद्धान्तिक विरोध व्यर्थ और हानिकारक है। और निश्चित तौर पर इस बात पर विचार किया जाना चाहिए कि बर्बरता और जघन्यता के ऐसे दुर्लभतम मामलों में मौत की सज़ा के विकल्प को ख़ारिज न किया जाय। जस्टिस वर्मा समिति ने इसे बुर्जुआ मानवतावादी ज़मीन से ख़ारिज कर दिया है।

जस्टिस वर्मा समिति विभिन्न प्रकार के स्त्री-विरोधी अपराधों के लिए अलग-अलग सज़ाओं का निर्धारण करती है जैसे कि पीछा करने और परेशान करने के लिए कम-से-कम एक वर्ष और अधिक से अधिक तीन वर्ष, दर्शनरति के लिए जुर्माने के साथ 1 से 3 वर्ष और बिना जुर्माने के 3 से 7 वर्ष, निर्वस्त्र करने के लिए 3 से 7 वर्ष, तेज़ाब से हमला करने के लिए 5 से 7 वर्ष और पीड़िता को मुआवज़ा देना, आदि। लेकिन सरकार के अध्यादेश में अलग-अलग अपराधों की विशिष्टता और उनके लिए अलग-अलग दण्डों का विस्तृत रूप से प्रावधान नहीं किया है। सही कहें तो सरकार ने अपना अध्यादेश तैयार करने में जस्टिस वर्मा समिति की रिपोर्ट पर बहुत कम ध्यान दिया है और कुछ मसलों पर तो एक षड्यन्त्रकारी चुप्पी साध रखी है, जैसे कि सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून। इसी से सरकार के असली इरादों के बारे में काफी-कुछ पता चलता है।

16 दिसम्बर के बाद आनन-फानन में जस्टिस वर्मा समिति का निर्माण और उसकी रिपोर्ट आने के बाद उतनी ही आनन-फानन में नये अध्यादेश को लाने में कांग्रेस का प्रमुख लक्ष्य यह था कि दिल्ली में हुई बर्बर घटना के विरोध में जनता का जो रोष भयंकर तरीके से सड़कों पर फूटा उसे सहयोजित कर लिया जाय और यह दिखा दिया जाय कि सरकार जनता की भावनाओं का कितना ख़याल करती है। यही कारण है कि सरकारी अध्यादेश में बलात्कार के उन मामलों के लिए अधिकतम सज़ा के तौर पर फाँसी की सज़ा का प्रावधान किया गया है। ऐसा इसलिए नहीं है कि सरकार बलात्कार के आरोपियों (जिनमें आम तौर पर नवधनाढ्य वर्ग के लम्पट, नेता-मन्त्री, नौकरशाह, व सेना तथा पुलिस के लोग होते हैं) के प्रति उतनी ही घृणा से भरी हुई है, जितनी कि आम जनता। क्योंकि ऐसा होता तो सरकार को सबसे पहले अपने ही नेताओं-मन्त्रियों और नौकरशाहों को अक्सर उम्रकैद या फाँसी की सज़ा देनी पड़ जायेगी! ऐसा सिर्फ़ इसलिए है कि सरकार को 2014 के आम चुनावों में पेश करने के लिए एक चमकता-दमकता रिपोर्ट कार्ड चाहिए। इस रिपोर्ट कार्ड में दर्ज़ करने के लिए सरकार के पास और तो कुछ है नहीं। इसलिए उसे कुछ लोकरंजक कदम उठाने ही थे। चाहे वह मध्यवर्ग के "राष्ट्रवाद" को तुष्ट करने के लिए अफज़ल गुरू को गोपनीय तरीके से फाँसी दे देने का प्रश्न हो या फिर आनन-फानन में अपराधी

कानून (संशोधन) अध्यादेश को पास कराने का मसला हो; कांग्रेस-नीत संप्रग सरकार का कोई जनसरोकार इसके पीछे नहीं है। यह शुद्ध रूप से चुनावी कवायद है और चुनावी राजनीतिक सरोकारों से उठाये गये कूटनीतिक कदम हैं।

चूँकि यह पूरा अध्यादेश स्त्री-विरोधी अपराधों के प्रश्न पर किसी संवेदनशीलता या राजनीतिक ईमानदारी से बना ही नहीं है, इसलिए इससे यह उम्मीद करना भी व्यर्थ है कि यह समस्याओं का कोई समाधान प्रस्तुत करेगा। वास्तव में, यह पूरी व्यवस्था ही स्त्री-प्रश्न का कोई समाधान पेश नहीं कर सकती है। स्त्री-प्रश्न के समाधान के लिए इस समूची पूँजीवादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था की सीमा का अतिक्रमण करते हुए सोचने की आवश्यकता है। अधिकारों के विमर्श में कैद और सीमित रहने की बजाय इस सीमा का तोड़ कर मुक्ति की परियोजना के बारे में गम्भीरता से सोचने की ज़रूरत है।

अफज़ल गुरू को फाँसी: बुर्जुआ "राष्ट्र" के सामूहिक अन्तःकरण की तुष्टि के लिए न्याय को तिलांजलि

● शिवानी

गत 9 फरवरी को सुबह अफज़ल गुरू को आख़िरकार दिल्ली की तिहाड़ जेल में फाँसी दे दी गयी। 13 दिसम्बर 2001 को संसद भवन पर हुए हमले के मामले में बतौर षड्यन्त्रकारी उसे "दोषी" पाया गया था। अफज़ल गुरू की फाँसी कई सवालों को जन्म देती है। और 9 फरवरी के बाद से ही इस मुद्दे पर बहस जारी है–क्या वाकई अफज़ल संसद भवन पर हमले की कार्रवाई में किसी भी रूप में शामिल था? क्या उसका मुकदमा बुर्जुआ न्याय के सिद्धान्तों की कसौटी पर भी खरा उतरता है? कांग्रेस-नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार ने उसे फाँसी देने का वक्त अभी ही क्यों चुना? फाँसी की सूचना को आख़िरी वक्त तक गोपनीय क्यों रखा गया? ये सभी मुद्दे तो उठे ही, साथ ही कुछ वृहद सैद्धान्तिक-दार्शनिक प्रश्न भी उठाये गये। क्या मृत्युदण्ड का प्रावधान होना चाहिए? क्या इसे पूरी तरह से समाप्त नहीं कर दिया जाना चाहिए? और इसी तरह के कुछ अन्य प्रश्न। इन सभी सवालों का उठना लाज़िमी भी है। क्योंकि वे जो छद्म बुर्जुआ राष्ट्रवाद की बयार में बहकर अपनी नैसर्गिक न्यायप्रियता और विवेक को नहीं खो बैठे हैं और जो "राष्ट्र" के सामूहिक अन्तःकरण से खुद को जोड़कर नहीं देखते, जिसकी तुष्टि के लिए माननीय उच्चतम न्यायालय ने अफज़ल की फाँसी की सज़ा को सही ठहराया था, उन्हें ये सभी प्रश्न निश्चित तौर पर परेशान करेंगे। इस लेख में इस

मसले से जुड़े इन्हीं सब पहलुओं की एक-एक करके चर्चा करेंगे।

जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि अफज़ल गुरू को 13 दिसम्बर 2001 को संसद भवन पर हुए हमले के मामले में दोषी करार दिया गया था। इस हमले में 9 लोग मारे गये थे जिनमें हमला करने वाले पाँचों आतंकवादी भी शामिल थे। अफज़ल इस हमले के दौरान मौजूद नहीं था। उसे हमले के कुछ दिनों के भीतर ही कश्मीर से पकड़कर दिल्ली लाया गया। अभियोजन पक्ष की दलील थी कि इस हमले के पीछे का मास्टरमाइण्ड वही था। ट्रायल कोर्ट और फिर उच्चतम न्यायालय ने उसे दोषी पाया और फाँसी की सज़ा सुनायी। हालाँकि, सर्वोच्च न्यायालय ने अपने फैसले में उसे मुख्य आरोपी नहीं, बल्कि षड्यन्त्रकारी ही माना। इस फैसले के ख़िलाफ़ 2006 में अफज़ल की पत्नी ने दया याचिका भी दायर की थी। जहाँ एक ओर पूर्व राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम और प्रतिभा पाटिल ने इस याचिका पर कोई फैसला नहीं दिया वहीं प्रणब मुखर्जी ने 3 फरवरी 2013 को इस याचिका को ख़ारिज कर दिया जिसके फलस्वरूप 9 फरवरी को अफज़ल को फाँसी दे दी गयी।

सरसरी निगाह से देखें तो दिसम्बर 2001 से फरवरी 2013 तक इस मामले से जुड़ा घटनाक्रम यही रहा है। लेकिन कोई भी अगर अन्धराष्ट्रभक्ति से पैदा हुए अपने पूर्वाग्रहों को दो मिनट के लिए किनारे रखे तो शुरू से अन्त तक यह पूरा मुकदमा ही विसंगतियों से भरा प्रतीत होता है। न्यायिक त्रुटियाँ, गढ़े गये साक्ष्य, और भारतीय राज्य की हर मशीनरी का कपटी चरित्र इस मामले की प्रमुख अभिलाक्षणिकताएँ बना रहा है। यह सच है कि अफज़ल गुरू एक समय में जम्मू एण्ड कश्मीर लिबरेशन फ्रण्ट (जेकेएलएफ) से जुड़ा था, लेकिन बाद में उसने आत्मसमर्पण कर दिया था। शायद इसी व्यक्तिगत इतिहास के कारण से उसे इस पूरे षड्यन्त्र में फँसाना आसान भी था। खुद उच्चतम न्यायालय ने अपने फैसले में यह टिप्पणी की थी कि चूँकि अफज़ल एक आत्मसमर्पण किया हुआ आतंकवादी था इसलिए बार-बार उसका राजद्रोह की कार्रवाइयों में संलिप्त होना लाज़िमी था। और इसी वजह से वह समाज के लिए ख़तरा है। इस तरह की टिप्पणी किस कानूनी तर्क पर खरी उतरती है, यह समझ से परे है। जहाँ तक स्वयं अफज़ल गुरू के बयान का सवाल है, तो उसने आरोप लगाया था कि जम्मू-कश्मीर की स्पेशल टास्क फोर्स के एक अधिकारी ने ही उसे मोहम्मद से मिलवाया था, जो कि संसद पर हमले में मारा गया था। अफज़ल से कहा गया था कि वह दिल्ली में घर ढूँढने में और गाड़ी ख़रीदने में उसकी मदद करे। इस दौरान अफज़ल नहीं जानता था कि यह सब उससे क्यों कराया जा रहा है। अदालत ने इस आरोप की जाँच करना ज़रा भी ज़रूरी नहीं समझा। बल्कि दिल्ली पुलिस की विशेष सेल के सामने दिये गये उसके इक़बालिया बयान को ही पूरे मामले में उसकी भूमिका की पुष्टि करने का आधार बनाया गया। खुद उच्चतम न्यायालय ने यह माना कि अफज़ल का इक़बाले-जुर्म कार्यविधिक रक्षा उपायों का उल्लंघन है और इसे मान्य साक्ष्य के रूप में नहीं लिया जा सकता है। लेकिन इसके बावजूद दोष सिद्ध करने के लिए इसे ही आधार बनाया गया था। इसके अलावा, जाँच और मुकदमे की पूरी प्रक्रिया के दौरान अफज़ल गुरू को सही कानूनी प्रतिनिधि न मुहैया कराया जाना इस पूरे मामले की सबसे बड़ी विसंगति थी। अदालत द्वारा नियुक्त किया गया वकील नीरज बंसल अफज़ल का मुकदमा लड़ने को ही तैयार नहीं था। अभियोजन पक्ष द्वारा पेश किये गये गवाहों के आरोपों का खण्डन करने के लिए उसने प्रतिप्रश्न तक नहीं किये। कुल 80 गवाहों में से केवल 22 को ही अदालत में तलब किया गया। बुर्जुआ न्यायिक व्यवस्था की असलियत और

कानून के समक्ष समानता के दावों का असली चेहरा यह है। और इन सभी न्यायिक विसंगतियों की श्रृंखला में चार चाँद लगाता है उच्चतम न्यायालय द्वारा मृत्यु-दण्ड को अनुमोदित करने का वह कारण जो उसने सज़ा सुनाते वक्त दिया–इस घटना ने पूरे "राष्ट्र" को झकझोर कर रख दिया है और सिर्फ़ मृत्यु दण्ड ही समाज के सामूहिक अन्त:करण की तुष्टि कर सकता है। यह राष्ट्र किसका है और यहाँ किसके अन्त:करण की तुष्टि की जा रही है, इस बहस में जाये बिना भी, देश की सर्वोच्च अदालत द्वारा दिये गये इस तर्क का क्या कानूनी आधार है, यह समझ से परे है। स्पष्ट है कि अफज़ल गुरू को पहले आरोपी सिद्ध करके, "राष्ट्र" के शत्रु के रूप में प्रचारित करके और फिर फाँसी देकर बुर्जुआ राष्ट्रवाद के विमर्श को संजीवनी प्रदान करने की ही सारी मशक्कत है।

तथाकथित धर्मनिरपेक्ष हलकों में कांग्रेस-नीत संप्रग सरकार के कार्यकाल के दौरान अफज़ल को फाँसी दिये जाने पर काफ़ी ताज्जुब ज़ाहिर किया जा रहा है। इस तरह के विस्मय का क्या भौतिक आधार है, यह समझ में नहीं आता। कांग्रेस का साम्प्रदायिक सौहार्द्र के मामलों में वैसे भी ट्रैक रिकॉर्ड कोई बहुत अच्छा नहीं है। ऐसे तमाम मसलों पर वह भाजपा पर बीस ही पड़ती रही है। लेकिन फिर भी इस बार अफज़ल गुरू और उससे पहले अजमल कसाब को फाँसी देने के पीछे तात्कालिक राजनीतिक समीकरण काम कर रहे थे। 2014 के आम चुनावों के मद्देनज़र भाजपा एक बार फिर से अपने कट्टर हिन्दुत्ववादी एजेण्डे पर वापस लौट रही है। कुम्भ मेले में राजनाथ सिंह की डुबकी और सन्तों के महासम्मेलन में राम मन्दिर बनाने के संकल्प को दुहराया जाना और साथ ही मोदी को प्रधानमन्त्री के उम्मीदवार के तौर पर अनौपचारिक तौर पर पेश करने के साथ ही भाजपा ने अपने मंसूबे साफ कर दिये हैं। इसी बीच 'हिन्दू आतंकवाद' को भाजपा से जोड़ने के अपने (सही) बयान पर शिन्दे को अफ़सोस जाहिर करना पड़ा और कांग्रेस थोड़ा बैकफुट पर भी आयी। ऐसे में, भाजपा एक बार फिर से हिन्दू राष्ट्रवाद की लहर पर सवार होकर अपने पक्ष में जनता की राय बनाने के प्रयासों में लग गयी। कांग्रेस को भी यह सिद्ध करना था कि वह "उदार" के साथ "कठोर" भी हो सकती है। और प्रणब बाबू ने एक के बाद एक दया याचिकाओं को ख़ारिज करके बता दिया, कि कांग्रेस "राष्ट्र" की सुरक्षा को लेकर कोई भी समझौता नहीं करना चाहती है। एक बार फिर से कांग्रेस ने भाजपा को अप्रासंगिक बना दिया। पहले नवउदारवादी आर्थिक नीतियों को लागू करने में और फिर बुर्जुआ राष्ट्रवाद का ज़्यादा मुखर प्रतिनिधि बनकर कांग्रेस ने भाजपा के दोनों कोर मुद्दे हड़प लिए। अब जबकि इस बात के कुछ संकेत मिलने लगे हैं कि अगले चुनावों में नरेन्द्र मोदी को भाजपा अपना उम्मीदवार बना सकती है, तो कांग्रेस भी इस बात को समझ रही है कि मुसलमानों के वोट उस सूरत में उसके पक्ष में ही आयेंगे। और ऐसे में कांग्रेस फिलहाल अपने हिन्दू वोट बैंक को सुदृढ़ करना चाहती है। कसाब की फाँसी एक अलग मसला है। लेकिन अफज़ल गुरू के मुकदमे से लेकर फाँसी तक की प्रक्रिया न्याय के सिवा सबकुछ था। स्पष्ट है कि अचानक, बिना मीडिया को बताये तिहाड़ में अफज़ल को फाँसी दिये जाने का फैसला एक राजनीतिक फैसला था, जो कि कांग्रेस ने आने वाले चुनावों के लिए अपने राजनीतिक बायोडेटा को मज़बूत बनाने के लिए लिया था। ऐसे में, वे तमाम लोग जो कांग्रेस के इस रवैये से आहत नज़र आ रहे हैं, या तो कांग्रेस के अब तक इतिहास से नावाक़िफ़ हैं, या फिर निहायत ही भोले हैं।

पहले और कसाब की फाँसी और उसके बाद अफज़ल गुरू की फाँसी ने बौद्धिक

हलकों में इस बहस को भी शुरू कर दिया कि फाँसी की सज़ा होनी चाहिए या नहीं। वास्तव में, यह बहस 16 दिसम्बर को दिल्ली सामूहिक बलात्कार और हत्या के मसले के बाद से ही जारी है। कुछ लोगों का मानना है कि फाँसी की सज़ा न सिर्फ़ मानवीय गरिमा के ख़िलाफ़ है, बल्कि सभ्य समाज की अवधारणा के विपरीत खड़ी होती है। इन लोगों का मानना है कि हर मानव जीवन कीमती होता है और अपराध-सम्बन्धी न्याय प्रणाली का मकसद सुधार करना होना चाहिए, बदला लेना नहीं। लेकिन इस पूरे तर्क में यह बात अन्तर्निहित है कि हर *मानव जीवन* कीमती है। लेकिन जिस व्यक्ति ने मानव होने की शर्तें ही खो दीं हों, और वह सभ्य समाज के लिए एक पाशविक ख़तरा हो, उसके बारे में भी क्या यह बात कही जा सकती है? 16 दिसम्बर को दिल्ली में चलती बस में एक पैरामेडिकल छात्रा के साथ जिस दरिन्दगी और जघन्यता के साथ अपराध हुआ, उसे शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता है। उस अपराध को अंजाम देने वाले लोग असुधारणीय हैं और हर सभ्य मानव समाज के लिए ख़तरा हैं। ऐसे लोगों के लिए मृत्युदण्ड का प्रावधान हो सकता है। हमारा मानना है कि इस प्रश्न पर किसी निरपेक्षतावादी बुर्जुआ मानवतावादी दृष्टिकोण से विचार नहीं किया जा सकता है।

यहाँ हम एक और तथ्य की ओर ध्यानाकर्षण करना चाहेंगे। तमाम मानवाधिकार कार्यकर्ताओं, बुर्जुआ मानवतावादियों आदि के अलावा मृत्युदण्ड का निरपेक्ष तौर पर विरोध करने वालों में तमाम मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठन भी शामिल थे! यह एक चौंकाने वाली बात थी, क्योंकि मृत्युदण्ड के प्रश्न पर यह अवस्थिति कम-से-कम लेनिन की तो नहीं थी। इस पर हम आगे आयेंगे। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि किसी भी समाजवादी व्यवस्था में भी ऐसे अमानवीय कृत्यों और साथ ही सर्वहारा राज्य के शत्रुओं में 'दुर्लभ में भी दुर्लभतम' मामलों में मृत्युदण्ड का प्रावधान हो सकता है। यहाँ सवाल सुधार या प्रतिशोध का है ही नहीं। मृत्युदण्ड का इस किस्म का निरपेक्षतावादी, बुर्जुआ मानवतावादी विरोध वर्ग विश्लेषण से ऊपर उठकर किया जाने वाला विरोध है और इस प्रकार का वर्ग-निरपेक्ष अराजकतावादी विरोध किसी मुकाम पर नहीं पहुँच सकता। 1918 में क्रान्ति के बाद समाजवादी रूस में भी मृत्युदण्ड को लेकर बोल्शेविकों और समाजवादी क्रान्तिकारियों/मेंशेविकों के बीच और साथ बोल्शेविकों के भीतर भी बहसें हुई थीं। लेनिन की अवस्थिति इस मसले पर इस उद्धरण से काफ़ी हद तक स्पष्ट हो जायेगी: **"जब हम गोलियों का इस्तेमाल करते हैं (मृत्युदण्ड देने के लिए) तो वे (मेंशेविक) अचानक तोलस्तोयपन्थी बन जाते हैं और हमारी कठोरता पर घड़ियाली आँसू बहाते हैं। वे लगता है यह भूल गये हैं कि तमाम गुप्त सन्धियों को अपनी जेबों में छिपाकर किस तरह मज़दूरों के कत्लेआम में उन्होंने केरेंस्की को मदद पहुँचायी थी।"** लेनिन का मत साफ़ है। वर्ग युद्ध में इस तरह की वारदातों से नहीं बचा जा सकता, न सिर्फ़ युद्ध के मोर्चों पर बल्कि मृत्युदण्ड के मामलों में भी। लेकिन इस सैद्धान्तिक अवस्थिति का यह अर्थ कतई नहीं लगाया जाना चाहिए कि मृत्युदण्ड के प्रति कम्युनिस्टों में कोई फेटिश है। इसका सिर्फ़ इतना अर्थ है कि सघन वर्ग युद्धों के दौरान दुर्लभ में भी दुर्लभतम मामलों में मृत्युदण्ड दिया जा सकता है, और कम्युनिस्ट इसका निरपेक्ष मानवतावादी विरोध नहीं करते हैं। बोल्शेविकों के व्यवहार से भी यह बात सिद्ध होती है। गृहयुद्ध और पार्टी के भीतर के आपातकाल को छोड़कर सोवियत रूस में मृत्युदण्ड आम तौर पर दुर्लभ था। तमाम मामलों में जिनमें क्रान्तिकारी ट्रिब्यूनलों ने मृत्युदण्ड दिया भी था, उनमें दण्ड को घटाकर कुछ वर्षों की कैद में तब्दील कर दिया गया था। ऐतिहासिक तथ्यों से चलें तो सोवियत संघ इस मामले में

बुर्जुआ जनवादी देशों में सबसे उदार देशों के मुकाबले पीछे ही था। हाँ, जो हिस्ट्री चैनल, डिस्कवरी चैनल और नेशनल जियोग्राफिक के कार्यक्रमों को ऐतिहासिक स्रोत मानते हैं, उनसे बहस में हम पहले ही अपनी हार स्वीकार करते हैं! उन्हें हम सहमत नहीं कर सकते। लेकिन हालिया नये शोधों ने अब इस तथ्य को सन्देह से परे स्थापित कर दिया है।

यहाँ हम एक बार फिर यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अफज़ल गुरू को फाँसी देना कतई ग़लत था। **क्योंकि जितने साक्ष्यों के आधार पर और जिन बिना पर अदालत इस फैसले पर पहुँची कि उसे फाँसी की सज़ा दी जानी चाहिए, उतने साक्ष्यों के आधार पर तो नरेन्द्र मोदी, जगदीश टाईटलर, अमित शाह सरीखे लोगों का भी यही अंजाम होना चाहिए था, और बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था।** कहने की ज़रूरत नहीं है कि इतना भर ही इस राज्य और व्यवस्था वर्ग पक्षधरता को ज़ाहिर करने के लिए काफ़ी है। अफज़ल गुरू की फाँसी बुर्जुआ चुनावी राजनीति के सरोकारों के तहत लिया गया एक राजनीतिक फैसला है। और बुर्जुआ राज्यसत्ता का पतनशील चरित्र अब इस हद तक गिर चुका है, कि वह अपने चुनावी फायदों के लिए फाँसी की राजनीति कर रही है, ताकि फासीवादी तरीके से भारतीय मध्यवर्गीय जनमानस, या "राष्ट्रीय" जनमानस, को अपने पक्ष में तैयार किया जा सके। इसके ज़रिये एक तीर से कई निशाने लगाये जा रहे हैं। जिस समय देश भर में आम मेहनतकश जनता में महँगाई, ग़रीबी, भ्रष्टाचार आदि के ख़िलाफ़ और भारतीय शासक वर्गों के ख़िलाफ़ गुस्सा भड़क रहा है, उस समय अन्धराष्ट्रवाद, साम्प्रदायिक फासीवाद और देशभक्ति के मसलों को उठाकर असली मुद्दों को ही विस्थापित कर दिया जाय–यही भारतीय शासक वर्ग की रणनीति है। यही काम भाजपा राम मन्दिर और हिन्दुत्व का मसला भड़का कर अपने तरीके से कर रही है, और कांग्रेस फाँसी की राजनीति करते हुए अपने तरीके से कर रही है। अफज़ल गुरू की फाँसी इसी बात की एक बानगी थी।

खाद्य सुरक्षा के नाम पर जनता के लिए खाद्य असुरक्षा पैदा करने की तैयारी

● तपीश मैन्दोला

खाद्य सुरक्षा अधिनियम के सवाल पर पूरे देश में सिविल सोसायटी संगठनों, संशोधनवादी पार्टियों और तमाम स्वयंसेवी संगठनों के बीच गरमा-गरम बहस जारी है। सरकार ने खाद्य सुरक्षा अधिनियम का जो मसौदा पेश किया है, उसे लेकर सरकार के अलग-अलग हिस्से भी बहस का स्वाँग कर रहे हैं। हाल ही में खाद्य सुरक्षा के मसले पर संसदीय स्टैण्डिंग कमेटी ने अपनी अनुशंसाएँ पेश की हैं। इस कमेटी के अलावा सोनिया गाँधी के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने भी अपने सुझाव दिये थे। और अन्त में, मनमोहन सिंह ने सी.रंगराजन के नेतृत्व में जो विशेषज्ञ कमेटी बनायी थी, उसने भी अपनी सिफ़ारिशें सरकार के सामने रख दी हैं। इस प्रायोजित बहस के ज़रिये सरकार एक काम करने में सफल रही है। कांग्रेस-नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार का मक़सद यह था कि वह खाद्य सुरक्षा के मसले पर बहस के मूल मुद्दे को किनारे कर दे। मूल मुद्दा यह था कि एक सच्चे और ईमानदार खाद्य सुरक्षा अधिनियम को सार्वभौमिक खाद्य वितरण को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए या नहीं। ज़ाहिर है, कि संसदीय वामपन्थी जब भी सरकार का अंग नहीं होते हैं (बाहर से या अन्दर से) तो वे हमेशा कल्याणकारी नीतियों को छोर पर जाकर लागू करने की माँग करते हैं। मिसाल के तौर पर, इस मूल मुद्दे पर संशोधनवादियों की अवस्थिति यह थी कि सार्वभौमिक खाद्य वितरण की ज़िम्मेदारी सरकार को लेनी

चाहिए। लेकिन जिन-जिन राज्यों में संशोधनवादियों की सरकारें रही हैं, उन्होंने स्वयं ऐसा कदम कभी नहीं उठाया है, हालाँकि भारत का संघीय ढाँचा उन्हें इस बात की पूरी इजाज़त देता है कि वह अपने प्रदेश की आबादी के बड़े हिस्से को सब्सिडी पर खाद्यान्न उपलब्ध कराये। ख़ैर, यहाँ हमें संशोधनवादियों के इरादों और नीयत के बारे में चर्चा करने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि अब देश के उन्नत मज़दूर भी उनकी असलियत को समझने लगे हैं।

हमारी चर्चा का मुख्य मुद्दा है खाद्य सुरक्षा अधिनियम के सरकारी मसौदे के पेश होने के बाद आये प्रस्ताव और उन पर चल रही बहस। सरकार ने मूल मुद्दे से बहस को खिसका दिया है, जो कि सार्वभौमिक सब्सिडाइज़्ड खाद्यान्न वितरण का था। अब बहस इस बात पर होने लगी है कि आबादी के कितने हिस्से को किस दर पर सब्सिडाइज़्ड खाद्यान्न मुहैया कराया जाय। तो पहली मुश्किल सरकार ने दूर कर ली है।

संसदीय स्टैण्डिंग कमेटी ने यह प्रस्ताव रखा है कि आबादी के 67 प्रतिशत हिस्से को सरकार छूट वाली दरों पर अनाज मुहैया कराये। इसके लिए उसने आबादी को दो हिस्सों में बाँटने का प्रस्ताव दिया है – "शामिल" और "ग़ैर-शामिल"। लेकिन इसने सभी शामिल परिवारों के लिए सब्सिडाइज़्ड अनाज की सीमा को 5 किलोग्राम पर निर्धारित करने का सुझाव दिया है। यानी कि अगर एक परिवार में 5 सदस्य हैं, तो उस परिवार को रियायती दरों पर कुल 25 किलोग्राम अनाज प्राप्त होगा। इसमें चावल की रियायती दर रु. 3/किग्रा होगी, गेहूँ की रु. 2/किग्रा और जौ की रु. 1/किग्रा। इस समिति के कुछ सदस्यों ने इस पर आपत्ति दर्ज़ करायी, जैसा कि हमेशा ही संसदीय कमेटियों में होता है। इन सदस्यों ने सही आपत्ति भी उठायी; ऐसा भी अक्सर होता ही है! इनका कहना था कि अगर खाद्य सुरक्षा अधिनियम के तहत सार्वभौमिक सब्सिडाइज़्ड खाद्य वितरण का लक्ष्य नहीं रखा जाता है, तो इस कानून का कोई फ़ायदा नहीं होगा। लेकिन जैसा कि होना था, उनकी आपत्तियों को ख़ारिज कर दिया गया।

सरकार ने जो मसौदा अधिनियम पेश किया था, उसके मुताबिक आबादी के 63.5 प्रतिशत हिस्से को सब्सिडाइज़्ड खाद्यान्न आपूर्ति के तहत रखा गया था। इसमें से 75 प्रतिशत आबादी ग्रामीण थी, जबकि 60 प्रतिशत आबादी शहरी। इन श्रेणियों को बाद में "प्राथमिकता" और "सामान्य" की उपश्रेणियों में विभाजित किया जाना था। इसमें से पहली श्रेणी को प्रति व्यक्ति प्रति माह 7 किलोग्राम खाद्यान्न की आपूर्ति रियायती दरों पर की जाती, जबकि दूसरी श्रेणी को 3 किलोग्राम खाद्यान्न की। ये रियायती दरें इस तरीके से निर्धारित होतीं कि वह सार्वजनिक वितरण प्रणाली की दरों से कम से कम आधी होतीं।

सरकार के इस मसौदे पर संसद की स्टैण्डिंग कमेटी के अलावा सोनिया गाँधी के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने भी अपने सुझाव दिये। जैसा कि हमेशा होता है, सोनिया गाँधी की कमेटी सबसे ज़्यादा कल्याणकारी सुझाव देती है। सोनिया गाँधी अपने आपको सरकार की ऐसी संरक्षक के रूप में पेश करना पसन्द करती हैं, जो कि जनता के प्रति बेहद उदार है! लेकिन उनकी सलाह बिरले ही मानी जाती है; अन्त में, सरकार कारपोरेटों के हितों के अनुसार ही निर्णय लेती है। ऐसा नहीं है कि सोनिया गाँधी को इससे कोई दु:ख पहुँचता है, क्योंकि वह भी जानती हैं कि होना यही है। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् तो महज़ एक उदार मुखौटा है जो दिखावे के लिए बनाया गया है। खाद्य सुरक्षा अधिनियम के सवाल पर राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् ने जो सुझाव दिये वे इस प्रकार हैं:

आबादी के 75 प्रतिशत को खाद्य सुरक्षा अधिनियम के घेरे में लाया जाय, जिसमें 90 प्रतिशत ग्रामीण आबादी हो, जबकि 50 प्रतिशत शहरी आबादी हो (यह भी एक मज़ाकिया प्रावधान है, क्योंकि कई सर्वेक्षण यह बता रहे हैं कि शहरी ग़रीबों में कुपोषण और भुखमरी कई मायनों में ग्रामीण ग़रीबों से ज़्यादा है, लेकिन वोट के समीकरण राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् को हमेशा गाँव की ओर खड़ा कर देते हैं!); इसके बाद शामिल की गयी आबादी को "प्राथमिकता" और "सामान्य" के श्रेणियों में विभाजित किया जाना चाहिए जिसमें से 46 प्रतिशत ग्रामीण और 28 प्रतिशत शहरी परिवार "प्राथमिकता" की श्रेणी में, और 39 प्रतिशत ग्रामीण और 12 प्रतिशत शहरी परिवार "सामान्य" के श्रेणी में आयेंगे। पहली श्रेणी के परिवारों को हर माह 35 किग्रा अनाज रियायती दरों पर मिलेगा; दूसरी श्रेणी के परिवारों को 20 किग्रा अनाज रियायती दरों पर मिलेगा। ये रियायती दरें न्यूनतम समर्थन मूल्य की कम-से-कम आधी होनी चाहिए।

इसके बाद प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने सी. रंगराजन के नेतृत्व में एक विशेषज्ञ कमेटी बनायी। इस विशेषज्ञ कमेटी ने तय किया कि आबादी को "वाकई ज़रूरतमन्द" व "अन्य" के हिस्सों में विभाजित किया जाय। जो "वाकई ज़रूरतमन्द" परिवार हैं, उन्हें रु. 3/किग्रा की रियायती दर से चावल और रु. 2/किग्रा की रियायती दर से गेहूँ मुहैया कराया जाय। बाकी बची आबादी को अनाज की उपलब्धता के आधार पर एक विशेष कार्यकारी आदेश के ज़रिये (सम्भव) रियायती दरों पर अनाज दिया जाय। "वाकई ज़रूरतमन्द" परिवारों की परिभाषा क्या है? तेन्दुलकर समिति द्वारा प्रस्तावित ग़रीबी रेखा (जो अभी भी मज़ाक का विषय बनी हुई है) से ऊपर 10 प्रतिशत परिवार और उसे रेखा से नीचे के सभी परिवार। इस समिति का प्रस्ताव सबसे दिलचस्प है। अगर यह माना जाता है तो निश्चित तौर पर रही-सही खाद्य सुरक्षा (अगर कोई बची है तो!) भी जनता के लिए समाप्त हो जायेगी। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को ख़त्म कर आधार कार्ड के आधार पर नकदी खाद्य कूपन दिये जाने और व्यापारियों और जमाखोरों को लाभ पहुँचाने का पूरा इन्तज़ाम तो कर ही दिया गया है, और अब इस बात की गणना को भी सरकार पर छोड़ दिया गया है कि "वाकई ज़रूरतमन्द" परिवार कौन-से हैं!

हम देख सकते हैं कि सरकार को जनता के लिए खाद्य सुरक्षा से कुछ भी लेना-देना नहीं है। सरकार का मानना है कि अगर समूची जनता को खाद्य सुरक्षा अधिनियम के तहत लाया गया तो सरकारी बजट चरमरा जायेगा। सरकार का दूसरा तर्क यह है कि इसके लिए पर्याप्त खाद्यान्न आपूर्ति भी नहीं है। वास्तव में, यह दोनों ही तर्क बेकार हैं। पहली बात तो यह कि कृषि क्षेत्र के अपेक्षाकृत ख़राब प्रदर्शन के लिए सरकार की नीतियाँ ज़िम्मेदार हैं। सरकार ने खेती का जो अन्धाधुन्ध व्यापारीकरण किया है, उससे खेती में पूँजी निवेश का बड़ा हिस्सा नकदी फसलों की तरफ़ स्थानान्तरित हो गया है।

इसके अलावा, सरकार ने रियल एस्टेट के पूँजीपतियों को खुश करने के लिए और देश के उच्च मध्यवर्ग की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए खेती योग्य ज़मीनों को औने-पौने दामों पर विशेष आर्थिक क्षेत्र, अवसंरचनात्मक परियोजनाओं और पूँजीपतियों के कारखानों के लिए अधिग्रहीत करने की जो नीतियाँ लागू कर रखी हैं, उनका भी खेती पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। और अन्त में खाद्यान्न में 'फ्यूचर्स ट्रेड' जैसी घातक नीतियों को अपना कर सरकार ने खाद्यान्न सुरक्षा को हर प्रकार से ख़त्म करने का रास्ता अपनाया है,

वह भी सिर्फ़ इसलिए कि कृषि और सम्बन्धित क्षेत्र की कारपोरेट कम्पनियों को मुनाफ़ा पहुँचाया जा सके। लेकिन इन सबके बावजूद देश का खाद्यान्न उत्पादन लगभग हर वर्ष ही रिकार्ड तोड़ता है। और उसके बाद भी सरकार आपूर्ति की समस्या का रोना रोती है, तो इसे ढोंग न समझा जाय तो और क्या समझा जाय? अगर सरकार सूखे की समस्या से निपटने के लिए सिंचाई की उपयुक्त व्यवस्था करे और ऐसी परियोजनाओं में निवेश करे तो खाद्यान्न उत्पादन को और भी बढ़ाया जा सकता है। लेकिन ऐसा सरकार क्यों करने लगी? नतीजतन, कृषि क्षेत्र का प्रदर्शन अन्य क्षेत्रों के मुकाबले अपेक्षाकृत कमज़ोर रहता है। लेकिन निरपेक्ष रूप में देखा जाय तो देश का खाद्यान्न उत्पादन इस समय भी देश की आबादी का पेट भरने के लिए कम नहीं है। वर्तमान समय में तो अगर खाद्यान्न के भण्डारण और संरक्षण के काम को भी ठीक तरीके से अंजाम दिया जाय, और खाद्यान्न के उत्पादन को निरपेक्ष रूप से न भी बढ़ाया जाय तो देश की आबादी की ज़रूरतों को काफ़ी हद तक पूरा किया जा सकता है।

दूसरा तर्क जो सरकार देती है, वह भी एक सफेद झूठ है। सरकार बजट पर पड़ने वाले बोझ की बात करती है, जो कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली के चलते पड़ता है और सार्वभौमिक खाद्य सुरक्षा की वजह से और भी बढ़ जायेगा। हम आपको सिर्फ़ इतना बताते हैं कि सरकार सकल घरेलू उत्पाद के कितने हिस्से को केन्द्रीय खाद्यान्न सब्सिडी के रूप में खर्च करती है, और तस्वीर साफ़ हो जायेगी। सन 2000-01 में यह प्रतिशत 0.63 था, 2001-02 में 0.84 प्रतिशत, 2002-03 में 1.07 प्रतिशत, 2004-05 में 1.00 प्रतिशत, 2004-05 में 0.78 प्रतिशत, 2005-06 में 0.68 प्रतिशत, 2006-07 में 0.61 प्रतिशत, 2007-08 में 0.68 प्रतिशत, 2008-09 में 0.83 प्रतिशत, 2009-10 में 0.95 प्रतिशत, 2010-11 में 0.85 प्रतिशत और 2011-12 में 0.73 प्रतिशत। विश्व खाद्य कार्यक्रम के अनुसार भारत में विश्व की कुल भुखमरी से पीड़ित आबादी का एक-चौथाई हिस्सा रहता है, जबकि 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चों की 43 प्रतिशत आबादी कुपोषित है।

ऐसे में, सकल घरेलू उत्पाद का कम-से-कम डेढ़ प्रतिशत हिस्सा केन्द्रीय खाद्य सब्सिडी के तौर पर नहीं दिया जायेगा तो यह स्थिति और बिगड़ेगी, बेहतर किसी सूरत में नहीं होगी। लेकिन सरकार इसके बावजूद कुछ निरपेक्ष आँकड़ों को पेश करती है। मिसाल के तौर पर, सी. रंगराजन विशेषज्ञ कमेटी ने कहा कि 2004-05 में खाद्यान्न सब्सिडी रु. 23,280 करोड़ थी, जो कि 2001-12 में बढ़कर रु. 60,573 करोड़ हो गयी। बस रंगराजन महोदय यह बताना भूल गये कि अगर मुद्रास्फीति से इस रकम को समायोजित किया जाय तो यह मात्र रु. 30,239 करोड़ बैठती है। और अगर हम इसे बढ़ती माँग के साथ समायोजित करें तो हम पायेंगे कि खाद्यान्न सब्सिडी में बढ़ोत्तरी शून्य है! अब अगर में बजट घाटे के मूल कारण की बात करें तो इससे साफ़ हो जाता है कि सरकार को बजट घाटा जनता के भोजन, शिक्षा, चिकित्सा और आवास पर होने वाले खर्चों के कारण नहीं होता है, क्योंकि इन सब पर कुल मिलाकर सरकारी बजट को एक छोटा हिस्सा ही ख़र्च किया जाता है। लेकिन सांसदों, विधायकों, विभिन्न पार्टी के नेताओं, पुलिस, सेना और नौकरशाही पर जो विराट खर्च होता है, वह बजट घाटे के तमाम कारणों में से एक है। यह खर्च महज़ इसलिए किया जाता है कि इस देश की आबादी को दबा और कुचलकर रखा जा सके और शासक वर्गों के हितों को सुरक्षित किया जा सके।

बजट घाटे का दूसरा कारण भी महत्वपूर्ण है। यह है लगातार धनी वर्गों पर से कर का बोझ हटाना और उसे अधिक से अधिक ग़रीब वर्गों पर डालना। मिसाल के लिए पिछले बजट में ही सरकार ने प्रत्यक्ष करों के तहत आने वाली आबादी को और भी सीमित कर दिया, जो कि कुल आबादी का बेहद छोटा सा हिस्सा है, जबकि अप्रत्यक्ष करों को हर स्लैब पर बढ़ा दिया जिसे कि इस देश के बहुसंख्यक ग़रीब आबादी देती है। इसके नतीजे के तौर पर महँगाई और भयंकर तरीके से बढ़ी है। स्पष्ट है कि सरकार अपनी 'ट्रिकल डाउन थियरी' पर काम करते हुए करों का सारा बोझ ग़रीब और निम्न मध्यवर्गीय आबादी पर डाल रही है, और धनपशुओं को इसके बोझ से मुक्त कर रही है, ताकि कारों, टीवी, मोटरसाईकिल, आवास, आदि की ख़रीद को बढ़ावा दिया जा सके और बड़े-बड़े पूँजीपतियों को लाभ पहुँचाया जा सके। इसके साथ ही सरकार कारपोरेट घरानों को जो छूट दे रही है उसके चलते उसे ज़बर्दस्त घाटा हो रहा है। 2005-06 में कारपोरेट घरानों को दी गयी कर छूटों व अन्य छूटों के कारण हुआ नुकसान सकल घरेलू उत्पाद का 1.02 प्रतिशत था, 2006-07 में यह 1.14 प्रतिशत था, 2007-08 में यह 1.36 प्रतिशत था, 2008-09 में यह 1.27 प्रतिशत था, 2009-10 में 1.19 प्रतिशत, 2010-11 में 0.81 प्रतिशत, और 2011-12 में 0.62 प्रतिशत था।

अगर यह घाटा ख़त्म करके बचने वाली राशि को खाद्यान्न सुरक्षा पर ख़र्च किया जाय तो देश के हरेक नागरिक को रियायती दरों पर खाद्यान्न मुहैया कराया जा सकता है, भूख की समस्या से देश की आबादी को काफ़ी हद तक राहत पहुँचायी जा सकती है। लेकिन सरकार ऐसा नहीं करेगी। क्योंकि वास्तव में अगर देश में भूख की समस्या को समाप्त कर दिया गया, तो इससे पूँजीपतियों को कई तरीके से नुकसान पहुँचेगा। पहला तो यह कि कृषि व सम्बन्धित क्षेत्र के बड़े पूँजीपति तबाह हो जायेंगे, या कम-से-कम उनका मुनाफ़ा कम हो जायेगा। दूसरी बात यह कि अगर देश की बड़ी आबादी को भूख की समस्या से निजात दिला दी गयी तो कुल मिलाकर देश की ग़रीब मेहनतकश आबादी की मजबूरी कम होगी, पूँजीपतियों से उनकी मोलभाव करने की क्षमता में बढ़ोत्तरी होगी। इससे भी पूँजीपति वर्ग की लागत में बढ़ोत्तरी होगी और उनके मुनाफ़े में गिरावट आयेगी। फिर आख़िर पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली यह सरकार खाद्यान्न सुरक्षा अधिनियम को लेकर इतनी "मगजपच्ची" और हल्ला कर ही क्यों रही है? क्योंकि, चाहे कैसा भी कानून बने, उससे जनता को कोई ख़ास फायदा नहीं पहुँचने वाला है। ऐसा इसलिए भी है कि कानून बनना तो सिर्फ औपचारिक कदम है, असली सवाल तो यह है कि वह लागू किस प्रकार से होगा। हम ग्रामीण रोज़गार गारण्टी योजना का हश्र देख चुके हैं। वही नौकरशाही जो तमाम योजनाओं को लागू करती है, इस योजना को भी लागू करेगी। इसलिए जो भी कानून बने, अन्ततः होगा वही, 'ढाक के तीन पात'! फिर यह हंगामा क्यों मचा हुआ है?

कारण साफ़ है–2014 में आने वाले लोकसभा चुनाव! कांग्रेस 2013 के अन्त तक खाद्यान्न सुरक्षा अधिनियम को लेकर बहस ही करती रहेगी। और चुनावों से ठीक पहले अधिकतम सम्भव लोकरंजक अधिनियम पास करके कानून बनायेगी, और उसका उससे भी ज़्यादा लोकरंजक प्रचार करेगी। जैसा कि उसने मनरेगा योजना के मामले में किया था। योजना से देश की जनता को कुछ खास नहीं मिला। लेकिन कांग्रेस-नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन को वोट ज़रूर मिल गये। इस योजना को लेकर भी कांग्रेस का यही मकसद है।

सही वक्त पर और सही तरीके से यह कानून पास होगा और कांग्रेस वोट की फसल काटेगी! खाद्यान्न सुरक्षा को लेकर सारी नकली बहस और पाखण्ड सिर्फ इसीलिए है। और जो कानून बनेगा वह अगर लागू भी हो जाये, तो ज़्यादा सम्भावना यही होगी कि उससे जनता को कुछ भी हासिल नहीं होगा। जो हासिल होगा, वह व्यापारियों और पूँजीपतियों को ही हासिल होगा। इसलिए यह वास्तव में खाद्यान्न सुरक्षा के नाम पर रही-सही खाद्यान्न सुरक्षा को भी ख़त्म करने की साज़िश है।

'दिशा सन्धान' के अगले अंक (जुलाई-सितम्बर, 2013) की प्रमुख सामग्री :

विशेष लेख

- सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ (दूसरी किस्त)
- नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशक : एक सिंहावलोकन (दूसरी किस्त) (1970 का दशक)
- फ्रैंकफर्ट स्कूल: एक मार्क्सवादी आलोचना

समकालीन

- सर्वइस्लामवाद की प्रगतिशीलता का मिथक
- तीव्र होती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा और गहराते अन्तरविरोध
- राजनीतिक-विचारधारात्मक अश्लीलता के चरम पर पूँजीवाद
- मुनाफ़े की हवस में बंगलादेश में सैकड़ों मज़दूरों की हत्या

पुस्तक समीक्षा

- एलेन बेज्यू की रचना 'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' की समीक्षा

अरविन्द स्मृति न्यास का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन

इक्कीसवीं सदी में भारत का मज़दूर आन्दोलन

● भूमण्डलीकरण के दौर में मज़दूर वर्ग के आन्दोलन और प्रतिरोध के नये रूप और रणनीतियाँ

● भारत का मज़दूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट आन्दोलनः अतीत के सबक़, वर्तमान समय की सम्भावनाएँ और चुनौतियाँ

● विश्व पूँजीवाद की संरचना एवं कार्यप्रणाली में बदलाव तथा भारत का मज़दूर आन्दोलनः क्रान्तिकारी पुनरुत्थान की चुनौतियाँ

● मज़दूर आन्दोलन की नयी दिशाः सम्भावनाएँ, समस्याएँ और चुनौतियाँ

Working Class Movement in India in the Twenty-first Century

● New Forms and Strategies of the Working Class Movement and Resistance in the Era of Globalization

● The Working Class Movement and Communist Movement of India: Lessors from the Past; Possibilities and Challenges of the Present

● Changes in the Structure and modus-operandi of World Capitalism and the Working Class Movement of India: Challenges of a Revolutionary Resurgence

● New Orientation of the Working Class Movement: Prospects] Problems and Challenges

द्वितीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठी में पेश आलेखों का संकलन
(हिन्दी व अंग्रेज़ी में उपलब्ध)

मूल्यः 40 रुपये

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें:
जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
फोनः (0522) 2786782

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

जनचेतना

एक वैचारिक मुहिम, एक सांस्कृतिक अभियान

दो दशक पहले प्रगतिशील, जनपक्षधर साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने की मुहिम की एक छोटी-सी शुरुआत हुई, बड़े मंसूबे के साथ। एक छोटी-सी दुकान और फ़ुटपाथों पर, मुहल्लों में और दफ़्तरों के सामने छोटी-छोटी प्रदर्शनियाँ लगाने वाले तथा साइकिलों पर, ठेलों पर, झोलों में भरकर घर-घर किताबें पहुँचाने वाले समर्पित अवैतनिक वालण्टियरों की टीम – शुरुआत बस यहीं से हुई। आज यह वैचारिक अभियान उत्तर भारत के दर्जनों शहरों और गाँवों तक फैल चुका है। जनचेतना हिन्दी और पंजाबी क्षेत्र के सुदूर कोनों तक हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेज़ी साहित्य एवं कला-सामग्री के साथ सपने और विचार लेकर जा रही है, जीवन-संघर्ष-सृजन-प्रगति का नारा लेकर जा रही है।

हिन्दी क्षेत्र में यह अपने ढंग का एक अनूठा प्रयास है। एक भी वैतनिक स्टाफ़ के बिना, समर्पित वालण्टियरों और विभिन्न सहयोगी जनसंगठनों के कार्यकर्ताओं के बूते पर यह प्रोजेक्ट आगे बढ़ रहा है।

आइये, आप सभी इस मुहिम में हमारे सहयात्री बनिये।

***मुख्य केन्द्र :* डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
फ़ोन : 0522-2786782

अन्य केन्द्र

- जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001, फ़ोन : 0551-2241922
- दिल्ली : 9971158783
- लुधियाना (पंजाब) फ़ोन : 09815587807
- नियमित स्टॉल : कॉफ़ी हाउस के पास, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)

राहुल फाउण्डेशन, परिकल्पना प्रकाशन, अनुराग ट्रस्ट, शहीद भगतसिंह यादगारी प्रकाशन, दस्तक प्रकाशन और अरविन्द स्मृति न्यास की पुस्तकों के मुख्य वितरक। विस्तृत पुस्तक-सूची के लिए सम्पर्क करें या ब्लॉग पर देखें।

ईमेल : janchetna@rediffmail.com

वेब : janchetnaa.blogspot.com (हिन्दी)
janchetnaaa.blogspot.com (English)

हिन्दी जगत के पाठकों के लिए एक बेहद ज़रूरी नयी पत्रिका

नान्दीपाठ

मीडिया, संस्कृति और समाज पर केन्द्रित

पिछले 25 वर्षों के दौरान, हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में जो बदलाव आये हैं, और इनमें जनसंचार माध्यमों, ख़ासकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और 'नये मीडिया' का जो योगदान है, उस पर काफ़ी चर्चा होती रही है। सहमति और "असहमति" मैन्युफ़ैक्चर करने और विचार-निर्मिति के लिए शासक वर्गों के हाथों में यह एक बेहद प्रभावी हथियार है और इसकी प्रभाविता तथा पहुँच आज पहले से कई गुना बढ़ चुकी है। समाज के बौद्धिक तत्वों और उन्नत मस्तिष्कों को प्रभावित और अनुकूलित करने में इण्टरनेट-आधारित माध्यम बेहद कारगर साबित हो रहे हैं।...

मीडिया की वैचारिकी पर आज काफ़ी काम हो रहा है, मार्क्सवादी दृष्टि से भी और 'उत्तर' सरणियों से पैदा हुई दृष्टि से भी। उन सभी की विवेचनाओं में जाना भी ज़रूरी है।

इस परिदृश्य में एक वैकल्पिक मीडिया खड़ा करने की ज़रूरत और चुनौतियाँ पहले से कहीं ज़्यादा हैं। लेकिन यह भी सच है कि सामाजिक परिवर्तन की परियोजनाओं के एक अंग के तौर पर वैकल्पिक मीडिया का ताना-बाना खड़ा करने की व्यापक सम्भावनाएँ भी आज मौजूद हैं। इस दृष्टि से नये मीडिया की नयी सम्भावनाओं के अन्वेषण और उपयोग के साथ ही इसकी सीमाओं-समस्याओं को भी विचार के दायरे में लाना होगा।...

हिन्दी में सुनिश्चित लक्ष्य पर केन्द्रित ऐसी एक विशिष्ट पत्रिका की शिद्दत के साथ ज़रूरत महसूस होती रही है। इस ज़रूरत को पूरा करने की यह एक विनम्र कोशिश है।

पत्रिका के पहले अंक की सामग्री इस प्रकार है:

- आधुनिक "जन" मीडिया का उद्भव और विकास, पूँजीपति वर्ग का वर्चस्व और एक क्रान्तिकारी वैकल्पिक मीडिया की ज़रूरत
- खाली समय – थियोडोर अडोर्नो
- यांत्रिक पुनरुत्पादन के युग में कलात्मक रचना – वॉल्टर बेंजामिन
- मार्टिन स्कॉर्सेज़ी की फिल्म 'शटर आईलैण्ड' की समीक्षा: साम्राज्यवाद, दमन, शोषण, उत्पीड़न, यातना शिविर...? जी नहीं जनाब! ये सब आपकी आँखों का धोखा है!
- एकलसंस्कृतिकरण की प्रक्रिया के दौरान रोज़मर्रा के जीवन में बच्चों की भागीदारी और प्राथमिकताओं के चयन में मीडिया की भूमिका

सम्पादक: **कात्यायनी, सत्यम** मूल्य: 40 रुपये
वार्षिक सदस्यता : 160 रुपये (डाक व्यय अतिरिक्त), त्रैमासिक
सम्पादकीय पता: 69ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
ईमेल: naandipath@gmail.com, फोन: 9936650658/8853093555

"मार्क्सवाद को गणित की तरह एक अनमनीय रूपवाद में अपचयित नहीं किया जा सकता और न ही इसे स्वचालित लेथ मशीन पर काम करने जैसी मानक तकनीक के तौर पर लिया जा सकता है। मानव समाज में प्रस्तुत होने वाली सामग्री में अन्तहीन विविधताएँ होती हैं; प्रेक्षक स्वयं प्रेक्षित की जा रही आबादी का एक भाग होता है, जिसके साथ वह पुरज़ोर ढंग से और परस्पर अन्तर्क्रिया करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सिद्धान्त को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए विश्लेषणात्मक शक्ति, और किसी स्थिति में मूलभूत विशिष्टताओं को पहचानने की क्षमता का विकास करना आवश्यक होता है। इसे सिर्फ़ पुस्तकों से नहीं सीखा जा सकता। इसे सीखने का एकमात्र तरीका जनता के व्यापक तबकों के साथ निरन्तर सम्पर्क ही है।"

– डी.डी. कोसाम्बी